संदर्श

संपादक :
सुधीर विद्यार्थी



निरंकार देव सेवक पर केन्द्रित अंक

(व्यक्ति और चिंतक)

	पृ.
अपनी बात	4
सॉनेट : डॉ० प्रभाकर माचवे	7
स्मृति	
एक समर्पित कवि : इरा सक्सेना	8
हुई मुद्दत कि गालिब मर गया पर याद आता है : प्रो० कृपानन्दन	13
वैचारिक क्रंति और बुद्धिवाद के प्रतीक : धर्मपाल गुप्त "शलभ"	23
कोरे कागज पर हस्ताक्षर करता हूँ : जयप्रकाश भारती	35
हिन्दी के अल वलियप्पा : चन्द्रमोहन दिनेश	37
वे मुझे प्रेरित करते रहे : शिव कुमार गोयल	41
एक याद : नारायण दत्त	[illegible]
सेवक जी के कुछ पत्र : सुधीर विद्यार्थी	43
मूल्यांकन	
कुलीन समीक्षा के बहिष्कृत एक जरूरी कवि : माहेश्वर तिवारी	56
जिनके बिना हिन्दी बाल-साहित्य अधूरा रहेगा : कमलेश भट्ट "कमल"	65
उन्होंने बाल-साहित्य को बच्चों के जीवन से जोड़ा : डॉ. नृपेन्द्र पाण्डे	73
निरंकार देव सेवक की हिन्दी ग़ज़ल यात्रा : डॉ. रोहिताश्व अस्थाना	81
चिनगारी-हिंदी का प्रथम प्रगतिशील काव्य : कंवल भारती	85
सेवक जी की कलम से	
मेरा सफरनामा	95
बच्चन : बरेली में	115
भुवनेश्वर : हवा के उस झोंके की तरह वह गुजर गया	121
परमेश्वरीलाल गुप्त : सिक्कों का सरताज	128
अनूप नारायण श्रीवास्तव : एक दोस्त की याद	132
दक्षिण भारत की यात्रा	135
मेरी गोहाटी यात्रा	145
स्वतन्त्रता संग्राम में एम.एन.राय	159
गांधी और राय	167
मेरे राजनीतिक स्वप्न	172
कहां है धर्मनिरपेक्ष	176
प्राचीन भारतीय संस्कृति की प्रासंगिकता	183
बच्चों के लिए फिल्में	188
पौराणिक कथाएँ	191
कविताएँ	199
पत्र	



संदर्श

साहित्य-विचार की पत्रिका

अंक : 11, वर्ष 2002

सलाहकार संपादक :
चन्द्रमोहन दिनेश
श्याम किशोर

संपादक :
सुधीर विद्यार्थी

संपादन सहयोग :
असद बरकाती

रेखांकन :
अनु विद्यार्थी (बिट्टू)

सम्पर्क :
"चन्दनगंध"
बड़े पावर हाउस के पास,
बीसलपुर-262 201
पीलीभीत, उत्तर प्रदेश
फोन : 05881/21637

यह अंक : 25 रुपये
चार अंक : 100 रुपये



- ☐ संपादन/संचालन पूर्णतः अव्यवसायिक और अवैतनिक।
- ☐ इस अंक में प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं। उनसे सम्पदक-गण की सहमति या असहमति आवश्यक नहीं है।

अपनी बात :

प्रगतिशील कविता की चिनगारी से उपजा विशिष्ट बाल-साहित्य

निरंकार देव सेवक को बाल साहित्यकार के रूप में जाना जाता है। लेकिन यह कम लोगों को पता है कि वे अपने शुरूआती दौर में प्रगतिशील चेतना के "विद्रोही कवि" थे। सन् 1943 ई० में साहित्य भवन, प्रयाग से उनका तीसरा कविता संग्रह "चिन्गारी" छपा था जो बहुचर्चित हुआ। राहुल सांकृत्यायन ने तब कहा था, "मैं कविताएं नहीं पढ़ता, पर "चिन्गारी" की कविताएं मुझे बहुत पसन्द आईं।" कवि हरिवंशराय बच्चन की टिप्पणी थी, "हिन्दी की प्रगतिशील कविता का सच्चा इतिहास जब भी लिखा जायेगा, उसमें "चिन्गारी" का शीर्ष स्थान होगा।"

"चिन्गारी" की कविताएं सेवक जी ने "हिन्दी के पढ़े-लिखे जाहिलों को" समर्पित की थीं। इस संग्रह की भूमिका लिखी थी पुरुषोत्तम दास टण्डन ने। यद्यपि इससे पूर्व सेवक जी के दो कविता संकलन "कलरव" और "स्वास्तिका" नाम से छप चुके थे। पर "चिन्गारी" का यह कवि धीरे-धीरे बाल साहित्य की रचना की ओर मुड़ गया।

सेवक जी प्रख्यात मानवतावादी चिन्तक एम.एन. राय से गहरे तक प्रभावित थे। राय से उनका निकट का परिचय था। राय के विचारों की मशाल बाद को वी.एम. तारकुण्डे जी ने जलाए रखी। इस दिशा में देहरादून का "राय रेडिकल ह्यूमनिस्ट हाउस" कुछ काम कर रहा है। कभी उस 13, मोहिनी रोड की भारतीय राजनीति में विशिष्ट पहचान थी। हिंदी में तो अज्ञेय, डॉ० प्रभाकर माचवे और सेवक जी ही राय से जुड़े। राय अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के कम्युनिस्ट थे जो बाद को उस रास्ते से हट कर रेडिकल ह्यूमनिस्ट बने। राय और गांधी दोनों को वर्ग संघर्ष के आधार पर किसी नए समाज के संगठन की कल्पना निरर्थक मालूम होती है। गांधी ने मार्क्सवाद को भौतिकतावादी जीवन दर्शन

बताकर सदा उसकी उपेक्षा की। पर राय उसके अन्तर्विरोधों को उजागर करके उसके वर्ग संघर्ष के अतिरिक्त इतिहास के भौतिकतावादी अध्ययन, सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद आदि कई सिद्धान्तों से सहमत नहीं थे। इस दृष्टि से गांधी और राय दोनों ही मार्क्सवाद या साम्यवाद विरोधी कहे जा सकते हैं। लेकिन राय वैज्ञानिक दृष्टिकोण और भौतिकतावाद के समर्थक होने के नाते गांधी के बजाय मार्क्स के अधिक निकट थे।

राय कम्युनिज्म के रास्ते से हट गए थे इसलिए उनके जन्मशती वर्ष (1987) में प्रगतिशील खेमे में उन्हें याद करने वाला कोई नहीं था। भारत सरकार ने उन पर एक डाक टिकट जारी किया था। तारकुण्डे जी दिल्ली में एम.एन. राय भवन बनाना चाहते थे। प्रभाकर माचवे ने तब "दिनमान" में एक ध्यान खीचने वाला लेख लिखा था जिसमें उन्होंने राय को भारतीय राजनीति का 'कैसेंड्रा' (एक यूनानी देवी जो, जो कुछ कहती थी, सब सच निकलता था पर कोई उस पर विश्वास नहीं करता था, जब वह कहती थी) कहा। मैंने भी "ब्लिट्ज" में कुछ छपाया और तारकुण्डे जी व सेवक जी को शाहजहांपुर बुलाकर उनके व्याख्यान रखे। राय का लिखा अंग्रेजी में ही है। हिन्दी में उसे लाने के गम्भीर प्रयास नहीं हुए। स्वयं सेवक जी इस दिशा में कुछ नहीं कर पाये, ऐसा वे मानते थे। मुझे प्रसन्नता है कि बिसवाँ (सीतापुर-उ०प्र०) के श्री आर० के० भट्ट एडवोकेट ने पिछले दिनों राय के कुछ निबन्धों को हिन्दी में अनुवादित किया जिन्हें वाग्देवी प्रकाशन बीकानेर ने पुस्तक रूप में प्रकाशित किया है।

असहमति को सम्मान देने का माद्दा हमारे भीतर नहीं है। हम तर्क से सिर्फ अपने को जस्टीफाई करते हैं और विरोधी को देखना-सुनना भी पसन्द नहीं करते। मुझे लगता है कि राय इन कारणों से भी हिन्दी जनता के बीच नहीं लाए जा सके। सेवक जी भी रायवादी होने के कारण हिन्दी में उपेक्षित बने रहे। उन पर बाल साहित्यकार का लेबल लगा रहा। यह सही है कि सेवक जी की शुरूआती प्रगतिशील कविता बहुत हद तक उनसे छूट गई और वे धारा से अलग जा पड़े पर अपने नजरिये से उन्होंने बच्चों के लिए साहित्य की विपुल रचना की जो हिन्दी के लिए बहुत बड़ा और जरूरी काम था। मुझे याद है जिन दिनों सेवक जी ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण से पौराणिक कथाएं बच्चों के लिए लिखीं तो उनकी बहुत आलोचना हुई। यह साहित्य में एक क्रांतिकारी कदम था। शुरूआत थी। उन कथाओं में उन्होंने धर्म और चमत्कार को कोई स्थान नहीं दिया था। उन पर आरोप लगे कि वे इतिहास बदल रहे हैं, पर सेवक जी ने कहा कि धर्म और चमत्कार की ऐसी बातें बच्चों के वैज्ञानिक विकास में बहुत



बड़ी बाधा हैं। सेवक जी को हिंदी का विशिष्ट बाल साहित्यकार मैं उनके इसी दृष्टिकोण के कारण मानता हूँ।

सेवक जी का समग्र मूल्यांकन उनके प्रारम्भ से बाद तक के काव्य व्यक्तित्व को सामने रखकर ही किया जा सकता है। उसे इसलिए भी नहीं छोड़ दिया जाना चाहिए कि उनकी वैचारिक आस्था के केन्द्र बिन्दु एम० एन० राय थे।

"संदर्श" के प्रकाशन के शुरूआती दिनों में ही हिंदी के प्रतिभासम्पन्न और विवादास्पद नाटककार भुवनेश्वर और कथाकार हृदयेश पर केन्द्रित विशेषांकों के पश्चात हमारी योजना सेवक जी पर अंक प्रकाशित करने की थी। अपने क्षेत्र की साहित्यिक सांस्कृतिक विरासत को सामने लाने के लिए यह हमारे लिए जरूरी था। तब सेवक जी जीवित थे। पर रचनात्मक सहयोग न मिलने के चलते यह कार्य वर्षों पड़ा रहा। बहुत देर से ही सही, विशिष्ट बाल साहित्यकार, कवि और चिन्तक निरंकार देव सेवक को अब और इस तरह याद करते हुए हम गर्व महसूस करते हैं। आखिर क्या कारण है कि अपवादों को छोड़कर हिन्दी समाज का कोई बड़ा लेखक-चित्रकार बच्चों के लिए सृजन नहीं करता। सेवक जी के कृतित्व को सामने लाना हमें इसलिए और ज्यादा जरुरी लगता है। उनके मूल्यांकन की दिशा में यह हमारा यह विनम्र प्रयास है।

-सुधीर विद्यार्थी

"चन्दनगंध"
बीसलपुर-262201 उत्तर प्रदेश

□□

एक सानेट :

निरंकार देव सेवक के प्रति

मिलनसार, सहृदय, कवि, लेखक
बड़े-बड़े भी पढ़ें बाल-साहित्य
उन रचनाओं में है नवता नित्य
सत्य और शिवतत्व बहुत ही रोचक

लिखते रहे युगों से कथा, निबन्ध व नाटक
करते रहे बहुत मौन सेवा समाज की
नहीं कभी स्तुति या निंदा की परवाह की
नाम वही सेवा व्रत का करते थे सार्थक
मानववादी, पड़े नहीं इस या उस गुट में

सु-"मन" साधना के अंजलि के ले संपुट में
स्मृतियाँ सुख का संबल लंबे सायों के झुटपुट में-

जो सम्मान कर रहे उनका ही सम्मान यहाँ पर
वे तो "निरंकार" ही रहे, रहेंगे-
"देव" जहाँ पर!

-प्रभाकर माचवे

(प्रख्यात साहित्यकार डॉ० प्रभावकर माचवे ने इन्दौर से 21.6.89 को यह सॉनेट हमें लिखकर भेजा था। तब वे "चौथा संसार" दैनिक के सम्पादक थे।)

एक समर्पित बाल कवि

इरा सक्सेना

सेवक जी जीवित थे तब यह लेख इरा सक्सेना ने अंग्रेजी में लिखा था। इसका अनुवाद हृदयेश ने किया है।

आप हैं एक कवि। आप हैं बच्चों के एक कवि। आप हैं एक वकील। आप हैं बाल साहित्य के शोध-छात्रों के निर्देशक। ऐसे छरहरी काया और पके बालों वाले निरंकार देव सेवक अपने में ऊष्मा सहृदयता, उदारता और मानवता की तस्वीर है। मोटे चश्मे के पीछे से झांकने वाली आँखें कोमल हैं और बोलने वाले स्वर नम्र और मृदुल। ऐसी पारदर्शी कोमलता निश्चय ही उनके अन्दर के कवि की कारिका है, यों वह सृजन के आवेग पर आवरण भी डालती है। किन्तु सेवक जी दिवा-स्वप्न में डूबे रहने वाले कवि नहीं हैं, उनमें सजगता और व्यवहारिकता है, नहीं तो वह कानूनी सलाह-मशविरा देने योग्य क्यों होते।

हिन्दी के लेखक और कवि जबकि बच्चों के मनोरंजन के वास्ते अपनी कलम का इस्तेमाल करने का विचार बना ही रहे थे, सेवक जी ने उससे काफी पहले, मुझे केवल बच्चों के लिए लिखना है, ऐसा निर्णय ले लिया था। इस निर्णय लेने के बाद उन्होंने अपने को पूर्णतया बच्चों के मनोरंजन के लिए पद्य लिखने में लगा लिया, जो उनके अपने लिए भी एक रुचि कर्म और मन बहलाव का शुगल बन गया। वकालत तो घर में चूल्हा जलता रहने की एक व्यवस्था थी। जब वह मात्र एक विद्यार्थी थे, उन्होंने तभी से लिखना प्रारंभ कर दिया था और आज साठ वर्ष से ऊपर होकर भी वह बिना थके हुए सृजनरत हैं।

इस आयु में भी सेवक जी अपनी मां की याद असक्ति और गहरे आदर की भावना के साथ करते हैं-उस मां की याद जिसने स्वयं यद्यपि कोई सुव्यवस्थित शिक्षा नहीं पाई थी, किन्तु जो अपने पति के सामने अड़ी रहती थीं कि बेटा निरंकार की शिक्षा निर्बाध चलती रहे। संयुक्त परिवार की अपेक्षाओं और गिरते स्वास्थ्य को ध्यान में रखकर शिक्षक-पिता चाहते थे कि दसवीं कक्षा की शिक्षा समाप्ति के बाद पुत्र शिक्षक का ही पेशा अपना ले, किन्तु मां उसको

एक वकील के रूप में स्थापित देखना चाहती थी। डब्ल्यू० एम० हाईस्कूल से कानून उपाधि लेने के लिए बरेली कॉलेज तक की यात्रा के तमाम वर्षों में उनका लेखन तीव्रता से विकसित होता गया। उनको पुरस्कार मिलने लगे और वह कवि-सम्मेलनों में शिरकत करने लगे। सेवक जी बताते हैं- "मेरी अपनी इच्छा वकील बनने की नहीं थी, इसीलिए मैं बनारस बी०टी० करने चला गया था।" शिक्षा संबंधी इस प्रशिक्षण के दौरान उन्होंने बाल-मनोविज्ञान का अध्ययन किया, जिससे उन्हें बच्चों के अनेक प्रकार के नैतिक व्यवहारों को जानने का अवसर मिला और इससे बच्चों के लिए लिखने की इच्छा को और प्रबल बना दिया। और फिर जैसी कि नियति थी, वह वकील ही बन गये। "इसका सारा श्रेय मेरी मां को ही जाता है" ऐसा बताते हुए वह श्रद्धा से विनत हो गये थे।

बी०ए० के अन्तिम वर्ष में उन्होंने एक प्रतियोगिता में भाग लिया, जिसमें उनकी कविता पुरस्कृत हुई। यह कविता बाद में "विशाल भारत" में प्रकाशित हुई। पुरस्कार पाने के सिलसिले की यह एक शुरूआत थी जिसमें उल्लेखनीय है रींवा राज्य द्वारा उनकी पुस्तक "रिमझिम" (1952) पर दिया गया पुरस्कार। पुरस्कृत होने पर यह पुस्तक सचित्र रूप से पुनर्प्रकाशित हुई। बाद में उत्तर प्रदेश की सरकार ने भी इसका मुद्रण किया। पुरस्कार का प्रकरण उठने पर सेवक जी ने यह कहकर "हाँ, अन्य भी मिले", शालीनता से उससे बचना चाहा। फिर अपने संकोच पर कुछ काबू पाकर उन्होंने विभिन्न राज्य सरकारों एवं वैयक्तिक संस्थाओं द्वारा उनको मिली अनेक प्रतियोगिताओं में स्वीकृतियों के बारे में बताया। पुनः वह अपने लेखन के प्रारंभिक दौर से आ जुड़े।

सन् 1940 के आसपास का समय तनाव और संघर्ष का समय था जबकि प्रत्येक भारतवासी के हृदय में क्रान्ति की ज्वाला जल रही थी। तब भला एक संवेदनशील कवि उस प्रभाव से कैसे अछूता रह सकता था? "चिन्गारी" जैसी कवितायें उन्हीं दिनों लिखी गयीं जिसके कारण वह प्रगतिशील लेखक संघ, इलाहाबाद के एक तेज-तर्रार लेखक माने जाने लगे। सन् 1941 में उनका विवाह एक सुसंस्कृत और सुशिक्षित महिला सरला देवी से हुआ, जो स्वयं भी इस लेखिका थीं। सेवक जी ने बताया "सरला मेरी एक सुयोग्य सहचारिणी थीं। हमने तय किया कि जब तक देश अंग्रेजी हुकूमत की जंजीरों से जकड़ा रहेगा, हमारे बच्चे नहीं होंगे। अपने बच्चों के लिए दमित इच्छा संभवतः कविताओं में फूट आई।" जब बीमार सरला की मृत्यु 1948 में हो गयी, उनके लिए दुर्भाग्य भरा यह एक बड़ा आघात था। उन तमाम वर्षों एक मित्र का एक प्यारा चपल बालक मुन्ना उनकी कविताओं का प्रेरणास्त्रोत बना रहा। ये कवितायें "मुन्ना के गीत" पुस्तक में संकलित हैं। इस पुस्तक को उन्होंने उस बालक को ही समर्पित

किया है। 1952 में सेवक जी ने दूसरा विवाह किया जिससे 1955 में उनके एक मात्र पुत्र का जन्म हुआ।

केवल बच्चों के लिए लिखना है, यह निश्चय 1944 में लिया गया था। आजादी के संघर्ष में जब देश उत्तेजित था, सेवक जी का संदेश था- हिंसा नहीं प्रेम, विद्रोह नहीं करुणा, घृणा नहीं भ्रातृत्व, भ्रान्ति नहीं आशाये ऐसी भावनायें थी जो प्रत्येक बच्चे की पैतृक सम्पत्ति होती हैं। बच्चे की कल्पना एक पक्षी की तरह ऊँची स्वच्छंद उड़ान भरती हैं। हम विद्रोह तथा सामाजिक मूल्य की बातें कर उस उड़ान को क्यों अवरोधित करें? सेवक जी का विश्वास है "बच्चों को उनका बचपन दो, उनको निष्कलुषित एवं स्वतंत्र प्रतिक्रियायें प्रकट करने की छूट दो, उन पर उपदेश, प्रवचन, सही-गलत की सीख न लादकर उनका मनोरंजन करो, उनको हंसाओ, गुदगुदाओ।"

कविता युक्ति को लेकर नहीं होती, न ही स्मृति को लेकर, न बोध या अनुभूति को लेकर, वह इन सबको एक साथ समेटकर होती है। कवि अपने श्रोताओं से विचार करने की मांग नहीं करता, न स्मरण करने की अथवा प्रतीति या अनुभव करने की। उसकी चेष्टा होती है अपने मस्तिष्क के पूर्ण अनुभव को पाठक या श्रोता को दे देने की। सेवक जी का दृढ़ विश्वास है "एक बाल-कविता के लिए यह आवश्यक है कि वह बाल की भावनाओं को जस की तस, बगैर किसी कवि के किसी छेड़छाड़ के, सम्प्रेषित कर दे। बालक के विचारों की मूलभूत स्वतंत्रता को अपने आदर्श आरोपित कर छीनना नहीं चाहिए।" अपनी कविताओं में उनकी बराबर यह कोशिश रही है कि उनमें बच्चों की नैसर्गिक भावनाओं और उनकी स्वच्छंद आत्मा को उतार कर उनसे उनका दिल-बहलाव करें।

बच्चे की आल्हादकारी स्वच्छंदता के संबंध में बातें करते हुए सेवक जी के चेहरे पर मुस्कराहट बिखर आयी थी। उन्होंने बताया कि वह अपने ताऊ से विशेष रूप से प्रभावित थे। यद्यपि ताऊ एक पियक्कड़ और गैरजिम्मेदार व्यक्ति थे, किन्तु उनमें एक बच्चे जैसी चिंतायुक्त और निर्मुक्त रहने की प्रवृत्ति थी। सेवक जी ने बताया "उनकी इस निर्मुक्तता ने एक बच्चे के रूप में मुझ पर गहरा असर डाला।" अपनी पहचान कैसे बनाये रखनी चाहिए, यह उन्होंने अपनी दबंग नानी से सीखा। नानी के कहानी सुनाने की बैठकों से उनमें बच्चों के प्रति प्रेम की भावना पेंग चढ़ी।

"फिर आपका स्थान काव्य-आलोचना की ओर कैसे हुआ?" मैंने प्रश्न किया। वह मुस्कराये "अंग्रेजी शिशु-गीतों के प्रति मेरे अन्दर उत्सुकता जाग गयी थी। मैं हर शिशु-गीत के पीछे छिपा उसका इतिहास जानने के लिए

प्रयत्नशील हो उठा था।" फिर उन्होंने तत्कालीन राजनीतिक स्थितियों और अनेक शिशु-गीतों के जन्म के अन्तर्सम्बन्धों के बारे में बताया।

सन् 1954 में बच्चों के साहित्य पर उनका एक लेख मध्य प्रदेश की मासिक पत्रिका "वीणा" में पकाशित हुआ। डॉ० हरिकृष्ण देवसरे ने अपने शोध -प्रबंध में इस लेख को बच्चों के साहित्य पर प्रथम आलोचनात्मक प्रबंध माना। फिर उन्होंने इस विषय पर कई निबंध लिखे। "बाल गीत साहित्य" उनकी इस प्रकार की पुस्तक है। बच्चों के कवि और कविता पर उनकी एक अन्य पुस्तक प्रेस में है। इस विषय पर अनेक शोधकर्ता उनसे दिशा-निर्देशन प्राप्त करते हैं। कुछ मित्रों की यह सलाह थी कि सतत शोध और अध्ययन को अपने में समेटे वह अपनी पुस्तक "बाल गीत साहित्य" को पी-एच०डी० की उपाधि के लिए प्रस्तुत करें, किन्तु उन्होंने अपनी वृत्ति और लेखन के बीच जिस ताल-मेल को बना लिया है, वह उसी से संतुष्ट हैं। उनका कहना है, "अपने मुवक्किल से किसी मुकदमे में बातचीत करते हुए अक्सर कोई विचार या कोई पंक्ति मस्तिष्क में अचानक कौंध उठती है। मैं चुपचाप तत्काल उसे कागज पर टीप लेता हूं और फिर बाद में उसे आकार देता हूं। अब मेरी यह आदत बन गई है।"

लिखने को वह वरीयता देते हैं, भले ही इसके लिए मित्रों से जरूरी मुलाकातों या क्लब की शिरकतों को उन्हें भेंट चढ़ाना पड़े। अब तक उनकी चालीस पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें "चिंगारी", "जनगीत" तथा "वीरों के गीत" वयस्कों के लिए हैं और शेष पुस्तकें बच्चों या बच्चों के साहित्य से संबंधित हैं। सेवक जी की धारणा है, "पुस्तक की भी अपनी शिनाख्त होनी चाहिए। सब कुछ एक ही पुस्तक में समाहित नहीं होना चाहिए।"

इसके बावजूद कि कई प्रशासकों ने पैसों का पूरा हिसाब नहीं किया, उनसे उनके संबंध समग्रतः संतोषजनक ही रहे। उनके अनुसार बच्चों की पुस्तकें प्रकाशित करने वाली प्रकाशन संस्थाओं में बाल-साहित्य की अच्छी समझ रखने वाले सलाहकारों का होना अत्यावश्यक है। बहुत से प्रकाशक बाल-साहित्य के आधार-भूत तत्वों से अनभिज्ञ होते हैं और परिणामतयः वे उस साहित्य के नाम पर कूड़ा-करकट सब छाप देते हैं। हिन्दी में बच्चों के लिए निकलने वाली पुस्तकों में, विशेषकर कविता की मुश्किल से दस प्रतिशत उपयुक्त कही जा सकती हैं। राष्ट्र भाषा के नाम पर भावनाओं को भड़काया गया है जिससे हिन्दी पुस्तकों का स्तर गिरा है। सेवक जी को इस स्थिति से गहरा असंतोष है। बाल-पत्रिकाओं की हालत भी दुर्भाग्य से यही है।

लेखक और चित्रकार संघ के एक पुराने सदस्य होने के नाते निरंकार देव सेवक को बाल-साहित्य के लेखकों और चित्रकारों की अमहत्वपूर्ण स्थिति पर क्षोभ है। उनको स्वयं भी अभी तक कोई मान्यता नहीं मिली है और प्रौढ़ कहानियों के लेखक उनको उपेक्षा-भाव से देखते हैं। इन लेखकों के विचार से बच्चों के लिए लिखना बच्चों का निरा खेल जैसा है। किन्तु इस खेल में किसने अब तक अपने आप को निष्णात साबित किया है?" उनका प्रश्न होता है। विशेषज्ञ बनकर ही कुछ कर सकने वाला यह क्षेत्र है। बच्चों का लेखक या कवि होने के लिए बच्चों के प्रति प्रेम रखना एक अनिवार्य शर्त है। वह इस बात पर विशेष बल देते हैं कि लेखक को बच्चों की शुद्ध भावनाओं की अभिव्यक्ति करना चाहिए, न कि वह उनमें दोष खोजें या उन पर अनुशासन लादें। लेखक की सफलता अपने बाल-पाठकों की सहज जिज्ञासा और उत्सुकता को संतुष्ट करने की क्षमता पर आधारित होती है।

सेवक जी की कविताओं में तुकों और लयों की सुंदर संगत है। वह बच्चों के लिए संसार की साधारण स्थितियों, चरित्रों और घटनाओं को मृदुल परिहास का पुट देते हुए ऐसा चित्रण करते हैं कि वह अपने पाठकों के हृदय को छूने और गुनगुनाने लगता है। सरल शब्दावली और वस्तुओं के प्रति आसक्ति की भावना से पद्य में कल्पना प्रस्फुटित होने लगती है। उनको पढ़ते हुए आनन्द मिलता है, जैसे- "हाथी राजा बहुत भले, सूंड़ हिलाते कहां चले, मेरे घर आ जाओ न, हलुवा पूरी खाओ न।

❑❑

हुई मुद्दत कि गालिब मर गया पर याद आता है

प्रो० कृपानन्दन

प्रोफेसर कृपानन्दन बरेली कॉलेज बरेली में अंग्रेजी विभाग के अध्यक्ष पद से अवकाश प्राप्त हैं। वे सेवक जी के अभिन्न मित्र रहे हैं।

बरेली के मशहूर और लोकप्रिय कवि निरंकार देव सेवक के निधन की सूचना मुझे देर से मिली थी इसलिये बाद में श्री प्रताप चन्द्र आजाद के निवास पर आयोजित शोक सभा में ही सम्मिलित हो सका था। वहां थोड़े से लोग थे मगर उनमें से जिन लोगों ने कुछ कहा उन सबने किसी न किसी रूप में निरंकार को जाना पहचाना था।

लगभग डेढ़ वर्ष पहले एक बार आवास विकास कालोनी जाना हुआ था तो जाहिर है कि धर्मपाल गुप्त 'शलभ' जी के दरवाजे पर दस्तक देना फर्ज था। मुझे देखते ही खिल उठे। बातें करने, हम-ख्याल हम-ज़ौक लोगों के साथ बहस और प्यार भरा झगड़ा करने का उन्हें कितना शौक है यह तो बस मैं ही जानता हूँ। उनकी पत्नी मेरी शिष्या रही थीं। कुछ खाने को मिला। फिर बातें हुयीं, होती रहीं, बहुत सारी। उन्होंने कहा :

"प्रोफेसर साहब, एक बात बार-बार अक्सर सोचता हूँ। आपके बहुत पुराने घनिष्ठ मित्र, मेरे बड़े भाई समान मित्र निरंकार देव सेवक ने साहित्य, पत्रकारिता और समाज के लिये इतना कुछ काम किया, अब वह अस्वस्थ रहने लगे हैं और अधिक लिख भी नहीं पा रहे हैं। क्यों न हम कुछ मित्र उनके जीवन और उनकी कविता के लम्बे और कामयाब सफर पर कुछ विवेचनात्मक काम करें। किस प्रकार उन्होंने अपनी कविता के तीनों पड़ावों में अपने व्यक्तित्व और अपने विचारों को पाठक और श्रोता दोनों तक पहुँचाया और इस काम में वह किस हद तक सफल हुये- इन बातों को निष्पक्षता से पेश किया जाये।

मैं बहुत खुश हुआ और तुरन्त हामी भर दी कि इस कार्य में जो सहयोग मुझसे हो सकता है अवश्य दूँगा।

बातें हैं, बातों का क्या।

समय बीता। बातें तो वहीं रहीं। हां, इतना अंतर हो गया कि निरंकार चले गये- सदा के लिये और अनगिनत यादें छोड़ गये अपने अनगिनत मित्रों और प्रशंसकों के हृदय में।

यादों की बारात-एक हुजूम मानस पटल पर। एक के बाद एक तस्वीर चली आ रही है, उभरती, सिमटती, धुंधलाती, गायब होती हुई।

1935–8 जुलाई को इन्टर फर्स्ट इयर आर्ट्स में मेरा दाखिला हुआ। बाद को जान पहचान होने पर मालूम हुआ कि निरंकार देव ने ६ जुलाई को उस ही कक्षा में प्रवेश लिया था मगर दो विषय भिन्न होने के कारण सेक्शन अलग-अलग मिले थे।

शायद अक्टूबर का महीना था कालेज की हिन्दी प्रचरिणी सभा ने एक स्थानीय कवि सम्मेलन का आयोजन किया था। नगर के वरिष्ठ कवियों के साथ छात्रों को भी अपनी कविता सुनाने का अवसर दिया गया था। कुछ कवितायें पढ़ी जाने के बाद संचालक ने कहा :

"अब फर्स्ट इयर के छात्र निरंकार देव सेवक कविता पाठ करेंगे"।

पन्द्रह सोलह साल का पतला दुबला, कद में लम्बा-सा युवक तख्त पर आकर "दो जानू" बैठा, कुछ सहमा सा, कुछ झिझकता सा। फिर कुछ साहस बटोर कर, कुछ धैर्य समेट कर, अध्यक्ष की तरफ सर को तनिक अदब से झुकाया और मंच पर बैठे अन्य कवियों की तरफ देखा। फिर बेझिझक कविता सुनाना शुरू कर दी।

जब तक आधुनिक हिन्दी कविता की बात की जायेगी उस कविता का जिक्र किया जाता रहेगा। जवान दिलों की बात जवान साथी ने, सैकड़ों जवान साथियों को सुनायी बहुत ही अच्छे रस भरे अन्दाज में तो कानों से सीधी दिल में उतरती चली गयी।

तालियों का तो कोई अन्त ही नहीं होता नजर आ रहा था। अगले दिन कवि की कविता "चला जाता वह विहग कुमार" और कवि का नाम, कालेज में हर किसी की जुबान पर था। मैं निरंकार देव से मिला और उनको बधाई दी। उन्होंने बताया कि वह अपने पिताजी के साथ कई बार मेरे मोहल्ला बालजती में मास्टर चन्द्र सहाय के घर जा चुके हैं। इस तरह हुई उनसे मेरी पहली जान पहचान।

उन्होंने युवा कवि के रूप में बहुत शीघ्र ही बरेली और प्रदेश के दूसरे नगरों में कवि सम्मेलनों के माध्यम से काफी ख्याति प्राप्त कर ली। मेरा उनके प्रति प्रशंसा का भाव हमारी मित्रता को बढ़ाता रहा।

मगर मेरी उनसे बहुत घनिष्ठता नहीं हुयी। मेरे और उनके सेक्शन अलग थे। मैं बहुत अच्छा विद्यार्थी था। मेरा बहुत सा समय खेलों की दुनिया और छात्रसंघ के कार्यों में व्यतीत होता था। निरंकार को इन सब बातों से कोई दिलचस्पी नहीं थी।

बी०ए० के दूसरे वर्ष तक पहुंचते-पहुंचते निरंकार कवि की हैसियत से बहुत मशहूर हो चुके थे। मैं भी हिन्दी प्रचारिणी सभा के कार्यों में दिलचस्पी रखने की वजह से उनके सम्पर्क में आता ही रहता था।

यकायक एक अजीब बात हुयी। श्री एम०एन० राय के विचारों को उन्होंने सुना, पढ़ा, समझने की ईमानदार कोशिश की और उनके अपने विचारों में परिवर्तन हुआ।

बी०टी० की परीक्षा पास की निरंकार ने हिन्दी में एम०ए० किया। फिर दो वर्ष डी०ए०वी० इण्टर कॉलेज में प्राचार्य के पद पर काम किया। 1946 में वकालत शुरू की।

अब तक और कई वर्ष पहले ही से निरंकार बहुत काफी बड़े कवि हो चुके थे। उत्तर भारत का कोई वरिष्ठ से वरिष्ठ हिन्दी कवि ऐसा नहीं था जिससे उनकी बहुत अच्छी जान-पहचान न हो। बड़ी से बड़ी पत्रिकाओं के सम्पादक उनको निकट से जानते थे और उनकी कविताओं को अपनी पत्रिकाओं में छापने को इच्छुक रहते थे।

इसी बीच कई वर्षों के दौरान निरंकार की कविता की विषय वस्तु, उनके वैचारिक दृष्टिकोण, उनकी शैली में बुनियादी परिवर्तन आता रहा था और अब तक लगभग पूरी तरह आ चुका था। युवावस्था के रोमान्टिक मूड में, जिसको कई वर्षों तक हरिवंशराय बच्चन से मिली दिशा, कुछ उनकी नकल और उनसे गहरी दोस्ती ने काफी बढ़ावा दिया था, काफी बदलाव आ चुका था। अब वह देश और समाज की समस्याओं, विश्वशक्ति, प्रजातन्त्र की ताकत और उसकी सीमाओं, व्यक्ति और समाज का रिश्ता, धर्म और सम्प्रदाय की संकीर्णता और पाखण्ड के शिकंजे, मनुष्य का अस्तित्व जैसे विषयों पर लगातार लिख रहे थे।

रोमान्टिक धारा से हटकर और प्रगतिशील विचारों को अपनाकर उन्होंने अपनी कविता को एक संघर्षात्मक मोड़ दिया। वह सरल भाषा तो हमेशा ही लिखते थे मगर जब उन्होंने नये तरीके की कविता लिखना आरम्भ की तो ऐसा

लगता है कि उन्होंने भाषा की शास्त्रीय जंजीरों और उसकी जटिल पाबंदियों को काटकर बिल्कुल अलग फेंक देने का निश्चय कर लिया। यहां तक कि उनकी बहुत ही सफल प्रयोग की कोशिश, अतुकान्त कविताओं का संग्रह "चिन्गारी" के रूप में 1941 में पाठकों के सामने आ चुका था।

वकालत में वे बाबू रामजीशरण के साथ काम करने लगे। जीविका के लिये कुछ करना तो था ही मगर उनका मन इस काम में था ही नहीं। बाबूजी के साथ इतने वर्ष इसलिये निभी रही कि बाबूजी के यहां कवियों की खासतौर पर युवा लिखने वालों की 'रंगीन महफिलें' प्रायः जमती ही रहती थीं।

पर कुछ ही वर्षों में इस बुनियादी, विचारशील, प्रगतिशील कवि को महसूस होने लगा कि 'वहां' उसके हृदय को सन्तोष नहीं मिल रहा है, नहीं मिल पायेगा। उसने आहिस्ता-आहिस्ता अपने आपको इस माहौल से अलग कर लिया।

पर, अब करे क्या।

एक दफा की बात है, किसी "बैठक" में मित्रों के अनुरोध पर उन्होंने कुछ पुरानी प्रगतिशील विचारों से "ठसा-ठस" भरी कवितायें सुनायीं। फिर अपने मन से उसही तरह की एक नयी ताजी कविता सुनायी। हम लोगों ने खूब सराहा। और लोग कुछ दूसरी बातों में लग गये तो मुझ से बोले :

"यार एक बात बताओ! मैं जानता हूं तुम झूठ नहीं बोलते हो। स्पष्टवादी हो, साहित्य प्रेमी हो। झूठ बोलकर मित्र को खुश करने के बजाय सच बोलकर उसको कष्ट देना पसन्द करोगे क्योंकि ऐसा करने में तुम्हें दोस्त का वास्तविक हित ही सर्वोपरि लगेगा।"

"धन्यवाद, क्या कहना चाहते हो?"

"मैंने प्रगतिशील विचारों की, बुद्धिवादी दृष्टिकोण, मानववादी मूल्यों की सैकड़ों कवितायें लिखी हैं, बहुत-बहुत अच्छी भी और मामूली मामूली सी भी। लेकिन अब मैं महसूस करने लगा हूं कि मेरी अब की लिखी गयी कविताओं में सुनने वाले इतना आनन्द नहीं पाते। वे मुझे घिसे-पिटे तथ्यों वाली नीरस कविताओं का लेखक समझने लगे हैं" मैं मित्र की उदासी भरी पीड़ा को समझ रहा था :

"अरे यार नहीं, बिल्कुल नहीं। तू बहुत अच्छा और वजनदार कवि था और है। तू अब भी वैसा ही सराहा जाता है।" "देखो यार, पहले तय हो गया है कि दिखावा नहीं चलेगा। अब तुम मेरी नयी कविताओं में कहीं कुछ कमी महसूस करते हो, चाहें ऐसा कहते नहीं हो, मगर मुझसे छुपता तो नहीं है।"

"देखो दोस्त, तुम्हारे कुछ प्रशंसक मित्रों को तुम्हारा बुद्धिवादी, प्रगतिवादी रूप इतना मोहक लगने लगा कि वे तुम्हारी कविता में तर्कवाद, प्रगतिवाद, समाजवाद, साम्यवाद को ही देखते रहना चाहते हैं और उसको देखते रहकर अपने बुद्धिजीवी और प्रगतिशील होने का झण्डा बुलन्द रखने में तुम्हारी और अपनी वाहवाही समझते हैं। उनको इससे कोई सरोकार नहीं है कि विचार पक्ष और प्रगतिशील तथ्य तुम्हारी कविता पर पूरी तरह हावी होकर इतना मुर्दा बोझ (Dead weight) होने लगा है कि उसमें रस नाम की चीज अब बहुत ढूंढने पर भी बहुत कम ही मिलती है। तुम इस भ्रम में हो कि यदि तुमने बुद्धि पर आधारित कोई बात कह दी और अच्छा तर्क सामने रख दिया तो तुमने श्रोताओं को एक अच्छी कविता सुना दी। यह भ्रम बहुत से नये लिखने वालों को है कि यदि तथ्य की बात तर्क के साथ कह दी जाये तो वह अच्छी कविता हो जाती है। पर, यह बात सही नहीं है :

A poem is not an argument;

it is an impression

जब तक उसमें भाव और रस नहीं तब वह किसी थीसिस, किसी इज्म, किसी वाद का कितना ही बखान क्यों न करें, वह कविता नहीं होती। कभी-कभी तथ्य के लालच में कवि "कवितापन" (Poeticness) की बलि दे देता है। यह बहुत बड़े-बड़े कवियों के साथ भी हुआ है। वर्ड्सवर्थ के कविता सफर के बाद वाले हिस्से में। इकबाल के साथ उनके दूसरे और तीसरे "पीरियड" में। निरंकार कुछ उदास दिखे पर अपनी चिरपरिचित मुस्कराहट के साथ बोले :

"यार प्रोफेसर, तुम भी खूब हो।"

यह वह जमाना था जब हम लोगों को हर सप्ताह मिलने का अवसर मिलता था "सैटरडे क्लब" की बैठक में शनिवार की शाम को श्री आर०के० सक्सेना एडवोकेट के घर पर। बरेली के अदबी हल्कों के लोग जानते हैं कि सक्सेना साहब खुद अच्छे शायर तो हैं ही बड़े अदब नवाज हैं और वह और उनके परिवारजन कितने दिल वाले मेहमानवाज हैं।

एक बार अदबी महफिल थी शायद सिटी मान्टेसरी स्कूल कहरवान में। निरंकार और मैं पास बैठे थे। वह कुछ मलूल थे। मैंने कहा :

"क्यों?"

बोले- "कुछ दिनों से तबीयत ठीक नहीं चल रही है। हल्का सा दिल का दौरा भी पड़ा था दो महीने पहले। देहली में दिखाया था। बताया बहुत एतिहात की जरूरत है। दिल कुछ लम्बा हो रहा है।"

"अरे यार मस्त रहो। भई देखो, हम मौत का इन्तिजार करने वाले लोगों में से तो हैं नहीं। अभी तो मस्ती से जी रहे हैं। जब आयेगी तो स्वागत।"

तीन चार महीने बाद किसी गोष्ठी में मुलाकात हुयी। देखकर बहुत खुशी हुयी कि खूब खुश नजर आ रहे थे। पहले से काफी स्वच्छ थे। बातें होती रहीं। किसी बात पर कुछ मित्रों में कुछ कहा-सुनी हो गयी। बोले :

"चलो यार इधर बरामदे में बैठें, दो कवितायें लिखी हैं। तुम्हें खासतौर से सुनाने को दिल चाह रहा है। उन्होंने कवितायें सुनायीं। बहुत अच्छी थीं। मैंने तारीफ की। बहुत खुश हुये।

यह वह जमाना आ गया जब गुटबाजी से परेशान होकर, नाराज होकर, उकताकर, सब वादों-विवादों को छोड़-छाड़कर वह बाल कवितायें लिखने में अपना मन और समय लगाकर ख्याति प्राप्त कर रहे थे, कर चुके थे और करते चले जा रहे थे। इससे पहले भी बहुत सी संस्थाओं ने उनको सम्मान व पुरस्कार दिया था मगर बाल साहित्य के क्षेत्र में उनको बहुत अधिक सम्मान मिला। बाल कवि के रूप में वह संस्था के राष्ट्रीय अध्यक्ष चुने गये (शायद दो बार)। यह बरेली वालों के लिये और खासतौर पर मित्रों के लिये बहुत गौरव की बात थी।

लेकिन ऐसा नहीं था कि बच्चों के मन, उनके दिल, उनकी बातों और भावनाओं को व्यक्त करने में अपना अधिक समय लगाने के कारण, वह अपने बुद्धिजीवी, प्रगतिवादी, मनुष्यवादी चिन्तन को भूल बैठे हों, और रूढ़िवादी परम्पराओं, अन्धविश्वासों, सम्प्रदाय और धर्म के ढकोसलों के शिकंजों पर गुस्सा होकर उनको तोड़ डालने वाली लेखनी संघर्षात्मक दिशा की तरफ से उदासीन होकर खामोश हो गयी हो। धर्मपाल जी ने ठीक बताया :

"अब वह दुनिया के लिये बाल साहित्य के ऐसे भीष्म पितामह बन चुके थे जिन पर एक तरफ तो अनेक विश्वविद्यालयों में विद्यार्थी शोधकार्य में लगे हुये थे, तो छोटे-छोटे बच्चे उनकी कवितायें अपनी पाठ्य पुस्तकों में पढ़कर आनन्द ले रहे थे। मगर उन्होंने अपने प्रगतिशील लेखक वाले रूप को भुलाया नहीं, छोड़ा नहीं, जारी रखा।"

अब वह कभी-कभार, जब अवसर जुट जाता तो अपने हम-ख्याल मित्रों को कई नयी कविता बड़े चाव से सुनाते और तारीफ मिलने पर खुशी से खिल उठते।

एक बार-1966 की बात है, श्रीमती मुकुन्दी देवी के रामपुर बाग स्थित मकान पर गोष्ठी थी। तीसरे पहर का समय था। दस-पन्द्रह लोग थे। मुझसे अध्यक्ष पद गृहण करने को कहा गया। मैंने 'न न' की कि निरंकार मौजूद हैं

तो मैं अध्यक्ष क्यों बनाया जाऊं। वह जोर से खिलखिला कर बोले : "कविता पढ़ने वाले पढ़ेंगे। सुनने वाला तो अध्यक्ष बन ही सकता है।"

मैं फिर भी नहीं माना तो मेरा हाथ पकड़कर लगभग घसीटते हुये तख्त पर ले गये और बुलन्द आवाज में कहा :

"आज हम दोनों अध्यक्षता करेंगे।"

सब लोग खूब हंसे।

एक ऐसा संस्मरण सुना रहा हूं जिसको अब उनके चले जाने के बाद याद आने और सुनाने पर आंसू आ जाते हैं और आंखों के सामने फिल्म का-सा पर्दा आ जाता है जिसमें से सब कुछ धुंधला-धुंधला-सा दिखायी देता है-

नगर के एक बड़े नेता का देहान्त हो गया था। दिवंगत की शवयात्रा उनकी विशाल कोठी से करीब 12 बजे चली। कुछ लोग ट्रक पर थे और हजारों आहिस्ता-आहिस्ता पैदल चल रहे थे। खामोशी थी मगर बातें हो रही थीं। निरंकार मेरी दायीं ओर खामोश, बिल्कुल खामोश चल रहे थे। यकायक बोले:

"प्रोफेसर कुछ बात करो।"

मेरे कुछ न कहने पर बोले :

"तुम जैसा बातूनी भी आज चुप है। मेरा मन बहुत उदास है। जीवन में कुछ सार नजर नहीं आता.....अच्छा कोई बहुत प्यारा-सा, मौके का शेर सुनाओ। मन हल्का हो जाये।"

"सुनो, जीवन की सारी हकीकत समझ में आ जायेगी। जिन्दगी और मौत में कोई फर्क ही नहीं नजर आयेगा। फस्ल ए गुल आई या अजल आई क्यों दर ए जिन्दां खुलता है, क्या कोई बहशी और आ पहुंचा या कोई कैदी छूट गया।"

एक अच्छे संवेदनशील कवि के मन में बात फौरन पैबस्त हो गयी। कुछ क्षण तो बिल्कुल खामोश रहे, कुछ बोले ही नहीं जाने कहां खो गये थे। फिर यथार्थ की दुनिया में लौटे तो मुस्करा रहे थे। खूब हंसते हुए बोले :

"वाह यार प्रोफेसर। क्या कमाल का शेर सुनाया। जिन्दगी के रंज ओ गम एक लम्हे में बबूलों की तरह गायब।"

उनसे आखिरी बार मुलाकात की बात थी तो मामूली-सी मगर उनके जाने के बाद उसकी याद बहुत सताती है।

24 अगस्त, 1993 को मैं दिन के करीब 12 बजे उनके जेलरोड स्थित निवास पर गया था अपने पुत्र के विवाह के उपलक्ष्य में होने वाले स्नेह भोज

में पधारने का निमंत्रण देने। गेट के अन्दर घुसा तो एक बूढ़ी-सी औरत को बेंच पर बैठा देखकर मैंने उनसे कहा :

"निरंकार जी हैं। उनसे कह दीजिये कोई मिलने आया है।" दो मिनट बाद कमीज पाजामा पहने अन्दर से आ रहे थे। मुझे देखते ही चीखते हुये बोले:

"आज का दिन बहुत अच्छा है। कैसे आये?" मैंने कार्ड देते हुये बात बतायी तो खुशी का इजहार किया और बहुत सहज भाव से बोले :

"यार तुम्हारे यहां आने को जी तो बहुत चाहेगा और बहुत कोशिश भी करुंगा कि आऊँ मगर अगर न आ पाऊँ तो नाराज मत होना। अब रात को आना-जाना कठिन रहता है। तबीयत ठीक नहीं रहती है। दिल की शिकायत फिर रहने लगी है। वर-वधू को मेरा भरपूर आशीर्वाद। यार, सच्ची बात यह है कि अब जाने का वक्त करीब आ गया है।"

"बस, यह बकवास मत करो। वक्त आयेगा तो उसका स्वागत। पर उसकी माला जपते रहने से क्या मिलेगा। एक अच्छी सी कविता सुनाऊँ?"

आँखों में "हाँ" देखकर, मैंने कहा :

Nor love thy life nor hate

But what thou livest live well,

How long or short,

Permit to Heaven.

खुश हो गये, बोले :

"कभी-कभी साथ बैठकर बातें करने, कुछ सुनने सुनाने को जी चाहता है, पर............"

मैंने कहा : "फासले तो वही हैं पर उम्र बढ़ चुकी है और वक्त के तकाजे मोहलत ही कहां देते हैं। मशीनों के इस हंगामी दौर में जहां हर वक्त हर तरफ शोर-ही-शोर है कविता की नर्म ओ नाजुक आवाज पनप सकती है कहीं? और सुनाओ, वक्त कैसे गुजरता है?"

"बस, काफी खाली-सा रहता हूँ। कभी कुछ लिख लिया तो लिख लिया। बहू ने एक स्कूल खोल लिया है, यहीं घर पर। उसकी देखभाल में कुछ समय लग जाता है। अब तुम्हारा जैसा बड़ा स्कूल तो है नहीं।"

आने ही नहीं देते थे। बातें करते रहना चाहते थे। फिर मैंने उनसे विदा ली।

और कई जगह जाना था। रिक्शे पर बैठकर पता तो बता दिया, फिर मैं जाने कहां खो गया।

आज मैंने एक बहुत सरल स्वभाव वाले मित्र, एक बहुत अच्छे इन्सान को बहुत उदास देखा था। दिल पर एक बोझ-सा बना रहा। फिर रोजमर्रा की सतही बातों में सब कुछ भूल गया।

लेकिन यह ख्याल बिल्कुल नहीं था कि वह मेरी उनसे आखिरी मुलाकात होगी।

इससे पहले कि उनकी कुछ सुख देने वाली और कुछ रुलाने वाली स्मृतियों की दुनिया को छोड़ूं, एक विनती कर रहा हूं।

बहुत से पढ़ने वालों, उनके चाहने वालों, प्रशंसकों को आश्चर्य हुआ होगा, गुस्सा भी आया होगा कि मैंने उनको सेवक या सेवक जी के नाम से एक बार भी नहीं लिखा या पुकारा। क्या वह मेरे आदर के पात्र नहीं थे। क्या मैं आदर के साथ उनका नाम लेने को तैयार नहीं हूं।

मैं उनको कितना प्यार करता था, उनका कितना आदर करता था, उनकी कविता और उसकी मानववादी सोच की कितनी कद्र करता था, यह आप नहीं समझ पायेंगे। रही बात आपकी शिकायत की तो सुनिये और फैसला आप पर छोड़ा कि आपकी बात मानूं या अपने प्यारे मित्र की।

60 के दशक के अन्त की बात है। एक कवि-गोष्ठी में नीरव जी (होरीलाला शर्मा) अध्यक्ष थे। कई कवियों द्वारा कविता पाठ किये जाने के बाद निरंकार से कहा गया। न जाने क्यों उन्होंने 'न न' की। शायद वह कुछ देर बाद पढना चाहते होंगे। मुझसे उनसे कहने को कहा गया। मैंने कह दिया :

"सेवक जी, कृपा करके हम सबकी दरख्वास्त मान लीजिये। उन्होंने बात मान ली। कविता सुनायी। लेकिन मालूम हो रहा या कुछ खिन्न से हैं। बहुत खामोश-खामोश रहे।

लौटते समय चलते-चलते मुझसे अकेले में आहिस्ता से बोले :

"तुम्हें कविता अच्छी लगी"

"हाँ, क्यों?"

"एक बात कहना है, जरूर मान लेना। इन लोगों में अधिकांश मुझसे उम्र में छोटे हैं। जो भी कहकर पुकारें ठीक है, वह जानें। मेरा तुम्हारा इतने वर्षों का साथ है, कितनी पुरानी दोस्ती है। तुम्हारे मुंह से निकले निरंकार में जो प्यार, जो अपनापन है वह किसी और संबोधन में नहीं। तो सुन लो, आज से



फिर कभी तुम्हारे मुंह से सेवक जी या सेवक कभी न सुनूँ। मैं सदा तुम्हारा निरंकार ही रहना चाहता हूँ।"

अपने प्यारे मित्र की यादों से अपने आपको अलग करने के लिये मुझे सबसे अच्छा तरीका तो बस एक ही मालूम होता है कि संसार के एक बड़े, बहुत ही बड़े शायर के साथ उनकी याद को जोड़ूं-

हुई मुद्दत की गालिब मर गया पर याद आता है,
वह हर इक बात पे कहना कि यूं होता तो क्या होता।

❑❑

वैचारिक क्रांति और बुद्धिवाद के प्रतीक

धर्मपाल गुप्त 'शलभ'

शलभ जी पुराने पत्रकार हैं। कभी "नवभारत टाइम्स" से जुड़े रहे। अब "अमर उजाला" में स्वतन्त्र लेखन तथा "समय की धारा" स्तम्भ भी लिख रहे हैं। यह स्तम्भ पहले सेवक जी ने ही लिखना शुरू किया था।

निरंकार देव सेवक को आज स्थापित बाल साहित्यकार के रूप में जाना जाता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के कुछ वर्षों के पश्चात् से उनकी पहचान बालकवि के रूप में ही बनती गई। निःसन्देह बाल साहित्यकारों की अग्रिम पंक्ति में उनका स्थान है। यह कितना आश्चर्यजनक है जो व्यक्ति आज एक ख्याति प्राप्त बाल साहित्यकार के रूप में जाना-पहचाना जाता है उसके कृतित्व का वह भाग आज उजाले से दूर हो चुका है जिसका साहित्यजगत में बाल साहित्य से अलग हट कर मूल्यांकन किया जाना चाहिए था। बाल साहित्य में ख्याति अर्जित करने से पूर्व श्री सेवक एक लब्धप्रतिष्ठ कवि के रूप में स्थापित हो चुके थे। द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व के कवियों में उनका स्थान बना हुआ था। हिन्दी की लगभग सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में उनकी कविताएें प्रकाशित होती थीं। इससे भी बढ़कर सुखद आश्चर्य की बात यह है कि श्री सेवक अपने समय के एक जनप्रिय मंचीय कवि भी रहे थे। प्रदेश और प्रदेश के बाहर आयोजित होने वाले कवि सम्मेलनों में उनकी धूम और धाक दोनों ही रहती थी। उस दौर के कवि सम्मेलन आज के जैसे स्तरहीन नहीं होते थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात चमके हिन्दी कवियों में ऐसे अनेक गिनाए जा सकते हैं जो कवि सम्मेलनों में श्री सेवक की रचनाऐं सुनने के लिए मंच के आगे बिछी हुई दरियों पर बैठते थे। ऐसे उज्ज्वल कृतित्व और व्यक्तित्व को साहित्य के आलोचकों और समालोचकों द्वारा नजर अंदाज क्यों किया गया यह एक विचारणीय प्रश्न है। आलोचकों और समालोचकों की नजरअंदाजी का प्रश्न इसलिए और भी गंभीर हो उठता है जब हम देखते हैं कि चर्चित कवि के चार कविता संग्रह प्रकाशित हो चुके थे। इनमें 'स्वस्तिका' (1940) और 'चिनगारी' (1943) सर्वाधिक चर्चित पुस्तकें थीं।

'कलरव' और 'मस्ती के गीत' नामक कविता संग्रह के अतिरिक्त कवि की फुटकर रचनाओं की एक लम्बी सूची है। इसमें गीत, गज़ल और मुक्तक हैं जो पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हाते रहे हैं। जिस दौर में प्रगतिशील साहित्य घुटनों के बल चलना सीख रहा था, उस दौर में प्रकाशित श्री सेवक की 'चिनगारी' ने तहलका मचा दिया था। इस छोटी सी पुस्तक में सत्तरह अतुकांत कविताऐं हैं। उस समय अतुक्रांत कविताओं का अधिक प्रचलन नहीं था। 'चिनगारी' की सभी कविताओं में सामाजिक विद्रोह के स्वर हैं। सन् 1943 तक प्रगतिशील साहित्य के क्षेत्र में 'चिनगारी' जैसी पुस्तक देखने में नहीं आती। महान आलोचक डा० रामविलास शर्मा चर्चित कवि की रचनाधर्मिता से बखूबी परिचित रहे हैं। डा० नामवर सिंह भी श्री सेवक के व्यक्तित्व और कृतित्व से अपरिचित नहीं हैं। डा० रामविलास शर्मा ने मार्क्सवाद पर आधारित अथवा यूँ कहा जाए कि भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी की राजनीतिक थीसिस के आधार पर साहित्यकारों को प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी शिविरों में विभाजित करने में भारी परिश्रम किया है। आश्चर्य है कि डा० शर्मा और प्रगतिशील लेखक संघ के दिग्गज आलोचकों ने 'चिनगारी' और इसके रचयिता पर कहीं एक शब्द तक नहीं लिखा। अलबत्ता कुछ प्रगतिवादियों का ठप्पा लगाने वालों के मुँह से निकले हुए यह शब्द सुनाई अवश्य पड़े कि "श्री सेवक की चिनगारी बुर्जुआ की मन की बकवास है।"

उल्लेखनीय है कि उपरोक्त टिप्पणी उन व्यक्तियों के द्वारा की जाती रही जिन्होंने संत तुलसीदास के जन कवि और निराला और पंत को प्रगतिशील कवि घोषित करने वाले मार्क्सवादी प्रगतिशील आलोचकों पर उंगली उठाकर यह कभी नहीं कहा कि प्रगतिशीलता के साथ ऐसा अन्याय न करो। 'चिनगारी' पर चर्चा करने से पूर्व श्री सेवक के प्रथम कविता संग्रह 'स्वास्तिका' पर दृष्टि डालनी होगी। आज से 59 वर्ष पूर्व जब 'स्वस्तिका' प्रकाशित हुई तो वह काफी चर्चा में रही। संभवतः यही वह दौर था जब श्री हरिवंश राय बच्चन भी चर्चा में आ रहे थे। स्वास्तिका में प्रकाशित पहली कविता थी- 'विहग कुमार'। शेष कविताएं प्रेम-संबंधों पर आधारित थीं। किन्तु यह श्रंगारिक नहीं थीं। वस्तुतः यह कविताएं छायावाद के मकड़जाल से बाहर निकलकर नारी की साक्षात निकटता की स्पष्ट स्वीकारोक्ति थीं। विहग कुमार कविता आज से 54 वर्ष पूर्व लिखी गई थी। अपने समय में यह कविता काफी लोकप्रिय हुई थी। इस कविता की भावना को किसी प्रचलित बाद में नहीं रखा जा सकता। कवि ने समाज में फैली हुई विसंगतियों पर विहंगम दृष्टिपात करते हुए इनसे कहीं दूर बहुत दूर चले जाने की कामना व्यक्त की है। इसमें कवि ने अपने पलायन को ईमानदारी से दर्शाया है किन्तु समाज में फैली हुई विसंगतियों पर विहंगम दृष्टि ही सही-जिन परिस्थितियों को उसने उजागर किया है, वह भी एक जागरुक कवि की ईमानदारी से कम नहीं

है। सन् 1940 का समय, जब देश स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए अंतिम संघर्ष की तैयारी कर रहा था तब इस संघर्ष के मार्ग में बाधक, साम्प्रदायिक कट्टरपन की स्थिति पर कवि ने गहरा क्षोभ प्रकट करते हुए लिखा था-

लड़ें बनकर प्राणों के शत्रु, कहीं हिन्दू-मुस्लिम-क्रिस्तान
कहीं पर पंथ-मतों का भेद करा दे लाखों को कुर्बान
पुजारी-पंडित-मोमिन शेख, बना धर्मध्वज-धर का वेश
पुराणों-वेदों की ले ओट सिखाएं जग को करना द्वेष

ठीक यही स्थिति देश की आज भी है। स्वस्तिका का कवि एक ओर जहाँ विहग कुमार में साम्प्रदायिक कट्टरपन पर गहरा क्षोभ प्रकट करता है, वहीं वह धर्म और जाति के नाम पर मर-मिटने की भावना को भी उन्माद समझता है। देश के राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन में धर्म, जाति और देश के लिए मर-मिटने के आदर्श वचन चारों ओर से सुनाई पड़ते थे। कवि ने इस अति राष्ट्रवादी आदर्श को भी नापसंद किया था। उसने लिखा:-

जहाँ पर जाति, देश औ' धर्म करें मर मिटने का आदेश
समझ सकते हो तुम खुद खूब वहाँ की मानवता के क्लेश

स्पष्ट है कि स्वस्तिका का कवि प्रेम प्रसंगों के साथ विहग कुमार के रूप में एक ऐसे व्यक्ति के रूप में भी प्रकट होता है जो समाज की विसंगतियों, विषमताओं और असहजता से क्षुब्ध और क्लांत है। इस स्थिति का सामना करने अथवा संघर्षरत होकर जूझने का उसके पास न साहस है और न कोई उपाय है। वह बड़ी सरलता से विहग के रूप में पर फैलाकर क्षितिज के उस पार पलायन कर जाना चाहता है। मार्क्सवादी आलोचकों की दृष्टि में विहग कुमार कविता, कवि की पलायनवादी मनोदशा प्रकट करती है। यह सही है कि इस कविता में पलायन है जिसे कवि ने छिपाया भी नहीं है किन्तु यह पलायन वह नहीं है जिसे प्रगतिवादी आलोचक प्रतिक्रियावाद तक खींचकर ले जाते हैं। सन् 1940 तक प्रगतिवाद की कोई निश्चित विचारधारा नहीं थी और न ही प्रगतिवाद किसान-मजदूरों के सीधे संघर्ष से जुड़ पाया था। ऐसी स्थिति में निरूपाय होते हुए भी कवि ने जिस साम्प्रदायिक कट्टरपन पर क्षोभ प्रकट किया है उससे साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष करने वाली शक्तियों को बल अवश्य मिलता है। इससे कवि का प्रगतिवादी रुझान जाहिर होता है।

ऊपर स्वास्तिका में श्री सेवक की प्रेम संबंधों पर आधारित कविताओं का जिक्र किया है। स्वास्तिका में प्रकाशित इन कविताओं में आशा-निराशा और स्वेच्छामूलक भावनाओं का उद्रेक है। यह कविताएँ छायावादी अभिव्यक्ति से कतई अलग हैं। इनमें बच्चन जी और सेवक जी की एप्रोच एक जैसी लगती है,

अनुभूति और अभिव्यक्ति भी समान लगती है। आगे चलकर श्री सेवक की एप्रोच एकदम अलग हो जाती है। बच्चन जी की प्रेम सम्बन्धी कविताएं मूर्तमान नारी को सहचरि के रूप में मनोविलास का साधन ही बनाए रखती हैं जबकि सेवक जी मूर्तमान नारी के ठोस यथार्थ को स्वीकार करते हुए भी उसके मानवीय पक्ष को आगे बढ़ाते हैं। श्री सेवक ने अपने प्रेमगीतों में स्वतंत्र स्वावलम्बी और हर प्रकार के बंधनों से मुक्त नारी को सहचरि का रूप दिया है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व के वर्षों में राष्ट्रवादी और प्रगतिवादी-दोनों ही क्षेत्रों में नारी के सम्पूर्ण स्वातन्त्र्य की गूंज कहीं सुनाई नहीं पड़ती। उस दौर में अकेले श्री सेवक ही ऐसे कवि दिखाई पड़ते हैं जो बच्चन जी की वाणी विलास की धारा से कटकर, नारी की सर्वांगीण मुक्ति और उसके संघर्ष को कविताओं में उतारते हैं। यहाँ तक कि पातिव्रत धर्म के निर्वाह को भी वह नारी की दासता कहते हैं। छायावादी मकड़जाल और बच्चन जी के वाणी विलास पर तीव्र प्रहार करने वाली श्री सेवक की इन कविताओं ने उस दौर में तहलका मचा दिया था। आश्चर्य यह है कि उस दौर के शुद्ध साहित्यवादियों ने जो नारी को पुरुष प्रधान समाज के दायरे में रखकर उसे दुर्गा से लेकर झांसी की रानी के रूप में महिमा मंडित कर रहे थे, श्री सेवक के विरुद्ध वातावरण तैयार करने की साजिश करते रहे किन्तु प्रगतिवादी, इस कवि को प्रगतिशीलता का तमगा देने में आगे नहीं आए। यहाँ 'चिनगारी' की चर्चा आवश्यक हो जाती है। सन् 1943 में जब 'चिनगारी' का प्रकाशन हुआ तो इसमें प्रकाशित 'नारी' शीर्षक अतुकांत कविता की पहली पंक्ति ही चौंकाने वाली थी :-

युग-युग के कारागारों से नारी! तुम आजाद बनो अब

इस दौर में एक ओर जहाँ- 'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी' जैसी कविता लिखी जा रही थी, वहीं श्री सेवक लिख रहे थे :-

क्यूँ न तुम्हारा हो पुरुषों-सा ही स्वतंत्र व्यक्तित्व
क्यूँ न तुम्हारा हो पुरुषों-सा ही स्वतंत्र अस्तित्व
क्यूँ तुम पर रक्खा जाऐ इतना कठोर अनुशासन
करें तुम्हारी इच्छाओं का क्यूँ कोई संचालन

इतना ही नहीं, स्वतंत्रता आंदोलन के दौर में श्री सेवक ने 'नारी का क्रांतिगीत' लिखकर नारी के मुख से स्वयं कहलवाया था:-

नर से स्वतंत्र मेरी सत्ता मत कहो मुझे अबला नारी
लज्जा मेरा आभूषण है या मेरे उर की दुर्बलता
पतिव्रत मेरा जीवन या मेरे जीवन की असफलता
मैं नहीं पुरुष की परछाहीं, अनुगामिनि या आज्ञाकारी

मत कहो मुझे अबला नारी

एक अन्य कविता की पंक्तियाँ कुछ इस प्रकार हैं :-

तुम उतरो जीवन के रण में
आती है क्षय की गंध मुझे इस आकुल आत्म समर्पण में

जब 'चिनगारी' पर बात चली है तो फिर इस पर विस्तार से चर्चा क्यूँ न की जाए। चिनगारी ने श्री सेवक का बिल्कुल नया रूप काव्यजगत के सामने रखा था। चिनगारी एक ऐसी काव्य रचना थी जिसमें विद्रोह के स्वर समाए हुए थे। विद्रोह के स्वरों को अधिक प्रभावी और प्रवाहित करने के उद्देश्य से ही कवि ने रचनाओं को अतुकांत शैली में लिखा था। दूसरे शब्दों में विद्रोही स्वरों के मार्ग में बाधक छंद की लयबद्धता और काव्यगत साहित्य की अनिवार्यता के बंधनों को तोड़ दिया था। हिन्दी में अतुकांत कविता लेखन का यह प्रारम्भिक चरण था। इस पुस्तक का प्रकाशन साहित्य भवन प्रयाग ने किया था। प्रयाग जो उस समय साहित्य महारथियों का गढ़ था, इस पुस्तक ने वहाँ एक भयंकर विस्फोट किया। कवि ने यह पुस्तक 'हिन्दुस्तान के पढ़े-लिखे जाहिलों को' समर्पित की थी। समर्पण में यह शब्द लिखने के लिए प्रयाग के साहित्य महारथियों ने युवा सेवक को उद्दंड व्यक्ति समझकर इसके प्रति न केवल उपेक्षा का भाव बनाए रखा वरन् उसके विरुद्ध गुटबंदी की ऐसी साजिश रची जाती रही जो स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् तक कायम रही। इस पुस्तक में सत्तरह अतुकांत कविताएं हैं। इन सभी में कवि ने सामाजिक अन्याय को जिस रूप में अनुभव किया उस पर अपनी विद्रोहात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए यथास्थिति से विद्रोह प्रकट किया है। इसमें 'बिरला के प्रति' नामक कविता में बिरलामंदिर के निर्माण पर तीव्र शब्द प्रहार किया गया है। समाज को जड़ता में जकड़ने वाले तुलसीदास को भी नहीं बख्शा गया है। प्रगतिवादी आलोचक जब तुलसीदास को जन कवि घोषित कर रहे थे तब श्री सेवक ने तुलसीदास को संबोधित करते हुए लिखा था :-

बाबा तुलसीदास!
आपने इन भोले भक्तों की
पलकों से यह राम-राज्य का सुखमय मादक स्वप्न हटा लो
राम-राज्य है केवल अच्छी कहने भर की बात
राम-भरत के उच्च चरित्र
उज्ज्वल और पवित्र
लगते हैं कमरे में लटके प्राणहीन से चित्र
राम-नाम का आज विश्व में होता है व्यापार
दुनिया में हैं दया-धर्म के लाखों ठेकेदार

इसी प्रकार जब दिल्ली में निर्मित बिरला मंदिर के निर्माता श्री घनश्याम बिरला का यशोगान हो रहा था तब स्वयं महात्मा गाँधी ने भी श्री बिरला की धर्मपरायणता की सराहना की थी। प्रगतिवादी विचारक इस पूँजीवादी पाखंड के प्रति मौन थे। ऐसे में श्री सेवक का विद्रोही कवि जाग उठा। औपनिवेशिक दासता और सामंती उत्पीड़न से ग्रसित भारतीय जनता को दया, कला और कर्म का मर्म समझाने तथा धर्मभीरु जनमानस को लक्ष्मीनारायण की मूर्ति के सामने नतमस्तक कराकर, अधिकाधिक भाग्यवादी बनाने के उद्देश्य से बनवाए गए बिरला मंदिर पर लिखी कविता के अंत में कवि ने कहा :-

धन पर निर्भर है जो धर्म,
उसका मर्म,
समझ न पाएंगे हम निर्धन, भूखे, दीन-गँवार
गीता, वेद, पुराण
दर्शनों, उपनिषदों का ज्ञान
वहीं विचार सकेगा जो है भोजन से निश्चिन्त।

'चिनगारी' में कवि ने अपने पिछले स्वरूप का परित्याग कर बिल्कुल नया रूप धारण किया है। कवि का यह नया रूप किसी फैशन के तहत नहीं है, वरन उसकी संचेतना पर आधारित है। 'चिनगारी' में व्यक्त विद्रोह न मार्क्सवाद से प्रभावित है और न किसी राजनैतिक पार्टी की रणनीति से प्रेरित है। यह विद्रोह नितांत व्यक्तिवादी और उसके अंतरमन में हो रही वैचारिक क्रांति से प्रेरित था। इसी वैचारिक क्रांति ने श्री सेवक को छायावादी मकड़जाल और बच्चन की लीक से अलग कर दिया था। श्री सेवक की वैचारिक क्रांति का सिलसिला निरंतर चलता रहा। उनका विद्रोही भाव कभी समाप्त नहीं हुआ। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि सेवक जी का विद्रोही भाव अराजकतावादी नहीं था। किसी वाद विशेष से अपने को अलग रखकर उन्होंने वैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर मनुष्य को सम्पूर्ण रूप से स्वतंत्र देखना चाहा है। 'चिनगारी' के पश्चात की उनकी रचनाधर्मिता बुद्धिवाद से प्रेरित दिखाई पड़ती है।

इस प्रसंग में आश्चर्यजनक बात यह है कि प्रगतिवादियों ने श्री सेवक को प्रगतिवादी कवि के रूप में मान्यता कभी नहीं दी। प्रगतिवादी साहित्य में कहीं भी 'चिनगारी' का उल्लेख नहीं मिलता और न ही श्री सेवक के लेखन के विषय में मार्क्सवादी कलम कुठार चलाने वाले आलोचकों और समालोचकों ने कहीं दो शब्द लिखे हैं। आखिर क्या कारण था कि जब निराला और पंत तक को प्रगतिशील कवियों में शुमार किया गया तो 'चिनगारी' के कवि की उपेक्षा क्यूँ

की जाती रही। प्रश्न यह नहीं कि श्री सेवक को डा० राम विलास शर्मा और श्री अमृतराय ने प्रगतिवादी कवि होने का तमगा क्यूँ नहीं दिया? सवाल यह है कि सन् 1943 में प्रकाशित 'चिनगारी' को आलोचना के योग्य क्यूँ नहीं समझा गया। कारण यह भी रहा है कि श्री सेवक ने कभी किसी गुटबाजी को पसंद नहीं किया और न ही किसी वाद विशेष से अपना संबंध दर्शाने का प्रयत्न किया। एक खुद्दार तबियत लेखक के रूप में उन्होंने अपना स्वतंत्रत अस्तित्व बनाए रखने में सदैव सजगता का परिचय दिया। इसी कारण प्रगतिवादी आलोचक उनसे खिंचे रहे। जो भी हो 'चिनगारी' के प्रति प्रगतिशील चिंतक ईमानदार नहीं रहे। आज 59 वर्षों के पश्चात् भी यह आवश्यकता बनी हुई है कि चिनगारी का मूल्यांकन किया जाए।

प्रगतिवादी साहित्य की परम्परा जनवादी क्रांति में विश्वास रखती है। उसका प्रेरणास्रोत मार्क्सवाद रहा है। मुंशी प्रेमचन्द मार्क्सवादी इस रूप में नहीं थे कि उन्होंने अपने को गाँधीजी के आदर्शवाद से पूर्णतः मुक्त नहीं किया था। वह साम्प्रदायिकता विरोधी और साम्राज्यवाद तथा सामंती शोषण व्यवस्था के विरुद्ध थे। इसी आधार पर उन्हें प्रगतिशील लेखक के रूप में स्वीकारा गया। चिनगारी के कवि ने भी सामाजिक अन्याय, पराधीनता और जड़ता की स्थिति के विरुद्ध लेखनी उठाई है। भले ही कवि ने किसी जनक्रांति का आह्वान न किया हो तथा नवीन राजनीतिक आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था के लिए मार्क्सवाद की वकालत न की हो किन्तु क्या उसके विद्रोही स्वर उसके प्रगतिशील होने की दलील नहीं हैं?

स्वतंत्रता प्राप्ति के कुछ वर्षों के पश्चात् श्री सेवक ने स्वयं को बाल साहित्य सृजन से जोड़ लिया और कुछ ही वर्षों में वह एक स्थापित बाल साहित्यकार के रूप में विख्यात हो गए। बाल साहित्य की ओर उनका लगाव काफी पहले से रहा था किन्तु अपने को पूरी तरह बाल साहित्य से जोड़ देने के पीछे संभवतः कवि का वह खिन्न भाव रहा हो जिस पर ऊपर प्रकाश डाला गया है। यहाँ यह उल्लेख भी आवश्यक है कि श्री सेवक ने बाल साहित्य में प्रवेश केवल व्यवसायिक आधार पर नहीं किया। इस क्षेत्र में उनका एक सोच रहा है। हिन्दी में जिस प्रकार का बाल साहित्य लिखा जाता रहा है वह वस्तुतः प्रौढ़ लेखन है। इसमें आदर्श, उपदेश और परम्पराओं के सामने रखा गया है। बच्चों के मनोविकास के लिए आदर्शमूलक लेखन श्री सेवक की दृष्टि में बाधक है। उन्होंने बच्चों के लिए वह सब कुछ लिखा जिसे बच्चे समझ सकें-अनुभव कर सकें। ईश्वर, धर्म, नीति, सदाचार और उपदेशों को बच्चों पर थोपने वाले लेखन से उन्होंने सदैव परहेज किया। यही कारण है कि बाल साहित्य में श्री सेवक का अपना विशिष्ट स्थान है।

कविता क्षेत्र में श्री सेवक को कुछ साहित्यकारों ने लीक से हटकर चलने वाला कवि कहकर उनकी उपेक्षा की तो कुछ उन्हें कवि मानने में भी हिचकिचाते रहे। एक उदाहरण श्रीमती महादेवी वर्मा का है। अपनी युवावस्था में श्री सेवक कुछ मित्रों के साथ उनसे मिलने के लिए इलाहाबाद गए। मित्रों ने श्री सेवक का परिचय एक प्रगतिशील कवि के रूप में कराया तो महादेवी जी ने उपेक्षा दिखाते हुए कहा कि प्रगतिशील क्या होता है। आज के लड़के गाँव में जाकर कुछ पेड़-पौधों के नाम याद करके प्रगतिशील बन जाते हैं। यह था महादेवी जी का उपेक्षाभाव या यह छायावाद का दंभ था, यह प्रश्न श्री सेवक के मन को कुरेदता रहा हो- ऐसा कहा जा सकता है। शुद्ध साहित्य के पंडितों ने प्रेमचंद के लेखन पर भी उंगली उठाई थी। उनकी भाषा और शैली की आलोचना भी की गई थी। इसका मूल कारण शुद्ध साहित्यवादियों का प्रेमचंद के विचारों से मेल न होना था। ऐसे ही कुछ प्रयास उस काल में शुद्ध साहित्य के पंडितों ने श्री सेवक के विरुद्ध भी किए थे। उनका कहना था कि श्री सेवक के पास न भाषा है और न काव्यगत लालित्य है। 'चिनगारी' के प्रकाशित होने के पश्चात इन पंडितों ने इस कविता संग्रह को काव्यपुस्तक के रूप में लगता है स्वीकार ही नहीं किया। आश्चर्य तो यह था कि 'चिनगारी' की कविताएं जनता को नया सोच दे रही थीं, जबकि शुद्ध साहित्यवादी पंडित और प्रगतिवादी मठाधीश-दोनों ही न केवल 'चिनगारी' वरन कवि के सम्पूर्ण सृजन पर मौन साधे रहे। श्री सेवक संभवतः इस मौन को अपने विरुद्ध रची गई एक साजिश कहें, तो कदाचित गलत न होगा।

मैंने श्री निरंकार देव सेवक को काफी निकटता से देखा है। उन्हें जहाँ कवि के रूप में देखा और समझा है, वहाँ उन्हें एक सहृदय मित्र और स्वतंत्रता के पक्षधर एक विचारक के रूप में भी पहचाना है। वह परम्परावादी नहीं रहे और न ही किसी प्रकार का आदर्शवाद उन्हें प्रभावित कर सका। भाषा और शैली को उन्होंने लेखन में महत्व नहीं दिया। काव्यगत साहित्य के नाम पर कलाबाजियों को वह पसंद नहीं करते हैं। विचारों की सहज अभिव्यक्ति को उन्होंने महत्व दिया। कविता के शास्त्रीय पक्ष की प्रबलता ही शुद्ध साहित्य है- ऐसा उन्होंने स्वीकार नहीं किया। उन्होंने हृदय पक्ष की तुलना में बुद्धिपक्ष को प्रमुखता दी है। इसीलिए श्री सेवक के साहित्य को प्रचलित वादों से अलग यदि बुद्धिवादी साहित्य कहा जाए तो अधिक उचित होगा। उनकी कविताओं में जो वैचारिक क्रांति दिखाई पड़ती है, वह बुद्धिवाद पर आधारित लगती है। शिक्षित और बौद्धिक में अंतर है। शिक्षित व्यक्ति बुद्धिवादी हो, यह आवश्यक नहीं है जबकि अशिक्षित व्यक्ति बुद्धिवादी हो, यह संभव है। 'चिनगारी' को जब श्री सेवक ने हिन्दुस्तान के पढ़े-लिखे जाहिलों को समर्पित किया तो इसके पीछे यही भाव था। उस काल के शिक्षित वर्ग में व्याप्त जड़ता और विचारशून्यता पर श्री

सेवक का शब्द प्रहार उचित ही था। अपने विरुद्ध रची गई साजिश के बावजूद वह निरंतर लिखते आ रहे हैं। सस्ती प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए उन्होंने विचारों से कभी समझौता नहीं किया। आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व की घटना है। धर्मोन्मादियों की असहिष्णुता के संदर्भ में यह घटना मुझे प्रायः याद आती रहती है। यह घटना ऐसी थी कि जिसमें श्री निरंकार देव सेवक को अपनी क्रांतिकारी कविता के विरोध में उमड़े, धर्मोन्मादियों के शोर शराबे के बीच, अपने प्राण बचाने के लिए भागना पड़ा था। धर्म और अपनी आस्थाओं के विरुद्ध कोई बात न सुनकर तेज-तर्रार और बेकाबू हो जाने की फितरत कमोवेश सभी धर्मानुयाइयों में एक सी पाई जाती है। धर्म और मजहब के मानने वाले यह कहते हुए नहीं अघाते कि खुदा परस्ती और मजहब मनुष्य को सहनशीलता और बर्दाश्त का का माद्दा देता है किन्तु क्या व्यवहार में ऐसा देखा जाता है। ऐसी ही एक घटना का जिक्र करने जा रहा हूं। श्री निरंकार देव सेवक को आज केवल एक बाल साहित्यकार के रूप में जाना जाता है। उनके क्रांतिकारी एवं प्रगतिशील साहित्यक स्वरूप को देखने और जानने वाले व्यक्ति अब गिने-चुने ही रह गए हैं। जब प्रगतिवाद ने घुटनों के बल पर चलना आरम्भ किया था तब श्री सेवक प्रगतिवाद के राजनीतिक झंडाबरदारों के लिए एक चुनौती बन गए थे। उनका प्रगतिवाद किसी दल विशेष के राजनीतिक घोषणापत्र का संस्करण न होकर, बुद्धिवाद और सामाजिक संवेदनशीलता पर आधारित था। ऊपर जिस घटना का जिक्र किया है वह सन् 1945-46 के आसपास की है। मैं और श्री सेवक उन दिनों श्री एम०एन० राय की राजनीतिक पार्टी रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी से जुड़े थे। आज के वयोवृद्ध पुराने समाजवादी श्री आर०पी० वर्मा भी उन दिनों हमारे साथियों में थे। रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी ने उन दिनों मजदूर यूनियनों में काफी कार्य किया था। इंडियन फेडरेशन ऑफ लेबर इस पार्टी का मजदूर-विंग था। रेलवे मैंस फेडरेशन के नेता सुश्री मनीबेन कारा और श्री एम०एन० खाँ इसी मजदूर-विंग से जुड़े थे।

जिस घटना का मैं उल्लेख करने जा रहा हूं वह उस समय की है जब द्वितीय विश्वयुद्ध लगभग समाप्ति पर था तथा मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की मांग जोर पकड़ती जा रही थी। मजदूर यूनियनों में मुसलमान मजदूरों की प्रचुर संख्या थी तथा इन पर भी मुस्लिम लीग का फैलाया हुआ मजहबी जुनून प्रभाव दिखा रहा था। रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी का प्रान्तीय अधिवेशन बरेली में आयोजित किया गया था। अंतिम दिन समापन समारोह की जनसभा मोतीपार्क में की गई थी। सभा में मजदूरों ने भी भाग लिया था। सभा के प्रारम्भ में श्री सेवक से कविता सुनाने का आग्रह किया गया तो उन्होंने अपना प्रसिद्ध मजदूरों का गीत अथवा क्रांति गीत सुनाना आरम्भ किया। इस गीत की कुछ पंक्तियां

निम्न थीं-

व्यर्थ है अब मानना बातें मोहम्मद की बताई
राम के दरबार में अब हो नहीं सकती सुनाई

इन पंक्तियों के पढ़े जाने पर कुछ मुसलमानों की ओर से शोर शराबा हुआ। हिन्दी कविता होने के कारण मुसलमान उसका पूरा भाव ठीक से नहीं समझ पा रहे थे। भीड़ से आवाजें उठीं कि इन पंक्तियों को फिर से पढ़ा जाए। श्री सेवक यह समझे कि इन पंक्तियों को सराहा जा रहा है। उन्होंने अधिक जोर लगाकर इन पंक्तियों को गाकर पढ़ा। इसके बाद ही शोर शराबा बढ़ गया और पकड़ो-पकड़ो की आवाजें गूंजने लगी थीं। ऐसी स्थिति में श्री सेवक का मंच से हट जाना ही उचित समझा गया। शोर शराबे के कारण आशंकित श्री सेवक मंच के पिछले भाग से बाहर निकल गए और अपनी साइकिल पर सवार होकर प्राण बचाते हुए सीधे घर की ओर भाग खड़े हुए थे। अफरा-तफरी में सभा भंग हो गई। मुसलमान धर्मोन्मादी उन्हें इधर-उधर तलाश रहे थे।

मैं उस समय मंच के नीचे खड़ा था और हैरत के साथ बिगड़ते हुए हालात को देख रहा था। अचानक किसी ने पीछे से मेरी कमीज का कॉलर खींचा और मेरी पीठ पर दो अदद घूंसे जड़कर पूछा- बता यह कविता पढ़ने वाला कौन था। मैंने घबराकर पीछे मुड़कर देखा कि मेरा कॉलर जनाब बन्ने मियां साहब पकड़े थे और गजबनाक निगाहों से मुझे घूर रहे थे। इसी बीच श्री आर०पी० वर्मा मेरे पास आ गए। उन्होंने समझा-बुझाकर मुझे बन्ने मियां साहब के पंजे से छुड़ाया। यकीन जानिए कि यदि श्री वर्मा वहां न आ जाते तो श्री सेवक की जगह मुझे शहीद कर दिया गया होता। आप जानना चाहेंगे कि यह बन्ने मियां साहब कौन थे। तो सुनिए, यह साब थे नहीं बल्कि अभी हमारे बीच मौजूद हैं। इन दिनों बरेली महानगर कांग्रेस के वर्तमान अध्यक्ष मोहम्मद खालिद उर्फ बन्ने मियां ही वह बन्ने मियां थे जिन्होंने श्री सेवक के बदले मुझे पकड़ लिया था। उन दिनों यह हजरत कांग्रेस में नहीं थे बल्कि अंजुमन अहरार-उल-इस्लाम के सक्रिय कार्यकर्ता थे।

उपरोक्त प्रसंग से स्पष्ट है कि मजहबी जेहन किस कदर तंग होता है कि वह अपनी आस्था के विरुद्ध स्वतंत्र विचारों को सहन नहीं कर पाता। मजहब और धर्म अपने प्रचार-प्रसार की पूरी स्वतंत्रता चाहता है इसके लिए वह किसी कानून और विधि-विधान तक को स्वीकार करना नहीं चाहता किन्तु अपनी आलोचना की इजाजत देने में उसकी सहनशीलता और उदारता के आदर्शों का खजाना खाली हो जाता है। इसी संदर्भ में श्री सेवक के साथ गुजरी एक अन्य घटना भी याद आ रही है।

श्री सेवक वकालत करने से पूर्व अध्यापन भी कर चुके हैं। अपनी युवावस्था में वे बरेली के सरस्वती विद्यालय इण्टर कॉलेज में हिन्दी के अध्यापक रहे थे। संभवतः सन् 1944 की बात है। बिहारीपुर स्थित स्त्री सुधार महाविद्यालय में एक छोटा सा कवि सम्मेलन था जिसकी अध्यक्षता प्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता एवं समाज सेवी डा० श्याम स्वरूप 'सत्यव्रत' कर रहे थे। डा० साहब सरस्वती विद्यालय इण्टर कॉलेज के संस्थापक और व्यवस्थापक थे। इस कवि सम्मेलन में श्री सेवक भी निमंत्रित थे। मैं भी वहां श्री सेवक के साथ चला गया था। उपस्थित कवियों की धर्म और राष्ट्र आधारित कविताओं के पश्चात् श्री सेवक को कविता पाठ के लिए आमंत्रित किया गया। उन्होंने अपना प्रसिद्ध गीत - "देह दुर्बल, प्राण जर्जर, खिन्न मन मजदूर हैं हम" पढ़ा। इसी गीत की निम्न पंक्ति से अध्यक्ष महोदय गंभीर हो गए-

ओ धर्म के देवता! जड़ जुल्म की तेरे मिटाने- के लिए तातार हैं, चंगेज हैं, तैमूर हैं हम।

डा० श्याम स्वरूप सत्यव्रत यूं तो पूरी कविता धैर्य पूर्वक सुनते रहे किन्तु उनके चेहरे पर उतरते-चढ़ते भाग उनके आंतरिक रोष को प्रकट कर रहे थे। उनके विद्यालय का एक हिन्दी अध्यापक ऐसी धर्मविरोधी कविता लिखे और वह भी मुझे सुनाने का साहस करे- ऐसे ही विचार डा० साहब के दिमाग को परेशान कर रहे थे। आप जानना चाहेंगे कि श्री सेवक के इस धर्म विरोधी दुस्साहस का परिणाम क्या हुआ? तो सुनिए, दूसरे दिन जब श्री सेवक विद्यालय पहुंचे तो उन्हें नौकरी से निकाले जाने का हुक्मनामा दिया गया। यह था धार्मिक असहिष्णुता का दूसरा उदाहरण। आपत्ति थी, एक हिन्दी अध्यापक को धर्मनिष्ठ होना चाहिए न कि अधर्मी और नास्तिक। हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान की वही संकीर्ण भावना आज भी देश के धर्मोन्माद में व्याप्त है। विपरीत विचारों के आधार पर हम मानवीय संबंधों को तोड़ लेने तक में हिचकिचाहट नहीं दिखाते। यदि किसी की धर्म और ईश्वर में आस्था नहीं है तो क्या वह व्यक्ति मनुष्यता के मापदण्ड पर खरा नहीं उतर सकता। उन्हीं दिनों की एक तीसरी घटना भी याद आ रही है।

बड़े बाजार में कभी सत्य भण्डार पुस्तकालय हुआ करता था। इसके संचालक थे श्री सत्यदेव आर्य। उन दिनों हिन्दी साप्ताहिक वीर अर्जुन बहुत लोकप्रिय था। कवि और नाटककार चिरंजीत इसी साप्ताहिक में कार्य करते थे। यह वह काल था जब श्री सेवक की रचनाएं देश की समस्त प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती थीं। उनकी एक रचना-'तुलसीदास' वीर अर्जुन के मुख पृष्ठ पर प्रकाशित हुई। इसमें कवि ने तुलसीदास के विचारदर्शन पर

तीव्र प्रहार करते हुए लिखा था:-

तेरा जादू जाग रहा है सोता है संसार
कलाकार! तू मेरा भी स्वर होने दे साकार

विद्रोही भावनाओं से ग्रस्त इस कविता को पढ़कर किन-किन धर्मप्राण व्यक्तियों ने श्री सेवक की निन्दा की होगी, यह तो पता नहीं। अलबत्ता, सत्यदेव आर्य ने आग बबूला होकर मुझसे कहा था कि, यह व्यक्ति हिन्दू नहीं है। इसका सामाजिक बहिष्कार होना चाहिए। ऊपर से भले ही यह बात साधारण लगती हो किन्तु सत्यदेव आर्य की धर्मभीरुता निश्चय ही हमें कुछ सोचने की सामग्री भी देती है। स्वामी करपात्री जी ने बहुत वर्ष हुए हिन्दू समाज को कुछ नारे दिए थे जो आज भी मंदिरों और धार्मिक अनुष्ठानों में गूंजते हैं। प्रमुख नारा है- "धर्म की जय हो, अधर्म का नाश हो"। आखिर हम किस अधर्म का नाश करना चाहते हैं। बुद्ध का, चारवाक का, राहुल सांकृत्यायन का, आचार्य रजनीश का? आचार्य रजनीश जिन्हें आप शायद बहुत कम जानते हैं। अब इन्हें ओशो नाम दिया गया है। धर्मों के सब से प्रखर और प्रबल आलोचक ओशो रहे हैं। वह धर्म को नकार कर, धार्मिकता का प्रतिपादन करते हैं। उनकी धार्मिकता ईश्वर, कर्मकाण्ड, मिथक और पूर्वाग्रह से सर्वथा मुक्त एवं मानवीय संवेदनशीलता पर आधारित बंधन रहित सहजता की ऐसी अविरल धारा है जो निर्बाध गति से देश, काल और जाति की सीमाओं को पार करती चली जाती है। हम जानते हैं कि अधर्म का नाश करने वाले धर्मभीरुओं ने ओशो की चारित्रिक और वैचारिक हत्या करने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी।

इस प्रसंग में कार्ल मार्क्स का एक वाक्य याद आता है। उसने कहा था कि 'धर्म की आलोचना से ही समस्त आलोचनाओं का आरम्भ होता है।' धर्म और मज़हब आलोचक से घबराते हैं। यही उनकी कमजोरी है।

□□

कोरे कागज पर हस्ताक्षर करता हूँ

जय प्रकाश भारती

भारती जी बाल साहित्यकार और नई पीढ़ी के सचित्र मासिक 'नंदन' के सम्पादक हैं।

लगभग ढाई दशक पहले मैं 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में था। एक पुस्तक घर ले गया और पढ़ता ही गया जब तक खत्म न कर ली। हिन्दी बाल कविता पर पहली बार विस्तार से लिखा गया था। लेखक थे निरंकार देव सेवक। 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के अगले अंक में ही मैंने पुस्तक की समीक्षा लिख दी। पुस्तक में कई कमियों या त्रुटियों की चर्चा मैंने की लेकिन अंत में यह भी लिखा- "कोई भी विश्वविद्यालय इस पुस्तक पर सेवक जी को डाक्टरेट देकर गौरवान्वित हो सकता है।"

कुछ दिन बाद सेवक जी 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' कार्यालय मे आए। वह समीक्षा से अप्रसन्न थे लेकिन उन्हें गुस्सा करना आता नहीं। उसी दिन हम आत्मीयता के बंधन में ऐसे बंधे कि मित्रता प्रगाढ़ होती गई।

हिन्दी बाल-साहित्य के बारे में बार-बार छुटभइये और नासमझ लोग स्यापा करते रहते हैं और कहते रहते हैं कि हिन्दी बाल कविता में यह नहीं, वह नहीं। मैं जिम्मेदारी के साथ कहना चाहता हूँ कि बाल-कविता में पं० सोहनलाल द्विवेदी, निरंकारदेव सेवक और द्वारिकाप्रसाद माहेश्वरी ने जो कुछ और जैसा कुछ किया है, उसी से हिन्दी बाल-कविता विश्व स्तर तक जा पहुंची है। यह अलग बात है कि इन कवियों की रचनाएं अंग्रेजी या विश्व की अन्य भाषाओं में अनूदित न हो पाई हों।

मेरे मन में सेवक जी के लिए जो आदर और प्रेम है, शब्दों में उकेर नहीं सकता। और सेवक जी का कैसा अनोखा स्नेह आशीष मुझे प्राप्त है, यह कोई तभी जान सकता है, जब कभी हम दोनों साथ-साथ हों।

सेवक जी का जीवन सहज-सरल है और उनके सम्पूर्ण लेखन में भी अद्‌भुत सरलता और सरसता है। प्रयास करने पर भी मैं उन जैसा सरल नहीं लिख पाता। पद्य में ही नहीं, वह पत्र लिखेंगे तो एक छोटे वाक्य में ऐसा कुछ

कह देंगे कि बार-बार पढ़ने का मन हो। लगे कि लिखने वाला सामने खड़ा हो कुछ कह रहा है।

सेवक जी वकील हैं पर न जाने क्यों मुझे हमेशा गलतफहमी रही है कि जब चाहूँ कोरे कागज पर उनसे हस्ताक्षर करा लूँ। इसकी जरूरत नहीं पड़ी। पर वह किसी के साथ आधा घंटे रह लें तो उसे यही लगेगा। उनसे बार-बार मिलने पर भी मन नहीं भरता। खैर, मैं उनके लिए कोरे कागज पर हस्ताक्षर कर सकता हूँ, उसके ऊपर प्रशंसा के जो भी शब्द लिख जाएं, लिख लें - सेवक जी का चित्र फिर भी पूरा न हो पाएगा।

□□

हिन्दी के अलवलियप्पा

चन्द्रमोहन दिनेश

चन्द्रमोहन दिनेश ने कविता, कहानी और चित्रांकन के साथ ही भुवनेश्वर पर महत्वपूर्ण कार्य किया है। 'कथा प्रतिमान' के संपादक भी रहे हैं।

सन् 1943 में जब श्री निरंकार देव "सेवक" जी का तीसरा काव्य-संग्रह "चिनगारी" साहित्य भवन लि०, प्रयाग से प्रकाशित हुआ तो उसके 'समर्पण'ने साहित्य-जगत को अनायास ही चौंका दिया था। "हिन्दुस्तान के पढ़े-लिखे जाहिलों" को समर्पित इस काव्य-संग्रह ने सेवक जी की क्रांतिधर्मी प्रगतिशीलता को बखूबी रेखांकित किया था। सेवक जी यद्यपि बाल साहित्यकार के रूप में अधिक जाने जाते हैं किन्तु यह भी एक तथ्य है कि स्वतंत्रता-संघर्ष के दौरान उनकी प्रगतिवादी चेतना, राष्ट्र के प्रति उनके सरोकार तथा वैचारिक क्रांति के प्रति उनकी अटूट आस्था ने देश के नौजवानों में देश-प्रेम की नवीन चेतना का संचार किया था।

बाल-साहित्यकार के रूप में सेवक जी देश के प्रथम-पंक्ति के रचनाकारों में हैं। उन्होंने बच्चों के कोमल मन की प्रवृत्तियों का सघन तथा सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया था और अपनी बाल-कविताओं को वैज्ञानिक-दृष्टि तथा तार्किकता की सान पर चढ़ाकर अधिक संवेदनशील तथा यथार्थवादी बनाया था।

"वीणा" में प्रकाशित एक लेख में सेवक जी ने लिखा था कि बच्चों की दुनिया बड़ों की दुनिया से बिल्कुल अलग है। पहाड़, पेड़ या फूल जैसे बच्चों को दिखाई देते हैं, वैसे बड़ों को दिखाई नहीं देते। इसलिए बाल-साहित्य 'स्वयं बच्चा बनकर' लिखा जाना चाहिए।

बाल साहित्य के उद्भव और विकास पर टिप्पणी करते हुए एक भेंट के दौरान, सेवक जी ने बताया था कि "बाल-साहित्य लेखन सन् 1914 से ही प्रारंभ हो गया था। पं० राम नरेश त्रिपाठी ने बच्चों के लिए खूब लिखा और अच्छा लिखा। खूब छपा भी। उस दौर में तो बच्चों के लिए इतना लिखा गया कि एक पूरा काल-खण्ड बाल-साहित्य सृजन को ही समर्पित हो गया। यह अलग बात है कि इस दौड़ के चलते,

अति उत्साह में रचनाओं का स्तर भी कुछ गिरा। सायास लेखन में यह स्थिति कोई अस्वाभाविक भी नहीं है। उस दौर में लिखे गये बाल-साहित्य में यदि यह देखा जाय कि कितना साहित्य बच्चों के लिए उपयोगी तथा अंगीकृत किये जाने योग्य है, तो ऐसा साहित्य कम मिलेगा। कहानियों के क्षेत्र में बाल-साहित्यकारों ने प्रायः पुरानी कथाओं को ही पुनः प्रस्तुत कर दिया गया, नई या मौलिक कथायें कम ही लिखी गईं। इस प्रकार बाल-साहित्य का विकास तो हुआ लेकिन बहुत कारगर ढंग से नहीं।"

सेवक जी के अनुसार- "आवश्यकता इस बात की थी कि भारत सरकार ने जिस प्रकार और जिस समय 'साहित्य अकादमी' की स्थापना की थी, उसी प्रकार और उसी समय 'बाल साहित्य अकादमी' भी स्थापित की जाती और उसके द्वारा बाल-साहित्य के लेखन और प्रकाशन को महत्व दिया जाता तो ज़्यादा अच्छा रहता।"

बाल-सुलभ प्रवृत्ति के संदर्भ में सेवक जी का मानना था कि स्वतंत्रता की प्रवृत्ति बच्चों में स्वाभाविक और जन्म से होती है, बल्कि शायद बचपन में कुछ अधिक ही तीव्र होती है। उसके बाद ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता जाता है, उस पर अंकुश लगते-लगते यह प्रवृत्ति कम होती जाती है। उसकी स्वतंत्रता की प्रवृत्ति का ही एक अंग ज्ञान अर्जित करना भी है। अपनी जिज्ञासु-प्रवृत्ति के कारण बच्चा हर चीज को तोड़कर, फोड़कर, जोड़कर, किसी भी तरह से उसे समझना चाहता है। इन प्रवृत्तियों को जो उभारने वाली चीज है, वह बाल-साहित्य के लिए उपयोगी है।

अन्य भारतीय भाषाओं के बाल-साहित्य के संदर्भ में सेवक जी ने कहा था- "बंगाल में सबसे पहले और सबसे अच्छा बाल-साहित्य लिखा गया है। प्रारंभिक दौर के लेखकों में सत्यजित राय के पिता सुकुमार राय का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनका साहित्य वास्तव में श्रेष्ठ था। उनकी कुछ पुस्तकों के अनुवाद सत्यजित राय ने भी प्रकाशित कराये। गुजरात में एक "गीजू भाई" हुए हैं जिन्होंने बच्चों के लिए शिक्षा को एक नई दृष्टि दी और बच्चों के लिए सैकड़ों पुस्तकें लिखीं। इसी तरह तमिल के एक बहुत अच्छे लेखक हैं- अलवलिअप्पा, जो आधुनिक बाल-साहित्यकारों में सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। वहां की एक प्रथा थी कि पुत्र-जन्म पर कम से कम 4-5 हजार आदमियों को दावत देनी होती थी। अल वलियप्पा ने इस प्रथा का घोर विरोध किया और अपने यहां ऐसे अवसर पर, दावत में होने वाले व्यय के रुपयों से बच्चों के लिए एक पुस्तक छापी और दावत में जो सौ-दो सौ लोग आये, उनके साथ आने वाले बच्चों को वे किताबें बांट दीं। मलयालम का भी बाल-साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। बाल-पत्रिका "बाल-मनोरमा" वहां की श्रेष्ठ और सर्वाधिक लोकप्रिय पत्रिकाओं में से एक है।"

सेवक जी ने बाल-साहित्य का सृजन जीवन पर्यन्त, पूरी गंभीरता से और बच्चों के बौद्धिक विकास को दृष्टि में रखते हुए रोचक, मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक तथा सरल-सुगम शैली में किया। उनकी कविताओं में कल-कल करते झरनों का सा प्रवाह

है। बाल-कविताओं में रोचकता उनकी अनिवार्य शर्त थी। उन्हें शिकायत थी कि बच्चों की पाठ्य पुस्तकों में जो कवितायें सम्मिलित होती हैं उनमें रोचकता का अभाव रहता है जबकि इस कार्य के लिए बाकायदा एक चयन-समिति होती है। समिति में शिक्षाविद् तो होते हैं लेकिन बाल-साहित्यकार नहीं होते, जबकि उन्हें भी शामिल किया जाना चाहिए।"

बच्चों की कल्पनाशीलता अद्भुत होती है। खेल-खेल में उन्हें अनेक ऐसी कवितायें याद हो जाती हैं जो उनके माता-पिता ने भी अपने बचपन में सुनी या कहीं थीं। "हरा समुंदर गोपी चंदन.." या "बोलो गंगा जी की जै, लड्डू चार, कचौड़ी छै" जैसी कवितायें इसी श्रेणी की कवितायें हैं। "कोड़ा जमाल खाई, पीछे देखो मार खाई" जैसी कवितायें पचास से भी अधिक वर्षों से बच्चों की जुबान पर रही हैं। अलिखित लोक-साहित्य की भाँति ऐसी कवितायें भी पीढ़ी-दर-पीढ़ी बच्चों के होठों से स्वतः ही हस्तान्तरित होती रही हैं। प्रारंभ के छः-सात दशकों तक ऐसी कविताओं की बेल खूब फलती-फूलती रही, लेकिन बाद के दशकों में, जब हमारे देश के प्राथमिक स्कूलों में कानवेन्ट पद्धति का श्रीगणेश हुआ, ऐसी कवितायें हाशिये पर निःशब्द जाने लगीं और आज इनका स्थान नर्सरी राइम्स, इंगलिश पोइम्स तथा "टू वन जा टू, टू टूजा फोर" जैसी कविताओं ने ले लिया है।

तथ्य यह है कि बच्चे मनमानी तुकबंदी कर सकते हैं, करते भी हैं लेकिन उनकी कल्पनाशीलता का भरपूर उपयोग होने या उसके प्रोत्साहित होने जैसी स्थितियाँ अब हमारे यहाँ कम रह गई हैं। इसका एक कारण यह भी है कि हमारे देश में बच्चों की स्वतंत्रता का वातावरण पहले जैसा नहीं रहा है। जिन बच्चों की पीठ पर इतनी भारी-भारी पुस्तकों का बोझ लाद दिया जाए, उनसे ऐसी कविताओं के सृजन की आशा कैसे की जा सकती है। वे न तो मन से स्वतंत्र होते हैं, न तन से। परिणामतया ऐसी रसभरी कवितायें धीरे-धीरे दम तोड़ने लगी हैं।

सेवक जी ने एक बातचीत में कहा था- "बच्चे जिन कविताओं को किताबों या पत्रिकाओं में पढ़ते हैं, तो पढ़ने के साथ ही उनकी दृष्टि भी बदल जाती है। वे तो यह कहते हैं कि हम "पढ़" रहे हैं। पढ़ने का एक निश्चित उद्देश्य उनके मन में रहता है अर्थात् उस समय उनके मस्तिष्क में स्वतंत्रता जैसी कोई बात नहीं रहती। यदि बच्चे लयपूर्वक कवितायें पढ़ें तो वे मस्तिष्क पर बिना अतिरिक्त बोझ के, न केवल उनका मनोरंजन करेंगी वरन् उन्हें स्वतः ही कंठस्थ भी हो जायेंगी। पं० श्री नारायण चतुर्वेदी कहते थे कि लंदन में नर्सरी राइम्स पर स्कूलों में बहुत जोर दिया जाता है क्योंकि उनकी लयात्मकता बच्चों के मन-मस्तिष्क में पैठ जाती है और उन्हें अपना जीवन संतुलित बनाये रखने में भी सहायक होती है।"

बाल-साहित्य लेखन सरल नहीं है। रचनाकार को बाल-सुलभ भोली और चंचल, दोनों ही प्रकार की दृष्टि की आवश्यकता पड़ती है। सेवक जी ने बाल-साहित्य



सृजन में इन सबका ध्यान रखा है। उन्होंने अपने जीवनकाल में हजार से अधिक कवितायें लिखीं, चालीस-पचास बाल-कविता संग्रह प्रकाशित हुए लेकिन उनकी कविताओं में सरसता तथा सुगम्यबोधता का अभाव कहीं नहीं दिखता है। उन्होंने कहानियों के माध्यम से बच्चों के अंधविश्वासों को झुठलाते हुए समग्र वैज्ञानिक दृष्टि से घटनाओं को चित्रित किया। चाहे रामायण की कथायें हों या महाभारत की, परियों की कथायें हो या जादू-टोने की, उन्होंने कथानकों को विज्ञान की तार्किकता की कसौटी पर कसकर उन्हें बच्चों के समक्ष रखा है ताकि वे कोरी कल्पनाओं के लोक में न भटकते रहें। प्राचीन भारत के गौरवशाली पात्रों की गाथाओं को उन्होंने महिमा मंडित तो किया लेकिन पूरी तार्किकता के साथ। पात्रों को मनुष्य के रूप में चित्रित किया, अतिमानव के रूप में या महामानव के रूप में नहीं।

यह दुहाई बार-बार दी जाती है कि बच्चे हमारे देश का भविष्य हैं, हमारी इसी भावी पीढ़ी पर देश का भविष्य टिका है। लेकिन इस भावी पीढ़ी को अच्छे संस्कार, देशप्रेम की भावना, मनुष्यत्व की भावना, धर्मनिरपेक्षता की भावना, स्वावलम्बन, स्वाभिमान की भावना से समादृत करने के लिए उन्हें उनका साहित्य दिये जाने की आवश्यकता अभी भी है।

दिलचस्प बात है कि आज बाल-साहित्य प्रचुरता से लिखा जा रहा है, बाल-पत्रिकाओं की भी हमारे देश में कमी नहीं है, किंतु बाल-रचनाकारों को अभी भी कुछ हेय दृष्टि से देखा जाता है। हम चाहते जरूर हैं कि बच्चों को अच्छा साहित्य मिले, उनमें अध्ययनशीलता की प्रवृत्ति जागृत हो; दृश्य-मीडिया से उत्पन्न खतरों से भी हम अनजान नहीं, लेकिन बच्चों के लिए लेखन को अपने कर्तव्य या दायित्व के रूप में स्वीकारने वाले प्रतिबद्ध रचनाकारों की कमी अभी भी है।

सेवक जी ने आने वाले समय के इस संकट को कदाचित भांप लिया था। इसलिए उन्होंने अपनी बौद्धिकता तथा प्रतिभा का सर्वाधिक इस्तेमाल बच्चों के लिए लेखन में किया। बाल-साहित्य को समृद्ध करने में सेवक जी का अवदान निःसंदेह सदैव याद किया जाएगा।

□□

वे मुझे प्रेरित करते रहे

शिव कुमार गोयल

(प्रसिद्ध पत्रकार शिवकुमार गोयल पिलखुआ में रहते हैं। वे भक्त रामशरण दास के सुपुत्र हैं)

आदरणीय सेवक जी से सबसे पहले मेरा साक्षात्कार बच्चों की लोकप्रिय पत्रिका "नंदन" (हिन्दुस्तान टाइम्स प्रकाशन) के नई दिल्ली स्थित कार्यालय में भाई जयप्रकाश भारती ने कराया था। भारती जी ने जब परिचय कराया था तो मैं सेवक जी के चरणों में नतमस्तक हो उठा था क्योंकि उनके द्वारा रचित बाल गीत तथा अन्य रचनाओं से मैं काफी अरसे से परिचित था तथा उनसे प्रेरणा लेता रहा था।

सेवक जी ने भी मुझे समय-समय पर मेरी क्रांतिकारियों के सम्बन्ध में लिखी रचनाओं को सराह कर मुझे प्रोत्साहित किया था। इसके उपरान्त "अमर उजाला" से संस्थापक तथा प्रख्यात पत्रकार श्री मुरारी लाल माहेश्वरी ने जब दिल्ली के कुछ पत्रकारों को अपने ज्येष्ठ पुत्र अतुल माहेश्वरी के विवाह में बरेली आमंत्रित किया तो मैंने तथा भाई जयप्रकाश भारती ने कार्यक्रम बनाया कि बरेली में आदरणीय निरंकार देव सेवक जी से अवश्य भेंटकर उनका सत्संग लाभ अवश्य उठायेंगे।

बरेली पहुंचते ही भारती जी तथा मैं श्री कैलाश निगम को साथ लेकर सेवक जी के निवास पर पहुंचे। उन्होंने बड़ी आत्मीयता के साथ हमें अनेक संस्मरण सुनाये तथा बाल-साहित्य के बारे में विस्तार से चर्चा कर हमें लाभान्वित किया।

"जनसत्ता", "नवभारत टाइम्स" तथा "हिन्दुस्तान" आदि के बालकों के पृष्ठों पर जब मेरे कुछ बालगीत प्रकाशित हुए तो सेवक जी मुझे आशीर्वाद भेजना नहीं भूले। बालगीत तथा बाल-साहित्य के लेखकों को वे समय-समय पर मार्गदर्शन करते रहे।

सेवक जी ने बाल गीत लेखकों पर तो बहुत महत्ववूर्ण शोध कार्य किया है। एक बार उन्होंने मुझे लिखा था, "मेरठ के स्व० मदनगोपाल सिंहल ने बहुत



से बालगीत लिखे थे। उन्होंने "बालवीर" नाम से बाल पत्रिका भी निकाली थी। उनकी पुस्तकें, परिचय तथा चित्र भेंजे।"

मैंने उन्हें तमाम सामग्री जुटा दी। उसका उन्होंने अपने ग्रन्थ में सदुपयोग किया। साथ ही मुझे आभार भेजना नहीं भूले। यह उनकी उदारता तथा स्नेह का ही पारिचायक है।

एक याद

नारायण दत्त

नारायण दत्त जी 'नवनीत' व प्रेस ट्रस्ट ऑफ इण्डिया की हिन्दी फीचर सेवा में सम्पादक रहे। पहले मुंबई में थे, अब बंगलौर में रहते हैं।

कवि निरंकार देव सेवक साल में दो-तीन बार 'नवनीत' को स्वयं ही याद कर लेते थे और स्वच्छ-सुडौल अक्षरों में लिखी कोई कविता भेज देते थे, जो आदर के साथ छपती थी। कभी काफी समय तक उनसे कुछ न मिले तो मैं ही पत्र लिखकर तकाजा करता और फौरन उनकी कविता आ जाती। दो-एक बार ऐसा हुआ कि उनके यहां से वही कविता दुबारा आ गयी, जो कुछ समय पहले आयी थी और छप भी गयी थी। मैंने जरा मजाक के मूड में उन्हें लिखा कि आप अनुमति दें तो मैं एक रजिस्टर भेज दूं जिसमें यह दर्ज किया जाता रहे कि कौन सी कविता किस पत्र या पत्रिका को भेजी गयी। उनका जो उत्तर आया उसका आशय था - आप रजिस्टर तो भेज देंगे, मगर उसमें ये सब जानकारियां दर्ज कौन करेगा?

□□

सेवक जी के कुछ पत्र

प्रस्तुति : सुधीर विद्यार्थी

पत्रों के विशाल संग्रह में सेवक जी के अनेक पत्र तलाश करने पर नहीं मिले। उपलब्ध पत्रों को हम क्रमवार यहां प्रस्तुत कर रहे हैं।

185, सिविल लाइन्स बरेली - 243 001
7.12.80

प्रिय भाई,

आपका पत्र मिला। आप एक पत्रिका का प्रकाशन शीघ्र करने वाले हैं और उसके लिए आपको मन्मथनाथ गुप्त और जयदेव कपूर जैसे क्रांतिकारियों का सहयोग प्राप्त है, यह जानकर प्रसन्नता हुई। मैं कोई वैसा क्रांतिकारी नहीं हूं। पर क्रांतिकारियों का मित्र और वैचारिक क्रांति का समर्थक अवश्य रहा हूँ। इसलिए एक क्रांतिकारी भावना का गीत "अंगारों का गीत" प्रकाशनार्थ भेज रहा हूं। गजलें फिर कभी भेजूंगा। साथ ही एक मुक्तक है मेरे मित्र रघुनाथ सहाय 'वफा' का। वह भुवनेश्वर के मित्र और शाहजहाँपुर के ही रहने वाले हैं।

मेरी सद्‌भावनाएं आपके साथ हैं।

आपका- **निरंकार देव सेवक**

(2)

बरेली 13.11.82

प्रिय भाई,

आपका पत्र मिला। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि भाई रामसिंह जी 1946 के नाविक विद्रोह पर कोई आयोजन आगरा में कर रहे हैं। "नवनीत" के नवम्बर-दिसम्बर 1971 के वह अंक जिनके विषय में आपने लिखा है, नहीं है। लोग पढ़ने के लिए ले जाकर वापस नहीं करते और मैं हूँ कि किसी को मना न करने की आदत से बाज नहीं आता। मैं पता लगाने की चेष्टा करुँगा। कहीं किसी के पास वह अंक रक्खे हों।

आप क्या बंबई गए थे। क्या भाई नारायण दत्त जी आपको मिले थे।

कैसे हैं वे। उनका वर्तमान पता मुझे लिख भेजें तो अनुग्रहीत होऊँगा।

सद्भावनाओं सहित..!

आपका- **निरंकार देव सेवक**

(3)

बरेली/ 21.11.85

प्रिय भाई,

आपका पत्र मिला था। मेरा लेख "गौहाटी यात्रा" आपको पसन्द आया। प्रसन्नता हुई। मैंने उसे "अमर उजाला" को दे दिया है। शायद प्रकाशित करें... आपने एक बार "धर्म और राजनीति" पर एक लेख भेजने के लिए लिखा था। अब अधिक तो नहीं एक छोटा-सा लेख लिखकर भेज रहा हूं। इसे आप कहीं भी प्रकाशित करें। विचारों में कुछ आन्दोलन तो होगा ही।

आशा है आप सानन्द होंगे।

आपका- **निरंकार देव सेवक**

(4)

बरेली/5.1.86

प्रिय भाई,

यह नया वर्ष आपके और सब इष्ट मित्रों सहित परिवार जनों के लिए शुभ और मंगलमय हो।

"संदर्श" का मिथलेश्वर अंक प्राप्त हुआ था। पढ़कर बहुत अच्छा लगा। आपने मिथिलेश्वर के संपूर्ण व्यक्तित्व को उजागर करके रख दिया है। सभी लेख अच्छे लगे और कहानी भी। आपके सुरुचिपूर्ण संपादन के लिए साधुवाद मेरे कृतित्व पर दो शोध छात्र काम कर रहे हैं। कभी-कभी आते हैं। एक लेख दक्षिण भारत की साहित्यिक यात्राओं पर लिखा है अभी। स्वास्थ्य कुछ यों ही है।

सस्नेह!

आपका- **निरंकार देव सेवक**

(5)

बरेली/5.2.87

प्रिय सुधीर जी,

आपका पत्र मिला। आप अपने पुत्र का दाखिला कराने के लिए देहरादून गए थे। आपके पुत्र को बोलने का संकट है यह आपने कभी बताया नहीं। क्या आयु है आपके पुत्र की। इसका इलाज करने वाले एक विशेषज्ञ डॉक्टर इलाहाबाद में हैं... डॉ० एस०के० कुलश्रेष्ठ १०, लूथर रोड, जार्ज टाउन, इलाहाबाद। आप उन्हें एक पत्र लिखकर देखें। मेरा भी उल्लेख उसमें कर दें। मेरे पुराने मित्र हैं। मनोविज्ञान केन्द्र के रिटायर्ड डाइरेक्टर हैं। बड़े विद्वान हैं। मैंने उन्हें पंजाब तक इलाज करने के लिए जाते देखा है। आप सब हाल लिखकर देखें तो अवश्य और वह कहें तो एक बार इलाहाबाद जाकर दिखा भी आयें।

आप एम०एन० राय के निवास तक भी हो आये। पुरी साहब आपको वहां मिले नहीं। वह होते तो बहुत-सी बातें उनके विषय में बताते। उनके जन्म शताब्दी वर्ष में डाक टिकट जारी होने, एक फिल्म बनने आदि के अतिरिक्त जो सबसे बड़ा काम हो रहा है वह कि उनका सारा लेखन ऑक्सफोर्ड प्रेस से कई खण्डों में प्रकाशित हो रहा है। आपका यह कहना बिल्कुल ठीक है कि हिन्दी में उनकी पुस्तकों का अनुवाद नहीं हुआ। इसलिए हिन्दी वाले उन्हें कम ही जान पाये। पर उनका चिन्तन और लेखन अब भी दुनिया को मार्ग दिखाने वाला है। गांधी से भिन्न होते हुए भी यह दो ही व्यक्ति ऐसे हैं जो आज भी स्वतंत्र मानवता को कुछ नई दृष्टि दे सकते हैं वह चाहें रूस और चीन हों या अमरीका और ब्रिटेन। मैं उनकी किसी पुस्तक का अनुवाद नहीं कर सका इसका दुःख रहा। अपना ही लेखन इतना रहा। और अब तो हाथ-पांव भी शिथिल हैं। एक नया काम अब एक वृहद् विश्व ज्ञान कोश तैयार करने का आ पड़ा है। उसे लेने में संकोच कर रहा हूं क्योंकि कुछ लगनशील साथी उसके लिए चाहिए।

राय किसी को रायवादी बनाने में विश्वास ही नहीं करते थे। अपना दल भी तो उन्होंने स्वयं अपने चिन्तन के आधार पर जोड़ दिया था। इससे उनके कुछ साथी ही नाराज हैं। वीरेन्द्र पाण्डे से भी आप मिले थे। वह तो क्रांतिकारी भी रहे थे। उनके भाई सुरेन्द्र पाण्डे के बारे में भी बातें हुई होंगी। कैसे हैं वह हो सके तो लिखियेगा। राहुल जी के भी कुछ संपर्क में आने का अवसर मुझे मिला था। उन्होंने मेरी क्रांतिकारी रचनाएं एक बार सुनी थीं। उनका एक पत्र मेरी धरोहर है।

आप देहरादून यात्रा पर एक लेख तैयार कर रहे हैं यह बहुत अच्छा है। भुवनेश्वर पर हो सका तो कभी लिखूँगा। कभी बरेली आएं तो अवश्य मिलियेगा। हो सके तो देश के वैचारिक क्रांतिकारियों पर एक विशेषांक निकालिये। उसमें गांधी, राय, राहुल, नजरुल इस्लाम, शरदचन्द्र आदि अनेक लोग आ सकते हैं।

सस्नेह!

आपका- **निरंकार देव सेवक**

(6)

बरेली/22.3.87

प्रिय भाई विद्यार्थी जी,

आपका पत्र मिला था। अग्रलेख "त्यागपत्र की मांग" के सम्बन्ध में। अच्छा होता कि यह पत्र आप सीधे "अमर उजाला" को लिखते तो इसके

प्रकाशित होने पर अन्य पाठकों की प्रतिक्रियायें भी ज्ञात होतीं। उस वाक्य का यह अर्थ नहीं था कि मैं सिद्धांत रूप से अहिंसा या हिंसा में विश्वास करता हूँ। इतिहास का एक तथ्य प्रसंगवश उसमें कह दिया गया था। भगतसिंह भी अहिंसा के पक्षधर नहीं थे। ऐसा होता तो वह लाला लाजपतराय की मृत्यु के कारण साण्डर्स पर गोली क्यों चलाते। गोली उन्हीं ने चलाई यह नहीं भी हो सकता है। पर जो तीन युवक गोली चलाकर डीएवी कालिज में घुस गए थे उनमें एक वह भी थे। उद्देश्य समाजवाद लाना होने से ही किसी एक या अनेक हत्याओं को उचित नहीं कहा जा सकता। किसी वास्तविक क्रांति से पूर्व वैचारिक क्रांति की अनिवार्य आवश्यकता को देखते हुए समय से पहले ही हत्यायें सफल क्रांति को भी प्रतिक्रांति में बदल दे सकती हैं। इसीलिए भारत में भी वैचारिक क्रांति के अभाव में जो हिंसक क्रांति लाने के प्रयास किए गए वह भी एक कारण थे जिनसे क्रांति प्रतिक्रांति में बदल गई। और गांधी बाद में आने वाली क्रांति के नेता बन बैठे। यह सिद्धान्त रूप से अहिंसा को मानने वाले बनते थे। भगतसिंह को फांसी देने से उनके प्रति हिंसा होने वाली थी। इसीलिए गांधी को उनका प्रतिरोध करना चाहिए था।

हिंसा या अहिंसा में से कोई एक किसी का जीवन दर्शन नहीं हो सकता। सामाजिक क्रांति के लिए यदि हिंसा का सहारा लेना पड़ता है तो भी उससे पूर्व समाज में एक वैचारिक क्रांति लाने की अनिवार्यता से इन्कार नहीं किया जा सकता। उसके बिना वह अधूरी क्रांति होगी और वह प्रतिक्रांति में बदल सकती है या क्रांति की धारा को ही अवरुद्ध कर सकती है। इसलिए क्रांति हिंसक हो या अहिंसक, वह हो सम्पूर्ण, तभी वह समाज में कोई स्थायी परिवर्तन ला सकती है। और फिर एक ऐसे सतत परिवर्तन की प्रक्रिया को उन्मुक्त कर सकती है। स्थायी होकर हर क्रांति प्रतिगामी बन सकती है।

आपने चाहा था तो अभी इतना ही पर्याप्त है। फिर कभी इस पर लंबी बात हो सकती है। क्रांतियों के इतिहास से बहुत से सबक लिये जा सकते हैं।

शेष फिर। आशा है आप सानन्द होंगे।

आपका ही- **निरंकार देव सेवक**

(7)

बरेली/22.5.87

प्रिय भाई विद्यार्थी जी,

आपका पत्र मिला। लेख के बारे में डंगवाल से बात कर देखूँगा। अभी तो आप जून के प्रलेस सम्मेलन की तैयारियों में व्यस्त होंगे। राजेन्द्र च्यवन भी एक दिन आए थे। उसी अवसर पर विचार गोष्ठी रखने को कह रहे थे। मैं उसमें आने का प्रयत्न अवश्य करुँगा। वैचारिक क्रांतिकारियों पर "संदर्श" का

विशेषांक उसके बाद ही निकालेंगे न? भुवनेश्वर के संस्मरण और उसके लिए जो सहायता सुझाव होंगे मैं आपको अवश्य दूँगा।

मेरे ऊपर एक अलग अंक की जो बात आपने लिखी है उसके सम्बन्ध में कभी फिर बातचीत होगी।

सस्नेह!

आपका- **निरंकार देव सेवक**

(8)

बरेली/8.6.87

प्रिय भाई विद्यार्थी जी,

आपका और च्यवन जी का पत्र एक साथ अभी मिले। जैसा कि आपने लिखा है उसी एक्सप्रेस से साढ़े चार बजे यहां से चलकर 6 बजे शाहजहाँपुर पहुंचने का प्रयत्न करुँगा। वहां स्टेशन पर आप मिल जायेंगे तो मुझे सुविधा ही रहेगी। रात में सोने की व्यवस्था आप कहीं कर ही देंगे। अगले दिन प्रातःकालीन गोष्ठी के बाद मुझे स्याल्दह पर बैठा दें तो लौट आकर जो लेख देना है दे सकूँगा। बाकी, आपसे मिलने पर बातें होंगी।

सस्नेह!

-**निरंकार देव सेवक**

(9)

बरेली/18.11.87

प्रिय भाई विद्यार्थी जी,

समारोह में मैं नहीं आ सका था पर अमितेश जी से उसकी सफलता के बारे में जानकर बहुत प्रसन्नता हुई। वह "संदर्श" का हृदयेश विशेषांक भी दे गए थे। सारा पढ़ गया। बहुत अच्छा लगा। बड़ी सुरुचि से इसे आपने संपादित करके निकाला है। हृदयेश जी के व्यक्तित्व को आपने उभारकर सामने रख दिया। व्यक्तित्व का धनी हुए बिना कोई लेखक लेखक हो ही नहीं सकता। वादों के चक्कर में फंसे लेखक प्रायः व्यक्तित्व रहित भी होते हैं। आपका यह विशेषांक साहित्य प्रेमियों के लिए एक संग्रहणीय निधि होगा। च्यवन जी कैसे हैं।

सस्नेह..!

-निरंकार देव सेवक

(10)

बरेली/9.6.88

प्रिय भाई,

आपका पत्र मिला। आपका भाई और पिता अच्छे झंझट में फंस गए। आप वकीलों से परामर्श कर जो हो सके कार्यवाही करायें। और मामले को

हाईकोर्ट में ले जाकर वहां से खत्म कराये। ऐसे फर्जी मामले वहां जल्दी और ठीक सुलझते हैं। पत्रों में प्रकाशन से क्या होगा। मुकदमे से निबटना है तो अदालत के द्वारा ही हो सकेगा। वैसे आप मुझे बतायें। मामला कहां क्या दर्ज कराया है। उसे प्रारम्भ से ही देखना अधिक ठीक होगा। आपकी इस परेशानी से मुझे दुख है। आप जब भी यहां आ सकेंगे आपको जो राय होगी दे सकूँगा। घबराइयेगा मत।

सस्नेह!

-निरंकार देव सेवक

(11)

बरेली/25.9.88

प्रिय भाई सुधीर जी,

आपके पिछले पत्र का उत्तर न दे पाया था कि दूसरा मिला। पहले भी आपने "अमर उजाला" के सम्पादकीय लेखों की प्रशंसा की थी। उसे तो आप "अमर उजाला" के सम्पादक के नाम लिखें। लोग कहते हैं कि लेख विचारोत्तेजक होते हैं।

रहबर जी की भगतसिंह पर लिखी पुस्तक से आपको अपने पिछले पत्र की याद आई जिसमें आपने अहिंसा को सिद्धान्त रूप से अपनाने के विषय में मेरे विचार पूछे थे। गांधी और बुद्ध ने अहिंसा को सिद्धान्त रूप से अपनाने पर बल दिया था। मानव समाज को उन्नत और विकासशील बनाने के लिए यह अच्छा सिद्धान्त है इसमें दो राय नहीं दे सकती। हिंसा रहित समाज में ही मनुष्य निर्भय होकर रह सकता है। इस दृष्टि से भगतसिंह आदि को गुमराह कहा जा सकता है पर वास्तव में ऐसा है नहीं। मानव समाज को स्वतन्त्र और निर्भीक बनाने के लिए ही उन्होंने हिंसा का मार्ग अपनाया था। इस मार्ग पर चलने की आवश्यकता इसलिए हो जाती है कि समाज के ही अभिन्न अंग प्रशासन, सेना और पुलिस भी है जो कानूनन हिंसक बने रहने का अधिकार लिए हुए हैं। उनके हथियार उनके ही विरुद्ध प्रयोग न किए जायें तो वह अपना हिंसक रूप कैसे छोड़ सकते हैं। अब से 50 वर्ष पूर्व गांधी से पूछा गया था- "कांग्रेस शासक बन बैठने के बाद बल प्रयोग के बिना कैसे काम चला सकेगी।" तो गांधी जी ने कहा था- "शासन के लिए सेना और पुलिस तो आवश्यक होते ही हैं और जब कर्मचारी काम पर न जाएं तो बल प्रयोग करना ही होगा।" "तब फिर आपका अहिंसा का सिद्धान्त?" इस पर गांधी जी ने कहा था- "अहिंसा में एक जीवित विश्वास के बिना शासन से सेना और पुलिस को निकाल नहीं फेंका जा सकता।" इसका अर्थ है कि अहिंसा एक ऊँचे आदर्श की कल्पना है और हिंसा यथार्थ। दूसरी बात इससे यह भी पैदा होती है कि अहिंसा समाज में केवल उनके लिए है जो शासित और इसलिए शोषित हैं। शासक और शोषक पर वह सिद्धान्त लागू नहीं। अहिंसा यदि

जीवन दर्शन है तो सबके समान रूप से अपनाने के लिए होना चाहिए। फिर शासन का बल प्रयोग कम होता जाये ऐसा भी तो नहीं है। उसके हिंसक होने से जनता अहिंसक कब तक रह सकती है? इन सब प्रश्नों के उत्तर सामाजिक राजनीतिक संगठन, मनुष्य की प्रकृति और स्वभाव के अध्ययन के आधार पर ही दिये जा सकते हैं धार्मिक विश्वासों के आधार पर नहीं। आशा है इस चर्चा को आप किसी लेख में आगे बढ़ायेंगे।

रघुनाथ सहाय 'वफा' का अभी अभिनन्दन हुआ था। यह भुवनेश्वर के संपर्क में रहे थे। शाहजहांपुर के हैं। उनका पता है- मकान स्वर्गीय गिरीश भारती एडवोकेट निकट आर्य समाज, भूड़, बरेली। आपने शहीद अशफाकउल्ला पर जो पुस्तक लिखी है उसके अंश "अमर उजाला" में प्रकाशित कराइये।

सस्नेह..!

-निरंकार देव सेवक

(12)

बरेली/15.2.87

प्रिय भाई सुधीर विद्यार्थी,

आपकी पुस्तक "शहीद अशफाकउल्ला" जब उठाकर पढ़ना प्रारम्भ की तो उसे पूरा पढ़े बिना बीच में छोड़ न सका। इसे आपके लेखन की सफलता ही कहा जायेगा। आपने इसे लिखकर शहीदों के इतिहास की एक बड़ी कमी को पूरा किया है। देश पर मर मिटने का उन शहीदों में जो उत्साह था, वह रोमांचकारी है। युवकों में उत्साह भरने वाली यह पुस्तक लिखने के लिए आप बधाई के पात्र हैं।

आप उस दिन बहुत थोड़ी देर के लिए आये। पांचाल इतिहास परिषद् का वार्षिक समारोह बहुत सफल रहा।

अपने समाचार लिखियेगा।

आपका ही-**निरंकार देव सेवक**

(13)

बरेली/4.4.89

प्रिय भाई,

आपका पत्र मिला था। आपने 25-26 फरवरी को वहां जो पोस्टर प्रदर्शनी (पाश की कविताओं पर) आयोजित की उसकी सफलता के बारे में जानकर और यह जानकर कि आप 13 अप्रैल को यहां आ रहे हैं, बहुत प्रसन्नता हुई। उस दिन के कार्यक्रम के विषय में बात करने मेरे पास आर्य आये थे। वह महानगर पालिका के स्तम्भ बनवा देने पर उसे निर्भर बता रहे थे। मैंने उनसे विशाल आयोजन करने के लिए प्रेरित किया था। पता नहीं 2 अप्रैल को हुई उनकी बैठक में क्या-क्या तय



हुआ। क्रांतिकारी दामोदरस्वरूप सेठ जी स्मृति में जो भी किया जाये, भव्य और विशाल हो। बरेली में उनका जैसा स्वतन्त्रता सेनानी कोई नहीं हुआ। आशा है आप सानन्द होंगे। आयेंगे तो मिलेंगे।

सस्नेह!

-निरंकार देव सेवक

(14)

बरेली/12.6.89

प्रिय भाई सुधीर जी,

आपका पत्र मिला। धर्मपाल गुप्त "शलभ" मुझे मिले थे। बरेली कालिज में "वैचारिकी" में मैंने एन०एन० राय पर एक वार्ता प्रस्तुत की थी। वहीं मिले थे। आपसे बतरस की बात बता रहे थे। लेख भी एक नया लिखकर देने को कह रहे थे। यह उन्होंने पहले भी लिखा था। एक लेख लखनऊ के कंवल भारती का और मेरे पास है "चिनगारी" की कविताओं पर। आपको दे दूँगा।

पुरी साहब को पत्र तो मैंने लिख दिया है। देखिए फोटो कापी भेजते हैं या नहीं। एन०एन० राय की पत्नी एलन का एक पत्र मुझे और मिल गया था। वह मेरे पास है। आपको दे दूँगा। और सब पत्र भी आपके सामने रख दूँगा जब आप आयें। आप जो भी ठीक समझें। सफरनामा अभी लिखना प्रारम्भ नहीं किया है। जब लिखने बैठूँगा दो बैठकों में लिख जायेगा। लेखों के विषय में भी कुछ विचार विनिमय आपसे करना है। एक लेख पुनर्जन्म और एक ज्योतिष पर मेरे नए विचार लिए है। भारत के प्राचीन वैज्ञानिक पर भी एक था। और एक पिछली फरवरी या मार्च में, शायद भारत की प्राचीन संस्कृति की आज के युग में प्रासंगिकता पर सर्वथा नए दृष्टिकोण से लिखा था।

आपके पुत्र के विषय में मैंने आपको डॉ० कुलश्रेष्ठ का पता दिया था! वही मेरे पास है। वर्षों से भेंट नहीं हुई। पर वह मुझे भूल नहीं सकते। आप पुत्र के विषय में सब लिख दें तो मैं उस पते पर उन्हें पत्र लिखकर पूछ लूँगा।

आपका ही- **निरंकार देव सेवक**

(15)

बरेली/19.7.89

पिय भाई सुधीर जी,

कल शाम को जब रेडियो सलाहकार समिति की मीटिंग से लौटा तो यह जानकर सन्तोष हुआ कि आप एक घण्टे बाद आयेंगे और रात को यहीं रहेंगे। काफी देर तक खाने के लिए आपका इन्तजार किया। जब रात काफी हो गई तो निराश हो गया। पत्र मैंने सारे निकाल लिए हैं। सहगल के पुत्र का एक अच्छा पत्र मिल गया है।

रामपुर से लौटते समय मैं आपको याद ही कर रहा था। आप आये भी और भेंट नहीं हो सकी, इसका मलाल है। अब कब भेंट होगी। आप लिख देते तो मैं रामपुर जाता ही नहीं। पुत्र तो ठीक है अब?

सस्नेह!

-निरंकार देव सेवक

(16)

बरेली/30.8.89

प्रिय सुधीर विद्यार्थी,

आपका पत्र मिला। मैं यही सोच रहा था कि व्यस्तता के कारण नहीं मिल सकेंगे। उस दिन विश्वविद्यालय की गोष्ठी में दूर से आपको जाते हुए देखा था। जयदेव कपूर जी का भाषण सुना था। बड़े जीवट के आदमी हैं। प्रेरणादायक। मैंने जो लेख पढ़ा था "अमर उजाला" में छपेगा। अब तो "जागरण" और "आज" भी यहां से निकलने वाले हैं। आप उनमें भी लिख सकते हैं। पत्र सुरक्षित हैं यह जानकर सन्तोष हुआ। लेख लोगों से नहीं मिले। आप तो यह समझ लें कि मुझमें जो आग थी उसके कारण लोग इतना पास आ ही नहीं सके। ग्रंथायन से पुस्तक लगभग छप चुकी है। आने पर पृष्ठ आपको दिखाऊँगा। पुस्तक आने में तो अभी देर लगेगी।

सस्नेह..!

-निरंकार देव सेवक

(17)

बरेली/1.10.89

प्रिय सुधीर जी,

आपके पिछले पत्र का उत्तर न दे सका। इसका कारण यह था कि पत्नी के सिर में हर्पीज हो जाने बहुत परेशान रहा। बहुत सख्त दर्द होता है। और आंखें जाने का भय रहता है। बड़ी मुश्किल से अब दर्द कम है। परसों आनन्द शर्मा आए थे। कह रहे थे कि 10-12 दिन पूर्व आपसे यहां मिले थे। "संदर्श" निकालने में कुछ देर लग जायेगी धर्मपाल जी बता रहे थे।

मेरी सभी कविताओं की जो पुस्तक ग्रंथायन वाले छाप रहे हैं उसके 92 पृष्ठ आ चुके हैं। फिर लंबा मौन। कई पाण्डुलिपियां भी तैयार करके प्रकाशकों को देना है। इधर अनिल अग्रवाल की दुर्घटना तो एक बज्रपात ही थी।

आप अपने समाचार लिखियेगा। आशा है सानन्द होंगे।

सस्नेह!

-निरंकार देव सेवक



(18)

बरेली/24.12.89

प्रिय भाई विद्यार्थी जी,

आप दिल्ली से लौटते समय शायद रुक नहीं सके। मैं पिछले दो महीने से अस्वस्थ रहा। कई उलझनें पैदा हो गई थीं। अब लगातार इलाज से ठीक हूं। मैंने सोचा था आप आयेंगे तो आपको अपनी नई किताब दूँगा "जीवन बोलता है।" प्रकाशक को पत्र भी अभी नहीं लिख सका हूँ। पूछा है समीक्षा के लिए कहां-कहां भेजें। धर्मपाल गुप्त "शलभ" एक दिन आए थे। मैंने आपके इस पत्र का जिक्र किया।

दिल्ली यात्रा कैसी रही। आशा है सपरिवार सानन्द होंगे।

सस्नेह..!

-निरंकार देव सेवक

(19)

बरेली/11.2.90

प्रिय भाई,

आपका पत्र पिछले महीने मिला था। आपने यहां शीघ्र ही आने को लिखा था पर आ नहीं सके शायद। प्रतीक्षा है और मैं ठीक हूं। लखनऊ के डॉ० सुरेन्द्र विक्रम ने "हिंदी काव्य में लघु मानव और उसकी नैतिकता की समस्या" विषय पर डाक्टरेट की है। उसमें मेरी कविता के विषय में काफी लिखा है।

आशा है सपरिवार सानन्द होंगे।

सस्नेह..!

-निरंकार देव सेवक

(20)

बरेली/31.3.90

प्रिय भाई,

आपके पत्र से यह जानकर सन्तोष हुआ कि दुर्गेश ने कष्ट करके भी पुस्तक आप तक पहुंचा दी। आपकी पुस्तक "चन्द्रशेखर आजाद" मिली थी। उसमें बनारस में बुढ़िया बनकर पुलिस के घेरे से निकल जाने का वह प्रसंग नहीं है जो मैं जब बनारस में पढ़ता था सुना था। वैसे पुस्तक रोचक है। प्रसंग कभी आपको सुनाऊँगा। क्रांतिकारी वीरेन्द्र पाण्डेय ने दो पुस्तकें आपके पास भेजीं। पढ़ी होंगी। कैसी लगीं लिखियेगा और अपने समाचार दें। पुत्र के बारे में भी।

आशा है सानन्द होंगे।

सस्नेह-निरंकार देव सेवक

(21)

बरेली/18.4.90

प्रिय भाई,

अमितेश जी आए थे। पत्रों का पैकेट दे गए थे। और अधिक बात उनसे नहीं हो पाई। शलभ जी से कह देने के लिए कह रहे थे। कल माहेश्वर तिवारी जी का पत्र आया था। आज उन्हें पुस्तक भेज रहा हूँ डाक से।

आपका स्वास्थ्य कैसा है। हम सब ठीक हैं। जब भी सुविधा हो यहां आइएगा। मैं ठीक चल रहा हूँ। कोई विशेष बात नहीं है। आपके स्वास्थ्य की ही कामना करता हूँ। पुत्र कैसे हैं? उसके विषय में लिखियेगा।

सस्नेह..!

-निरंकार देव सेवक

(22)

बरेली/26.5.90

प्रिय भाई सुधीर जी,

कल आपका पत्र मिला। आप वहां साम्प्रदायिकता विरोधी सम्मेलन आयोजित कर रहे हैं यह जानकर प्रसन्नता हुई। मेरा मन वहां आने को कर रहा है। शलभ का साथ मिल गया तो अवश्य वहां आऊँगा। कल शाम को उनसे मिलने की चेष्टा की थी। पर वह नहीं मिले। उदित साहू को भी आज टेलीफोन करूँगा।

स्वास्थ्य इन दिनों तो ठीक चल रहा है। पर सावधानी भी बहुत रखना पड़ती है। सफलता की शुभकामनाओं सहित.!

सस्नेह.!

-निरंकार देव सेवक

(23)

बरेली/26.6.90

प्रिय भाई विद्यार्थी जी,

आपका पत्र मिला था। आशा है पूना से लौट आए होंगे। क्या रहा? लिखियेगा। शलभ को मैंने तभी पत्र लिख दिया था। कपूर जी कैसे हैं? लिखियेगा। मैं ठीक चल रहा हूँ

सस्नेह.!

-निरंकार देव सेवक

(24)

बरेली/25.7.90

प्रिय भाई सुधीर जी,

आपका पत्र मिला था। शलभ जी का पता ठिकाना न रहने के कारण मैंने उन्हें एक पत्र अंतिम करके लिख दिया था। पता नहीं क्या प्रतिक्रिया उन पर हुई। अब जैसा जो कुछ है आप ठीक समझें करें। "बालहंस" में एक लेख मुझ पर निकला था। उस पर लगभग सौ पत्र मेरे पास मुख्यतया राजस्थान से आए।

आपके पुत्र के कान का ऑपरेशन हो गया था। अब तो ठीक है? अब फिर पूना कब जायेंगे? मैं ठीक ही हूं। आपका जब इधर आना हो।

सस्नेह.!

-निरंकार देव सेवक

(25)

बरेली/22.9.90

प्रिय सुधीर जी,

कल दुर्गेश के पत्र से यह ज्ञात करके गहरा आघात लगा कि आपके पुत्र की एक दुर्घटना में मृत्यु हो गई। इससे बड़ा वज्र किसी पर और क्या टूट सकता है। पर धैर्य के अतिरिक्त और कोई उपाय भी तो नहीं है। मैं तो आपसे यही कह सकता हूँ कि अपने से अधिक ख्याल अपने पिता और अपनी पत्नी का करें। उन्हें आपका ही सहारा है। जैसे भी हो दर्द को भुलायें।

ऐसी दुर्घटना उसके बजाय मेरे साथ क्यों नहीं हो गई। बहुत जी लिया।

-निरंकार देव सेवक

(26)

बरेली/22.9.90

प्रिय भाई सुधीर जी,

आप पर जो वज्रपात हुआ था उसके दुख भार में धीरज बंधाने का साहस भी नहीं जुटा पाया इतने दिनों पर अब समय से धीरे-धीरे कुछ घाव भरा होगा। यों घाव तो कभी भरने वाला नहीं। पर कष्ट भुलाने का प्रयत्न करने से ही वह भूलता है। आप कैसे हैं। यह जानने की उत्सुकता से यह पत्र लिख रहा हूँ।

पत्रोत्तर दीजिएगा।

सस्नेह.!

-निरंकार देव सेवक

(27)

बरेली/24.11.90

प्रिय भाई सुधीर विद्यार्थी,

आपका पत्र मिला था। उत्तर जल्दी नहीं दे सका। कुछ अस्वस्थ भी रहा,

अब ठीक हूँ । इस बीच नागार्जुन जी आपके पास आए होंगे और कुछ दिन रहे भी होंगे। आपका और मन्मथनाथ गुप्त जी का एक लेख देखा था। इससे लगा कि आप दिल्ली भी गए होंगे। मन कुछ और सा हुआ होगा। दर्द भुलाने से ही भूलता है। और समय सब कुछ पूर्ववत् कर देता है। आप अपनी पहले जैसी दिनचर्या में लगें।

अपने समाचार लिखें।

सस्नेह.!

-निरंकार देव सेवक

(28)

बरेली/13.1.91

प्रिय सुधीर जी,

इतने दिनों में आपका कोई समाचार नहीं मिला। इसलिए चिन्ता भी है। लिखें कि आप सब कैसे हैं। इस बीच दुर्गेश के दामाद की जो दुर्घटना में मृत्यु हो गई वह भी बड़ी परेशानी का कारण रही।

कल धर्मपाल गुप्त "शलभ" आए थे तो आपके विषय में भी बातचीत होती रही। काफी देर बैठे थे।

अपने और सब समाचार लिखियेगा।

सस्नेह.!

-निरंकार देव सेवक

□□

कुलीन समीक्षा से बहिष्कृत एक जरूरी कवि

माहेश्वर तिवारी

माहेश्वर जी चर्चित जनगीतकार हैं। जनवादी लेखक संघ से सम्बद्ध हैं। मुरादाबाद में रहते हैं।

प्रासंगिक और सही कविता के इतिहास का पूर्वाग्रह मुक्त होकर विवेचन करने से यह बात पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है कि कविता अपने समय के इतिहास तथा दर्शन दोनों से एक आत्मीयता पूर्ण सरोकार रखते हुए भी किसी हद तक उनका अतिक्रमण भी करती है। वह जीवन के यथार्थ से रचनात्मक मुठभेड़ करती है। अतः यदि कोई जीवन से तो अपने सम्बन्ध बनाए रखने की बात करता है और यह चाहता है कि कला और कविता से उसके कोई सरोकार न हों तो यही कहा जाएगा कि वह जीवन से भी कोई सरोकार नहीं बनाए रखना चाहता है। यह किसी भी सभ्य समाज में एक असम्भव स्थिति है। निरंकार देव सेवक सभ्य समाज के, ऐसे ही सरोकारों से जुड़े एक प्रासंगिक कवि हैं। किन्तु कभी-कभी साहित्येतर कारणों से ऐसे प्रासंगिक कवि भी समीक्षकों द्वारा अनदेखे ही छूट जाते हैं या खेमों में बंटी समीक्षा दृष्टि के तहत अनपरखे ही छोड़ दिए जाते हैं।

छायावादोत्तर हिन्दी गीत-यामा के पर्याय बन जाने वाले प्रसिद्ध कवि डॉ० हरिवंश राय 'बच्चन' ने सेवक जी के 1943 में प्रकाशित काव्य-संकलन 'चिनगारी' की कविताओं पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए, बहुत पहले लिखा था "हिन्दी में प्रगतिशील कविता का सच्चा इतिहास जब कभी लिखा गया तो उसमें तुम्हारी चिनगारी का शीर्ष स्थान होगा।" 'चिनगारी' के बाद 1945 में ही जनपक्षधर कविताओं का उनका दूसरा संग्रह 'जनगीत' प्रकाशित हुआ। इस संग्रह की कविताओं में भी तत्कालीन यथार्थ की कड़वी सच्चाइयों को कविता का विषय बनाया गया था। किन्तु प्रयोगवादी कविता के अक्षेपीय हो-हल्ले में वह भी उपेक्षा की खोह में डाल दिया गया। अस्तित्ववादियों को तो उधर निगाह ही नहीं डालनी थी। आश्चर्य तो इस बात पर होता है कि पांचवे दशक से लेकर

आगे तक हिन्दी कविता के तमाम तटस्थ अध्येयताओं को उस इतिहास लेखन की अभी तक प्रतीक्षा है जिसमें 'बाल साहित्य' के कवि का सेवक हटाकर निरंकार देव सेवक के सम्पूर्ण लेखन का दुराग्रहमुक्त सम्पूर्ण तथा वास्तविक मूल्यांकन किया गया हो। यह एक कड़ुवाहट भरी सच्चाई है कि हिन्दी की प्रगतिशील, यथार्थवादी कविता की विकास-यात्रा की पड़ताल करते हुए उसकी वैज्ञानिक तथा तथ्यपरक विवेचना से सम्पन्न किसी की ऐसी एक भी इतिहास की पुस्तक या समीक्षा कृति नहीं देखने को मिलती जिसमें 'चिनगारी' या 'जनगीत' की रचनाओं तथा उसके रचनाकार का सही मूल्यांकन किया गया हो। यह वरिष्ठ समीक्षकों की ही नहीं प्रगतिशील खेमे से जुड़े नए समीक्षा कर्म का भी थोड़ा सच है। तथाकथित साहित्य केन्द्रों के वातानुकूलित कमरों में बैठकर किए गए शतरंजी लेखन से यह अपेक्षा भी कैसे की जा सकती है कि वह छोटे शहरों या छोटे-छोटे कस्बों में किए जा रहे लेखन को भी अपने लेखन-मूल्यांकन का विषय बनाए। यह उसकी पंचतारा दृष्टि से सम्भव भी नहीं है कि वह दीवे की अहमियत को महसूस कर सके। केदारनाथ अग्रवाल जैसे लोग जब उनकी विवशता बन जाते हैं तभी अपवाद स्वरूप कुछ ऐसा किया लिखा है जो उनके समीक्षा कर्म को एक व्यापकता दे जाता है।

अपनी इस उपेक्षा के एक कारण की ओर वैसे स्वयं सेवक जी ने चिनगारी की भूमिका में संकेत किया है- "मैंने लिखा था कि मेरा कवि मर चुका है। और सबने सचमुच उसे मरा हुआ समझ लिया। इसके कारण थे। प्रगतिवादियों के रेजिमेन्टेड लेखन से वह सहमत नहीं था। राष्ट्रीयतावाद को वह टैगोर के शब्दों में एक संगठित छल मान चुका था। जय-जय कारों के स्वर में स्वर मिलाते हुए चलना उसका स्वभाव नहीं था और पुनरुत्थानवादियों को वह गुफा मानव की ओर ले जाने वाला समझता था।" अजेक्सान्द्र बोरोन्स्की ने भी नए यथार्थवाद के प्रश्न पर कुछ विचार व्यक्त करते हुए अपने निबन्ध 'संसार को देखने की कला" में जय-जयकारों से भरे लेखन की ओर इशारे करते हुए स्पष्ट रूप से लिखा है- "अब हमें यह समझ लेना चाहिए कि सच्ची क्रान्तिकारी, सर्वहारा कला न नए-नए सुसामयिक नारे लगाने में ही, न गर्वीले कदम भरते युवा कम्युनिस्टों का वर्णन करने में, न ऐसी सभाओं के फोटोग्राफी जैसे चित्र उतारने में, जिनमें कमिश्नर और अध्यक्ष मेज पर अपना जीवन होम कर देते हैं, और न साहित्य-संघ भी, सम्पादक की चतुराई भरी प्रवंचनाओं में ही है।" यह एक वास्तविकता है कि सेवक जी ने ऐसा कुछ नहीं किया। वैसे उनके लेखन से स्पष्ट होता है कि उनकी केंद्रीय सोच जनवादिता की ही है।

फिलिप टायनबी ने लिखा है कि कवि या कलाकार को सम्पूर्ण होना चाहिए प्रतिश्रुत नहीं। निरंकार देव सेवक में सम्पृक्तता गहरे तक है किन्तु वे

जन प्रतिबद्ध भी हैं। उनके विविधवर्णी गीतों, गजलों, मुक्तकों तथा मुक्त छन्द की रचनाओं में इस दुहरी गुणात्मकता को बखूबी देखा-परखा जा सकता है। उनमें कबीर की बेलौस सादगी तथा अक्कड़पन है। उन्हीं की तरह उनकी सोच के केन्द्र में किसी अद्योगिक सत्ता की जगह मनुष्य है। वे शोषक पाण्डित्य तथा कठमुल्लेपन पर खुलकर चोट करते हैं। ऐसी चोट जिससे बचने के रचनात्मक बहाने लोग करते रहते हैं। अपने एक मुक्तक में वे ऐसे किसी भगवान के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं जिसने करोड़ों मनुष्यों के लिए भूख-गरीबी की सृष्टि की हो। अपने एक मुक्तक में वे लिखते हैं-

भूखे भगवान का गुणगान नहीं हो सकता।
काव्य, आराधना, अभिमान नहीं हो सकता।
जिसने पैदा किए इन्सान हों भूखे इतने,
वह कोई और हो भगवान नहीं हो सकता।

इन पंक्तियों को पढ़ते हुए प्रसिद्ध उपन्यासकार टॉमस हार्डी के 'जूड दी आब्सक्योर' का बरबस स्मरण तो आता है जिसमें ईश्वर के अस्तित्व पर इसी तरह का गहरा संदेह व्यक्त किया गया है। इसी प्रकार मौलवियों के उस कठमुल्लेपन भी एक मुक्तक में चोट की गई है जिनके लिए सामान्य मनुष्य की अपेक्षा मानवेतर सत्ता का ही अधिक महत्व है-

उनको आती है नमाजें, न वजू आती है
मैं नहीं आती है बस तू ही तू आती है।
मेरी हर सांस में मदिरा की महक है तो क्या,
उनकी हर सांस में अल्लाह ही बू आती है।

इसी तरह 'युग कवि' शीर्षक अपनी एक अन्य रचना में कवि ऐसे कवियों के सामने, उनके दायित्वों को लेकर सवाल करता है कि युग कवि का वास्तविक अर्थ क्या है। वह किसका पक्षधर है- शोषित पीड़त जन का अथवा शोषण के औजारों का। उसकी दृष्टि में सच्चा कवि अथवा युग कवि वह है जो दीन-हीन, शोषित-पीड़ित जनों में संघर्ष की चेतना जागृत कर उनकी मूर्छित जिजीविषा को जगाए। इसके विपरीत युग कवि वह नहीं है जो आम जन को अन्धविश्वासों, सड़ी-गली मान्यताओं से मुक्ति की क्रान्तिकारी चेतना से लैस न करता हो। कवि इसीलिए युग कवि से सवाल करता है-

तुम कैसे जन कवि, युग गायक।
× × ×
तुम इनके करुणार्द्र नयन को
बीते युग के स्वप्न दिखाते

इनके भोले-भाले पन से
तुम जीवन-पत्थर पुजवाते।

वह चाहता है कि वह लोगों को धर्म की ऊबड़-खाबड़ पगडंडियों से निकाल कर वैज्ञानिक सोच से सम्पन्न राजमार्ग पर ले आए। लोगों की मृतप्राय चेतना को अपने रचनात्मक स्पर्श से जागृत करे।

तुम जन-जन की अन्तर्पीड़ा
व्यक्त करो वाणी से स्वर में
अपनी गर्म उसासों से तू
फूंको प्राण अस्थि पंजर में।

फरवरी सन् 1949 में हिन्दी के वरिष्ठ गीत-कवि वीरेन्द्र मिश्र ने लिखा

दूर होती जा रही है कल्पना
पास आती जा रही है जिन्दगी।

निरंकार देव सेवक ने यथार्थ जीवन-जगत से कवि के इस रिश्ते को बहुत पहले सन् 41 में ही जान-समझ लिया था और अपनी 'मेरी कविता रानी' शीर्षक रचना में लिखा था-

सुन्दरता को देख लिया करता हूं कुछ बेमन से,
क्या और कल्पना चली सी गई आज जीवन से।

किन्तु जीवन में सौन्दर्य और कल्पना का यह अभाव कवि को निराश अथवा पराजयबोध से ग्रस्त नहीं कर पाता बल्कि इस बात में गहरा विश्वास व्यक्त करता है कि यदि रचनाकर्म जीवन-जगत के समर-स्थल में उसका साथ निभाए तो खोई हुयी अनुकूल प्रियताएं तथा सौन्दर्य चेतना को फिर से अर्जित किया जा सकता है-

लेकिन तुम अब भी चाहो तो
हो सकता है ऐसा
क्यों न रहो तुम साथ-साथ ही
मेरे समरस्थल में।

कवि को जीवन-धर्म में गहरी आस्था है किन्तु उसका धर्म पोंगापंथी पंडितों, गुफावासी भ्रत्याओं और गिरजाघरों के कैदखाने में बन्द पादरियों के धर्म से सर्वथा भिन्न, मानवीय मूल्यों तथा सरोकारों से जुड़ा है जहाँ मनुष्य का हित सारे आचारों, सारी स्मृतियों, मायनों, संहिताओं से अधिक महत्वपूर्ण है। कवि मानता है-

किसी देवता के चरणों की रज पर बिना मोल बिक जाना
आत्म समर्पण करना अपने प्राणों का बलिदान चढ़ाना
आँखों में आंसू भर जाना नहीं हमारा धर्म।
× × × ×
धर्म हमारा है जीने का जन्म सिद्ध अधिकार
और प्राण देकर भी करना जीवन का उद्धार।

जीवन का इतिहास बतलाता है कि पहले यह सामन्तों के साथ था और बाद में पूंजीपतियों के साथ हो गया। इस देश का दुनिया के लाखों-करोड़ों भूखे, निर्धन, शोषित लोगों का पक्षधर होना उसके अभिजात्य को स्वीकार नहीं था। इसी कारण शक्ति, सत्ता और पूंजी आश्रित धर्म को कवि मानव-धर्म मानने से इन्कार करता है। वह तो आम जन की समझ से भी दूर है-

धन पर निर्भर है जो धर्म, उसका मर्म
समझ न पाएंगे हम निर्धन, भूखे, दीन, गंवार,
गीता-वेद-पुराण
दर्शन-उपनिषदों का ज्ञान
वही विचार सकेगा जो है भोजन से निश्चिन्त।
उर्दू का एक मशहूर शेर है-
जब जेब में पैसा होता है
जब पास में रोटी होती है,
उस वक्त ये जर्रा हीरा है
उस वक्त ये शबनम मोती है।

कवि अतीत को खंगालता, वर्तमान की गहरी समीक्षा करता हुआ आगामी काल का द्रष्टा होता है। उसकी 'बाबा तुलसीदास' शीर्षक कविता में जब कवि यह लिखता है-

राम नाम का आज विश्व में
होता है व्यापार
दुनियां में हैं दया-धर्म के लाखों ठेकेदार
× × × ×
भक्तों को ठगने का साधन बने हुए हैं राम
पापों को ढकने का साधन है सीता का नाम

तो राम और राम जन्म भूमि के नाम पर इस देश की करोड़ों जनता को भटकाने वाले विश्व हिन्दू परिषद, शिव सेना तथा बजरंग दल के नापाक

लोगों का चेहरा अपने पूरे घिनौनेपन के साथ उभर कर सामने आ जाता है। देश की आस्थाशील, अशिक्षित या अर्धशिक्षित भोली-भाली जनता को 'राम' के नाम पर आज जिस तरह 'ठगी' का शिकार होना पड़ रहा है, उसके गहरे संकेत इन पंक्तियों में मिलते हैं। सदियों से चली आती इस 'ठगी' को बेनकाब करना ही तो सच्चे कवि का धर्म है।

आजादी मिलने के बाद लोगों ने सोचा था कि साम्राज्यवादियों के चंगुल से मुक्ति के बाद उनके जीवन में बेहतर बदलाव आएगा तथा स्वाधीनता मिलने पर उनकी सुख की आशाएं शोषण से मुक्त होकर सांस दे सकेंगी किन्तु यह तो वास्तविक मुक्ति ही नहीं थी। स्वाधीनता के नाम पर मात्र गुलामी का हस्तान्तरण ही सम्भव हो पाया। इसलिए उसका मोह भंग हुआ। दिन पर दिन आम आदमी की गर्दन भ्रष्टाचार, शोषण के पंजे में कसती गई। देशी पूंजीपतियों ने विदेशी पूंजीपतियों की जगह ले ली। मेहनतकश अवाम का अपने ही श्रम तथा उत्पादन पर कोई अधिकार नहीं रहा। आजादी मिलने के साथ उसने सोचा था-

हम समझे थे भारत भू पर
अब राम राज्य फिर आएगा
पंढरपुर की झोपड़ियों में
रस का सागर लहराएगा।
× × ×
हम समझे थे
युग-युग से शोषित
दीन किसान सुखी होंगे
मजदूर मिलों के मालिक बन
शिक्षित, धनवान, सुखी होंगे
उत्पादन के हर साधन पर
अधिकार गरीबों का होगा
इन्साफ गरीबों का होगा।

किन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ। धरती, आकाश, फूलों-वनस्पतियों, सूर्य-चन्द्र-ताराओं, हवा, बादल आदि को जिस तरह प्रकृति में स्वाधीनता का अनुभव कराया है- मनुष्य के लिए वह सम्भव नहीं हो सका। 1957 में लिखी सेवक जी की कविता 'पन्द्रह अगस्त' इसका ब्योरा विस्तारपूर्वक तथा काव्यात्मक ढंग से सामने रखती है।



निरंकार देव सेवक के लेखन की केन्द्रीय चिन्ताओं की ओर ध्यान दिया जाए तो यह बात आसानी से समझ में आ जाती है कि वे भले ही अपने ऊपर किसी शिविर का वाद या लेवल न चिपकाएं किन्तु सही अर्थों में वे एक क्रान्तिकारी, जागरुक तथा प्रतिबद्ध कवि हैं।

'बधुआ की मां' 'छोटे मेहतर' तथा 'कवि और किसान' आदि जैसी कविताएं, आम आदमी के उनके रिश्तों को अच्छी तरह परिभाषित करती हैं। वे एक क्रान्तिकारी चेतना के कवि हैं जो व्यवस्था में गान्धीवादी सुधार की जगह परिवर्तन पर बल देते हैं। आजादी के बाद, पहले से ही जर्जर इस देश को, चूहों की तरह जिस प्रकार तथाकथित जन सेवकों ने कुतरना आरम्भ किया-उसकी उन्हें मुकम्मल और वास्तविक जानकारी है। उनका विश्वास है कि स्वाधीनता के बाद सत्ता और पूंजी की नापाक दुरभि सन्धि ने ही यह सारा ढांचा खड़ा किया है। इसी ओर संकेत करते हुए उन्होंने 'गाँधी टोपी वालों ने' शीर्षक कविता लिखी है। गान्धी के प्रति अनादर न रखते हुए भी उनकी भ्रामक अहिंसा नीति से वे अपनी असहमति व्यक्त करते हुए लिखते हैं-

जब हमको आगे बढ़ना था
दुश्मन के दल पर चढ़ना था
तब राग अहिंसा का गाया
इन गान्धी टोपी वालों ने
जब-जब आजादी के सैनिक
मर मिटने को तैयार हुए
चर्खे से सबको बहलाया
इन गान्धी टोपी वालों ने।

'गान्धी टोपी वालों' कहने मात्र से वे चेहरे उभरकर सामने आ जाते हैं जिन्होंने शहीदे-आजम भगतसिंह, चन्द्रशेखर, बिस्मिल, अशफाक उल्ला खां जैसे क्रान्तिकारियों को सही अर्थों में आजादी का सैनिक माना ही नहीं क्योंकि वे सरकारी दमन तथा हिंसा का प्रतिरोध सशस्त्र क्रान्ति के माध्यम से करने के समर्थक थे। आजादी के पहले ऐसे संदिग्ध अहिंसावादियों के उत्तराधिकारियों ने बाद में आजादी मिलने पर अपने वचन तथा कर्म की दूरी को और भी स्पष्ट कर दिया। वे किस तरह बिड़लाओं, बजाजों, टाटाओं, अम्बानियों, हिन्दुजाओं की गोद में जाकर बैठ गए यह किसी से भी छिपा नहीं है। यह तो होना ही था। कवि ने इसका संकेत बहुत पहले से दिया था-

छः पैसे में कर उम्र बसर
पर महलों से विद्रोह न कर

भूखे भारत को समझाया
इन गान्धी टोपी वालों ने।
बिरलाओं और बजाजों को
धर्मों का ठेकेदार बता
किन-किन चरणों को पुजवाया
इन गांधी टोपी वालों ने।
× × × ×
जो जमींदार करते आए
सदियों से जुल्म किसानों पर
उनको जन रक्षक ठहराया
इन गांधी टोपी वालों ने।

ताजमहल ने हिन्दी-उर्दू के कई कवियों को अलग-अलग ढंग से आन्दोलित किया है। किसी को वह प्रेम का अमर स्मारक लगा तो किसी ने एक दौलतमन्द शहंशाह द्वारा किया गया-निर्धन प्यार से एक मजाक बतलाया। सेवक जी की 'ताजमहल' शीर्षक कविता इनसे अलग ढंग की है। उसमें मानवमन की कोमलता के माध्यम से प्रेम की अबोधता, सरलता को इस प्रकार व्यक्त किया गया है कि प्रेमानुभूति, तथाकथित अकवितावादियों की तरह देह पर ही न टिकी रह जाए-

देखकर तुमको हर इक बार मुझे ऐसा लगा,
प्यार इन्सान के बचपन की सरलता
तो नहीं जिस जमाने के शहनशाह ने बनवाया
तुझे किस कदर उसके बुढ़ापे में भी बचपन होगा।

यहां प्यार की मासूमियत को, उसके सहज मनोविज्ञान को-मानवीय सम्वेदना का हिस्सा बनाकर प्रस्तुत किया गया है जिसकी तरलता मन को भिंगोती है। किन्तु 'ताजमहल' के माध्यम से सिर्फ प्रेम को चित्रित करना उनका अभिप्राय नहीं है। वे इसी कविता में उस सामाजिक गैर बराबरी पर भी चोट करते हैं जो प्रेम को भी पूंजी का हिस्सा बनाती जाती है। प्रेम सारी सृष्टि में फैला हुआ ऐसा तत्व है जिस पर सबका बराबर हक है। स्वाधीन मनुष्य की यह भी एक पहचान है कि उसका प्रेम भी स्वाधीन हो, सत्ता, अर्थतंत्र, सामाजिक गैर बराबरी और भोगवादी दृष्टि से। इसलिए लोगों के मुक्ति संघर्ष में प्रेम की मुक्ति का संघर्ष भी शामिल है-

प्यार करने के लिए सबको बराबर हक है
प्यार पाने के लिए सबको बराबर हक है।



× × × ×

प्यार अब कैद किसी एक की नजरों में नहीं
प्यार अब कोई किसी ताज का मुहताज नहीं।

निरंकार देव सेवक का कवि आर्थिक तथा सामाजिक गैर बराबरी और किसी भी प्रकार की दासता पर केन्द्रित व्यवस्था को जड़ से उखाड़ फेंकने का पक्षधर है। इस 'महानाश' में ही उन्हें महासृजन की पदचाप सुनाई देती है। यह जी जिजीविषा सम्पन्न आशावादिता जहां एक ओर उन्हें वैज्ञानिक, समाजवादी सोच से मिली है वहीं दूसरी ओर भारतीय मनीषा की चिन्तन परम्परा से भी जुड़ी है।

निरंकार देव सेवक के पास काव्यात्मकता से सम्पन्न सीधी, सहज तथा सम्प्रेषणीय भाषा का संसार है। उनके लिए बोधगम्यता कविता की जन-जन तक पहुंच का एक महत्वपूर्ण औजार है किन्तु उसे सरलीकरण का पर्याय नहीं माना जाना चाहिए। कवि की इस विचार में आस्था है कि समाजवादी रचना की श्रेष्ठता सृजनात्मकता, नए मनुष्य की विश्वात्मक दृष्टि तथा सौन्दर्य चेतना के विकास में अहम भूमिका का निर्वहन करती है। अभी यह बात याद रखने की है वर्तमान पूंजीवाद के प्रभातंत्र की गिरफ्त में है और पूंजीवाद कविता अथवा कला का शत्रु है। अपने को प्रतिष्ठित कर लेने के बाद वह सबसे पहले कविता पर ही हमला करता है। इसलिए जब एक जनपक्षधर कवि वर्ग शोषण से अवाम की मुक्ति के लिए रचनात्मक हस्तक्षेप का संकल्प लेता है तो वह उसके साथ ही कविता तथा कला की मुक्ति के लिए संघर्षरत एक सैनिक का दायित्व निभाता है। निरंकार देव सेवक ऐसे ही एक सैनिक कवि हैं। बहुत से अपने जैसे ही क्रान्तिकारी सैनिकों की तरह कुलीन समीक्षा से बहिष्कृत किन्तु एक जरूरी कवि जिन्हें पढ़ना आजादी से पूर्व तथा बाद की सही प्रगतिशील हिन्दी कविता के मुहावरे और तेवर से अपने को परिचित कराना है। वे कबीर, निराला, नागार्जुन, त्रिलोचन, सुमन तथा केदारनाथ अग्रवाल की परम्परा के ऐसे कवि हैं जिनकी रचनाशीलता एकान्त भाव से समाज के उस वर्ग को सम्बोधित है जो काफी कुछ अर्थों में अभी भी अन्त्यज तथा उपेक्षित है।

जीवन की तल्खियों से मुठभेड़ के बावजूद कोमलतम रागात्मक प्रसंग उनकी पकड़ से छूटे नहीं हैं और मानवीय प्रेम को भी उन्होंने कई गीतों में अपनी रचनात्मकता का विषय बनाया है। इस तरह वे एक सम्पूर्ण और जिम्मेदार कवि हैं जिन्हें पढ़ना अपने समय के मनुष्य से रूबरू होना है।

□□

जिनके बिना हिन्दी बाल साहित्य अधूरा रहेगा

कमलेश भट्ट 'कमल'

कमलेश भट्ट 'कमल' युवा ग़ज़लकार और कथाकार हैं। 'परिवेश सम्मान' से सम्मानित।

सृजन को एक ऐसी ऊर्जा का नाम दिया जा सकता है जो दूसरों का पथ प्रशस्त तो करती है, साथ ही वह सर्जक को भी देदीप्यमान करती चलती है। यह सही है कि सृजन, जिसे दूसरे शब्दों में कला भी कह सकते हैं, कभी अपने में पूर्ण नहीं होता- हो भी नहीं सकता, हां उसे पूर्णता के निकट और निकटतर अवश्य ही ले जाया जा सकता है। लेकिन इस स्थिति के लिए सर्जक में बुद्धिकौशल के साथ-साथ संवेदनशीलता और चारित्रिक सुदृढ़ता नितान्त आवश्यक होती है और वह सुदृढ़ता व्यक्ति में उसकी सहजता, सरलता और हृदय की निश्छलता के बिना नहीं आ सकती। निरंकार देव सेवक एक ऐसा ही नाम है जो देखने में जितना सरल है, बातचीत में उतना ही सहज और हंसी में उतना ही निश्छल और उन्मुक्त भी है। शायद इसीलिए वह पिछले चालीस वर्षों से हिन्दी के बाल-साहित्याकाश में चमकता हुआ, अपनी अप्रतिभ ऊर्जा से भारत के भावी कर्णधारों के तन-मन को छूता, गुदगुदाता, हँसाता और ऊर्जस्वित करता आया है।

संभवतः कम लोग जानते होंगे कि लगभग चालीस बाल-कृतियों के प्रणेता निरंकार देव सेवक जी ने बाल-साहित्य के प्रति समर्पित होने से पूर्व प्रौढ़ साहित्य भी पर्याप्त मात्रा में लिखा। इसकी कहानी शुरू होती है उनके पिता श्री राम भरोसे लाल सेवक जी से, जिनके प्रथम पुत्र के रूप में निरंकार जी ने 18 जनवरी सन् 1919 को बरेली में जन्म लिया और जो स्वंय भी शेरो-शायरी के लिखने-पढ़ने में रुचि रखते थे। इस प्रकार कविता निरंकार जी को विरासत में ही प्राप्त हुई थे। फिर बचपन में तुकबन्दियों का जो दौर शुरू हुआ, वह आठवीं

कक्षा के उनके हिन्दी अध्यापक स्व० पं० नाथूराम 'नम्र' जी के सामीप्य से क्रमशः फलता-फूलता हुआ आगे चलकर एक तेजस्वी कवि के रूप में प्रस्फुटित हुआ।

'नम्र' जी के साथ निरंकार जी के सामीप्य की घटना भी कम रोचक नहीं है। 'नम्र' जी कालेज में मात्र तीन माह के लिए अवकाश कालीन नियुक्ति पर आये थे। 'नम्र' जी स्वयं कवि तो थे ही, एक दिन उन्हें निबन्ध के घण्टे में पता नहीं क्या सूझा कि उन्होंने ब्लैक बोर्ड पर एक लाइन लिख दी-

"ज्यों कदली के पात में पात पात में पात"

और विद्यार्थियों से इसकी पूर्ति करने को कहा। विद्यार्थियों में ही निरंकार जी भी थे, जिन्होंने ब्लैक बोर्ड पर एक और लाइन जोड़ दी-

"त्यों पण्डित की बात में बात-बात में बात।

बस, पंडितजी गदगद हो उठे और उन्होंने निरंकार जी के कवि को प्रोत्साहन देना शुरू कर दिया। 'नम्र' जी ने ही उन्हें छन्द, गण, अलंकार मात्रादि का ज्ञान कराया तथा उनकी कविता को परिष्कृत और संस्कारित भी किया। निरंकार जी 'नम्र' जी को ही अपना काव्य-गुरू मानते हैं।

सन् 1935-36 के आस-पास, जब निरंकार जी की कविता शैशवावस्था में ही थी, बरेली में शायरों और मुशायरों का खूब जोर था। लेकिन इसके ठीक विपरीत हिन्दी की कवि-गोष्ठियों और कवि-सम्मेलनों का कोई वातावरण नहीं था। उन दिनों बरेली में लगभग डेढ़-दो सौ शायर थे और आये दिन छोटे-मोटे मुशायरे हुआ ही करते थे। 'नम्र' जी और राम भरोसे लाल जी भी इन मुशायरों में शिरकत करते थे। राम भरोसे लाल जी तो उर्दू की शायरी पढ़ते लेकिन 'नम्र' जी, यदि कुछ लोग जानकार हुए तो, ब्रजभाषा की धनाक्षरी और सवैया आदि सुनाते और साथ ही निरंकार जी से खड़ी बोली में कविता-पाठ करवाते। इस प्रकार, उस समय में 'नम्र' जी ने ही मुशायरों के दौरान धीरे-धीरे कविता का बीज रोपा और उसके लिए वातावरण तैयार किया। बाद में वे स्वयं भी कवि-गोष्ठियां आयोजित करने लगे थे।

निरंकार देव ने जब कविता लिखनी शुरू की तो पिताजी ने उन्हें "अमर" उपनाम सुझाया। लेकिन निरंकार जी ने पिता के ही उपनाम "सेवक" को अपनाया और आज "सेवक" निरंकार जी की पारिवारिक पहचान का प्रतीक है।

फिर धीरे-धीरे निरंकार जी की रुचि पढ़ाई में बढ़ती गयी और इण्टरमीडिएट की अपनी पढ़ाई के दौरान उन्होंने बरेली कालेज में मौजूद कविता

की सारी पुस्तकें पढ़ डालीं। इनमें से वे मैथिली शरण गुप्त की "पंचवटी" तथा पं० माखन लाल चतुर्वेदी की कविता "एक फूल की चाह" से विशेष प्रभावित हुए।

उन दिनों बरेली कालेज में प्रति वर्ष एक बृहद कवि-सम्मेलन का आयोजन हुआ करता था, जिसमें गया प्रसाद शुक्ल "सनेही", हितैषी, गुरुभक्त सिंह, राम कुमार वर्मा, महादेवी वर्मा, मिलिन्द तथा सुभद्रा कुमारी चौहान सरीखे कवि-कवियित्रियां भाग लिया करते थे। उस कवि-सम्मेलन में स्थानीय कवियों के लिए एक कविता प्रतियोगिता का भी आयोजन होता था और विजयी कवि को एक चल वैजयन्ती प्रदान की जाती थी। सन् 1939 में जब निरंकार जी बी०ए० प्रथम वर्ष के छात्र थे, यह वैजयन्ती उन्हें उनकी लम्बी कविता "विहग कुमार" पर दी गयी थी। बाद में यह कविता उन दिनों के प्रमुख हिन्दी मासिक "विशाल भारत" में भी छपी, जिसे कलकत्ते से रामानन्द चटर्जी निकालते थे। आगे चलकर बनारसीदास चतुर्वेदी व अज्ञेय भी इस पत्र के सम्पादक रहे थे। इस सम्मान ने उनके कवि की जड़ को पुख्ता बना दिया और तभी से उन्होंने कवि सम्मेलनों में जाना प्रारम्भ कर दिया।

"विहग कुमार" समेत उनकी प्रारम्भ की कविताएं आध्यात्मिक और दार्शनिक भावभूमि की है लेकिन उसके बाद सामन्तवाद के खिलाफ उन्होंने एक से बढ़कर एक तेवरदार कविताएं लिखीं तथा मंचों के माध्यम से उन्हें जन-जन तक पहुँचाने का उद्यम भी किया। सम्भव है कि उनके इस क्रान्तिकारी रुख के पीछे द्वितीय विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि भी परोक्षरूप से कार्य करती रही हो। इन कविताओं का संकलन "चिनगारी" नाम से सन् 1943 ई० में साहित्य भवन लि०, प्रयाग से प्रकाशित हुआ। "हिन्दुस्तान के पढ़े-लिखे जाहिलों को समर्पित इस काव्यकृति में, अपने प्रकाशकीय वक्तव्य में, प्रकाशन के मन्त्री राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन ने लिखा है :-

"........निरंकार देव सेवक की इन कविताओं की पंक्ति-पंक्ति में हमारा वास्तविक और दयनीय समाज कराह रहा है, और वास्तविकता का दिमागी ऐय्याशी अथवा कृत्रिमता से क्या सम्बन्ध! कवि की यथार्थप्रियता और उसके विचार स्वातन्त्र्य को छन्दों के बन्धन भी ग्राह्य नहीं। कवि का उद्देश्य तो आज की विषमताओं को जिनमें हम जी रहे हैं और जिनमें कम से कम उसने अपना दम घुटता पाया है, शब्दबद्ध करना मात्र है और वह भी बड़ी सावधानी से।"

सेवक जी की प्रारम्भिक कविताएं "स्वस्तिका" व "कलरव" के नाम से वर्ष 1940 में हिन्दी प्रचारिणी सभा, बरेली कॉलेज द्वारा प्रकाशित की गयी थी।

"स्वस्तिका" की समीक्षा करते हुए "माडर्न रिव्यू" में लिखा था–"कवि की आत्मा, ऐसा लगता है, चीखकर कहना चाहती है कि दुनिया नाशवान है और जीवन के दुःखों-कष्टों से भरी हुई है। इसलिए शैली की तरह वह (आत्मा) चिन्ताओं से मुक्ति का रहस्य आकाश में स्वच्छन्द विचरण करने वाले पक्षी से जानना चाहती है।"

सन् 1944-45 के लगभग उनकी एक और पुस्तक "जनगीत" के नाम से प्रकाशित हुई थी जिसमें राष्ट्रभक्ति परक गीत संकलित थे। कुछ गीतों के माध्यम से दोहरे व्यक्तित्व वाले नकली राष्ट्रवादियों के चेहरों का पर्दाफाश किया गया था।

"चिनगारी" और "जनगीत" के माध्यम से निरंकार जी के कवि का जो स्वरूप मुखरित हो रहा था, यदि वे बाल-साहित्य की ओर न झुक जाते तो प्रौढ़ साहित्य में भी उन्हें एक नयी जमीन, एक नयी पहचान मिली होती लेकिन इसी बीच, सन् 1943-44 में उन्हें बी०टी० के प्रशिक्षण के लिए टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज, बनारस जाना पड़ा। वहीं प्रशिक्षण के दौरान उन्हें इस बात का एहसास हुआ कि हिन्दी में बाल-साहित्य का बड़ा अभाव है। निरंकार जी की कवि प्रवृत्ति को देखते हुए कालेज के दो प्रोफेसर पं० सीताराम चतुर्वेदी तथा पं० लालजी राम शुक्ला उनसे बहुत स्नेह रखते थे। बाद में इन दोनों विद्वानों से मित्रवत् व्यवहार रहने लगा था और यदि सच कहा जाय तो इन दोनों ने ही निरंकार जी को समय रूप में बाल-साहित्य की ओर प्रवृत भी किया। उन दिनों की लिखी निरंकार जी की एक बाल कविता "तुम बनो किताबों के कीड़े, हम खेल रहे मैदानों में" काफी लोकप्रिय हुई थी।

लेकिन अभी तब वे बाल-साहित्य के प्रति पूरी तरह समर्पित नहीं हो पाये थे और गाहे-बगाहे प्रौढ़ कविताओं के लेखन और कवि सम्मेलन के मंचों से भी जुड़े रहे। निरंकार जी के क्रान्तिकारी स्वरूप और उनकी निर्भीकता के बारे में एक रोचक घटना है–

एक बार जब निरंकार जी बनारस में ही थे, राजा राधिका रमण सिंह के यहां से निमंत्रण आया। राजा साहब स्वयं भी साहित्य में पैठ रखते थे। उनका घर शहर में कोई दस मील बाहर था। अतः उन्होंने निरंकार जी के लिए अपनी विक्टोरिया गाड़ी हास्टल भिजवा दी। गाड़ी में बैठकर जब निरंकार जी राजा साहब के घर की ओर चले तो रास्ते में पं० लालजी राम शुक्ला से भेंट हो गयी। उन्होंने निरंकार जी से सजधज के साथ गाड़ी में बैठकर जाने का कारण पूछा और जब उन्हें मालूम चला कि वे राजा साहब के यहां कविता पाठ के लिए जा रहे हैं तो शुक्ला जी टोंकते हुए बोले– "तुम पूंजीवाद के खिलाफ लिखने वाले

क्रान्तिकारी कवि को उन राजा का निमंत्रण स्वीकार नहीं करना चाहिए था।" इस पर निरंकार जी बोले– "जिस दिन मैं अपने अन्दर इस साहस की कमी महसूस करने लगूँगा कि उनके यहाँ बैठकर मैं अपनी वो कविताएँ नहीं सुना सकता, तो उसी दिन से मैं उनके यहां जाना बन्द कर दूँगा।" फिर निरंकार जी शुक्ला जी को भी राजा साहब के यहां साथ लेते गये और लोगों के मना करने के बावजूद उन्होंने "चिनगारी" की ही कविताएँ वहाँ भी सुनाईं।

15 अगस्त सन् 1947 को जब देश को स्वतंत्रता प्राप्त हुई थी उनकी एक कविता "मगर मनुष्य आज भी गुलाम का गुलाम है" दस-बारह पत्रों में प्रकाशित हुई थी। यह कविता उन तीन कविताओं में से एक थी जो स्वतंत्रता प्राप्ति के उपलक्ष्य में लिखी गयी तमाम कविताओं में अपने ढंग की नयी थीं। अन्य दो कविताओं में जोश मलिहाबादी की– "बाजार खुल गये हैं दुकानें हुई हैं बन्द" तथा निरालाजी की "विजयी कहाये जो, रक्त दूसरों का पिये जा रहे हैं वे" शामिल थीं।

सन् 1950 में निरंकार जी ने अपनी लोकप्रिय बाल कविताओं की एक पुस्तक "रिमझिम" नाम से प्रकाशित करायी। यह पुस्तक बिना चित्रों की एकदम सादी थी। संयोगवश, उसकी कुछ प्रतियां निरंकार जी ने रीवाँ रियासत भिजवा दी थीं, जो उन दिनों उत्कृष्ट लेखन के लिए "देव पुरस्कार" दिया करती थी। लेकिन बाल-साहित्य के लिए ऐसी कोई परम्परा नहीं थी। फिर भी रिमझिम पर पांच सौ रुपये का पुरस्कार निरंकार जी को प्रदान किया गया। इसके बाद ही इंडियन प्रेस, इलाहाबाद ने एक-एक कर उनकी सात-आठ पुस्तकें बाल साहित्य पर प्रकाशित कर दीं। फिर तो उनके पास बाल-साहित्य के मांग की बाढ़ सी आ गयी और वे पूरी तरह बाल साहित्य के प्रति समर्पित हो गये।

बाल-साहित्य के सन्दर्भ में निरंकार जी की अपनी मान्यताएं व अवधारणाएँ हैं। वे महज तुकबन्दी या बच्चों के लिए उपयोगी मानकर लिखे गये साहित्य को बाल-साहित्य नहीं मानते। अलबत्ता, इसे वे बालोपयोगी साहित्य की संज्ञा देते हैं। वे बच्चों की भावनाओं पर राष्ट्रीयता या नैतिकता के नाम पर भी आरोपण को अनुचित मानते हैं। वे तो बालमन की अभिव्यक्ति को ही बाल-साहित्य स्वीकारते हैं। क्योंकि किसी वस्तु विशेष को देखकर जो कौतूहल बालमन में उत्पन्न होता है, वह बड़ों के कौतूहल से सर्वथा भिन्न होता है। लेकिन चूंकि बच्चों के पास शब्दावली और अभिव्यक्ति की सामर्थ्य का अभाव होता है, अतः उनका मन्तव्य है कि वही कवि या लेखक सच्चा बाल-साहित्य लिख सकता है जो अपनी प्रवृत्तियों में स्वयं भी बालवत् बन गया हो यानी जो नितान्त सहज, सरल और निष्कपट हो तथा जिसे अपने प्रौढ़ होने की कोई अहमन्यता न हो।

उनकी दृष्टि में, यदि सहज और प्रकृतस्थ होकर बाल मनोवृत्तियों, उनकी भावनाओं और उनकी संवेदनशीलता को आत्मसात कर लिया गया तो कवि के स्वयं के अन्दर भी बच्चों का अहं जागृत हो जायेगा, और तब वह जो साहित्य लिखेगा वह बाल-साहित्य होगा।

निरंकार जी बच्चों में प्रमुख रूप से एक ही प्रवृत्ति के दर्शन करते हैं और वह है बच्चों की सर्वथा स्वतन्त्र और मुक्त रहने की प्रबल आकांक्षा। इस प्रवृत्ति को और स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा भी है-

"बन्धन से मुक्ति के भाव के फलस्वरूप बच्चों में जिज्ञासा उत्पन्न होती है, जो विकास की ही एक प्रक्रिया है.....और जब जिज्ञासा की पूर्ति होती है तभी बच्चा अपने को बन्धनमुक्त और सन्तुष्ट महसूस करता है। जिज्ञासा उसको मुक्ति प्रदान करने में सहायक होती है। अनुशासन को बच्चों की इस जिज्ञासापूर्ति का ही अनुगामी होना चाहिए। अब यह साहित्यकार की अपनी उड़ान है कि वह कोई बात किस ढंग से कहे कि उससे बच्चों की जिज्ञासा की पूर्ति भी हो जाए, साथ ही उन पर आरोपित भी न लगे।"

अमीर खुसरो को हिन्दी का प्रथम बाल-साहित्यकार होने का गौरव प्रदान करते हुए निरंकार जी सूरदास के सम्बन्ध में लोगों की ऐसी धारणा को असंगत बताते हैं। वे कहते हैं कि अमीर खुसरो ने बहुत पहले जो ढेर सारी पहेलियां लिखीं, वे बच्चों की भावनाओं का ही प्रतिनिधित्व करती हैं। इसके विपरीत सूरदास का अधिकांश साहित्य वात्सल्य रस का साहित्य है, बाल-साहित्य नहीं। हां, कुछ पदों में बाल मनोवृत्तियों के सटीक चित्रण की बात वे भी स्वीकारते हैं।

विदेशी बाल-साहित्य में वे अंग्रेजी के बाल-साहित्य को ही अच्छा और उपयोगी बताते हैं। बाल-साहित्यकारों में पाई जाने वाली हीन भावना के लिए वे बाल-साहित्य के विषय में उनके अज्ञान और लेखन के प्रति उनकी क्षीण आस्था को दोषी मानते हैं।

निरंकार जी आज के इस वैज्ञानिक युग में परीकथाओं के पुनर्लेखन पर जोर देते हैं। उनके विचार से, इन परीकथाओं को वैज्ञानिक आधार और क्रम देकर दुबारा बड़े रोचक ढंग से लिखा जा सकता है। कल्पना की बेढ़ंगी उड़ान का अब कोई आधार नहीं रह गया है। परीकथाओं का यह नया स्वरूप बच्चों में वैज्ञानिक जानकारी के प्रति जिज्ञासा भी उत्पन्न करेगा। इसी प्रकार निरंकार जी बच्चों की सृजनात्मक भावनाओं को उभारने के लिए बाल-फिल्मों के बजाय बाल-रंगमंच की उपयोगिता पर विशेष बल देते हैं। वे इसे राष्ट्रीय खेल के रूप में विकसित करके, गांव-गांव गली-गली इसके खुले प्रयोग की बात करते हैं। बाल-रंगमंच के सन्दर्भ में वे ध्वनि-प्रकाश, मंच और साज-सज्जा आदि औपचारिकताओं को दूर फेंक देना चाहते हैं। वस्तुतः यही औपचारिकताएं बाल-रंगमंच के विकास में बराबर बाधा बनती आ रही है।

परिश्रम के हिसाब से पेशे से वकील रह चुके निरंकार जी की उपलब्धियां भी कम नहीं हैं। 40 के लगभग बाल-पुस्तकें तो उनकी आ ही चुकी हैं। उनकी कविताएं विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न कक्षाओं के पाठ्यक्रमों में संकलित हैं, कहीं अपने मौलिक रूप में तो कहीं अनूदित रूप में। बाल-साहित्य के सृजन के साथ-साथ उन्होंने इसके आलोचनात्मक और गवेषणात्मक पहलू पर भी पर्याप्त ध्यान दिया है। इस दिशा में उनका पहला ठोस-प्रयास सन् 1963 में किताब महल, इलाहाबाद से प्रकाशित 'बालगीत साहित्य' के रूप में सामने आया था। इससे भी पूर्व सन् 1954 में 'वीणा' में प्रकाशित उनका बाल साहित्य विषयक एक लेख विशेष उपयोगी है। इस लेख का उल्लेख डा० हरि कृष्ण देवसरे ने अपने शोध-प्रबन्ध में भी किया है, जिन्हें जबलपुर विश्वविद्यालय से पी-एच०डी० की उपाधि प्राप्त हुई थी और जो बाल-साहित्य पर शोध करने वाले पहले व्यक्ति थे। बाद में डा० राष्ट्रबन्धु (सागर वि०वि०) डा० श्री प्रसाद (काशी विद्यापीठ) डा० मस्तराम कपूर (बल्लभ विद्यापीठ, सौराष्ट्र) तथा डा० ज्योति स्वरूप (आगरा वि०वि०) आदि ने भी बाल-साहित्य पर शोध कार्य किया।

बाल-साहित्य के विभिन्न पहलुओं पर निरंकार जी ने हिन्दी अंग्रेजी में 20 के लगभग लेख भी लिखे हैं। अंग्रेजी के लेखों में से कई एक एसोसियेशन ऑफ राइटर्स एण्ड इलस्ट्रेटर्स फार चिल्ड्रेन के त्रैमासिक पत्र "राइटर एण्ड इलेस्ट्रेटर" में प्रकाशित हुए हैं। इसके अतिरिक्त सेन्ट्रल इन्स्टीट्यूट ऑफ इंडियन लैंग्वेजेज, मैसूर द्वारा प्रकाशित "ट्रेन्ड्स इन जुबेनाइल लिटरेचर इन इंडिया" दि स्टेट इंस्टीट्यूट ऑफ चिल्ड्रेन्स लिटरेचर, त्रिवेन्द्रम द्वारा प्रकाशित "ह्वाट इज चिल्ड्रेन्स लिटरेचर" तथा डा० हरिकृष्ण देवसरे द्वारा सम्पादित "बाल साहित्यः रचना और समीक्षा" आदि बाल-साहित्य विषयक अत्यन्त महत्वपूर्ण पुस्तकों में भी उनके लेख संकलित हैं। उनके बाल गीत संग्रह "नन्हें-मुन्ने गीत" का अंग्रेजी अनुवाद" टाइम टु राइम" चिल्ड्रेन्स बुक ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित किया गया है।

"बिल्लो के गीत" नामक बालगीत संग्रह विशेष लोकप्रिय हुआ था इसकी 25000 (पच्चीस हजार) प्रतियां दो वर्ष में ही बिक गयी थीं। उ०प्र० हिन्दी संस्थान द्वारा प्रकाशित "बालगीत साहित्य" के परिवर्धित व संशोधित संस्करण पर उन्होंने काम पूरा कर लिया था।



निरंकार जी का जितना मान-सम्मान हिन्दी जगत में है उससे कम उन्हें स्थानीय जनता और सहकर्मियों ने भी नहीं दिया है। संभवतः जीवन की सादगी और सहजता ने उन्हें लोगों की आस्था और विश्वास का पात्र बना दिया है। लेखन के लिए भी उन्हें विभिन्न सम्मानों के अलावा उ०प्र० हिन्दी संस्थान का वर्ष 1980 के लिए सर्वश्रेष्ठ बाल साहित्यकार का पुरस्कार प्राप्त हो चुका है। लेकिन निरंकार जी अपने स्वाभिमान की कीमत पर किसी भी मान-सम्मान व पुरस्कार को स्वीकारने के कतई हामी नहीं थे। साहित्य में उनकी जो भी पहचान बनी, वह किसी पुरस्कार विशेष के जरिये नहीं, वरन् उनकी अपनी रचना-धर्मिता के आधार पर बनी। शायद इसीलिए स्व० राष्ट्रकवि श्री सोहन लाल द्विवेदी उन्हें बड़ा स्नेह और सम्मान देते थे। डा० हरिवंश राय बच्चन के साथ उनके बड़े नजदीकी और मधुर सम्बन्ध रहे थे, जिनकी गवाह है राजपाल एण्ड संस द्वारा जनवरी 1972 में प्रकाशित पुस्तक "बच्चन के पत्र निरंकार देव सेवक के नाम"।

निरंकार जी ने अपनी गहन अनुभूतियों, मौलिक अभिव्यक्तियों तथा सुपुष्ट वैचारिकता के माध्यम से अपना जो स्थान, अपनी जो पहचान बनायी है उसे देखते हुए यह कहना कदाचित संदिग्ध न होगा कि निरंकारदेव सेवक के उल्लेख के बिना हिन्दी का बाल-साहित्य अधूरा ही रहेगा।

उन्होंने बाल-साहित्य को बच्चों के जीवन से जोड़ा

डॉ० नृपेन्द्र पाण्डे

डॉ० नृपेन्द्र पाण्डे राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, पिथौरागढ़ के बी०एड० विभाग में प्रवक्ता हैं।

समय की तेज रफ्तार में अपने सम्पूर्ण जीवन चक्र को साहित्य साधना की मंजिल की तरफ उन्मुख करते हुए सदैव अबाध व अविरल गति से निरन्तर प्रगति पथ पर बढ़ने वाले महान बाल-साहित्यकार निरंकार देव सेवक का जन्म 19 जनवरी सन् 1919 को बरेली शहर के सैदपुरिया स्ट्रीट मोहल्ले में एक मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था। सेवक जी के पिता रामभरोसे लाल व माता किशोरी देवी जी थीं। रचनात्मक कौशल के धनी स्वनामधन्य सेवक जी में एक अध्यापक पुत्र होने के फलस्वरूप संस्कारों में बौद्धिक प्रतिभा के गुण जन्म से ही विद्यमान थे। उन्होंने आगरा विश्वविद्यालय से हिन्दी साहित्य में एम०ए० करने में पश्चात काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से बी०टी० का प्रशिक्षण प्राप्त किया और हिन्दी साहित्य सम्मेलन की साहित्य रत्न की परीक्षा उत्तीर्ण की। अध्ययनकाल के उपरान्त सेवक जी अध्यापक बने तथा उन्होंने बरेली के डी०ए०वी० हायर सेकेण्ड्री स्कूल के मुख्य अध्यापक पद पर कार्य किया। कालान्तर में इस क्षेत्र से विदा लेकर वे अधिवक्ता के रूप में न्यायालय में उन्होंने काफी ख्याति अर्जित की। वे लगभग 15 वर्ष तक सरकारी वकील रहे। उनकी गिनती शहर के माने जाने फौजदारी वकीलों में से थी।

सेवक जी मात्र 13 वर्ष की अल्पायु से ही भजन आदि लिखकर तुकबन्दी करना प्रारम्भ कर दिया था किन्तु सबसे पहली बार उनकी 'विहग कुमार' शीर्षक कविता सन् 1937 में कलकत्ते के लोकप्रिय मासिक पत्र 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुयी थी। उसके पश्चात तो रचनाओं का सिलसिला बराबर जारी रहा। 'दादी', 'वीणा', 'लोकजीवन' 'नया समाज', 'बाल सखा' आदि पत्र

पत्रिकाओं में उनकी रचनाएं प्रायः प्रकाशित होने लगीं। कविताओं के अलावा उन्होंने बालगीत, एकांकी नाटक, कहानियाँ, गीत कथाएं, तथा कई विचारोत्तेजक लेखों की रचना की।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज के प्रवक्ता पं० सीताराम चतुर्वेदी व मनोविज्ञान के सुप्रसिद्ध ज्ञाता लालजी राम शुक्ल जी की प्रेरणा का उनके व्यक्तित्व पर विशेष प्रभाव पड़ा तथा उन लोगों के आशीर्वाद के फलस्वरूप वे दुगने उत्साह से बालगीतों की रचना के प्रति उन्मुख हुये। लगभग 1935 से 1940 के मध्य अर्थात 17 से 22 वर्ष की आयु किशोरावस्था में ही उन्होंने बाल रचनाकार के रूप में हिन्दी जगत में अपना स्थान बना लिया था तथा बाल-गीतों की दुनिया में उन्हें ख्याति मिलने लगी थी।

प्रारम्भ में सेवक जी की अभिलाषा प्राध्यापक ही बनने की थी परन्तु पारिवारिक परिस्थितियों के अन्तर्गत पत्नी के स्नेह व उनके परिवार के अन्य सदस्यों के आग्रह के फलस्वरूप उन्हें विवश होकर अधिवक्ता बनना पड़ा। उन्होंने कभी भी धन का लोभ नहीं किया। वे कई बार एसोशिएशन के अध्यक्ष भी बने।

जिस समय सेवक जी साहित्य सृजन कर रहे थे उस समय देश में क्रान्ति का वातावरण था। देश स्वतंत्रता के लिये छटपटा रहा था और भारतवासी उसको स्वतंत्र कराने के लिये अंग्रेजों से जूझ रहे थे। अंग्रेजी सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिये सन् 1942 के आंदोलन में उन्होंने अपना सक्रिय योगदान दिया। उन पर एम०एन० राय जी के जीवन दर्शन का काफी प्रभाव पड़ा। स्वयं सेवक जी के शब्दों में "मेरे ताऊजी के लड़के कुछ क्रान्तिकारी विचारों के थे। एक बार कहीं बम लेकर जा रहे थे तो पकड़े गये उनके पकड़े जाने के कारण हम लोगों के घर पर छापे पड़े। इन सबसे मन में कुछ भावनाएं तो पैदा होती थीं किन्तु इस सम्बन्ध में कुछ दृढ़ विचार मेरा नहीं बन पाता था। जब मैने बरेली कॉलेज बरेली में प्रवेश लिया तो वहाँ कुछ देशभक्त छात्रों के सम्पर्क में आये। वहाँ की स्टूडेण्ट फैडरेशन का मैं सक्रिय सदस्य था। मेरे मन में देशभक्ति के गीत लिखने की भावना द्वितीय विश्वयुद्ध यानी 1939 में हुयी। इस समय दो प्रकार के लोगों से मेरा सम्पर्क था एक कांग्रेसियों से जो सत्याग्रह में विश्वास करते थे दूसरा 'लीग आफ रेडीकल कांग्रेस मेन'। यह भी कांग्रेस के अन्तर्गत ही थी। इसके नेता एम०एन० राय ने इनके क्रान्तिकारी विचारों ने मुझे आकर्षित किया तथा इनके विचारों ने मेरी क्रान्तिकारी भावनाओं को प्रोत्साहन देना प्रारम्भ किया।"

सेवक जी ने 1942 के आंदोलन में अपने कई मित्रों को 'ब्रिटिश राज्य को उखाड़ फेंकने के लिये 'यह अन्तिम संघर्ष है और हमें इसमें सक्रिय योगदान

देना चाहिये' जैसे भावों से ओत-प्रोत पत्र प्रेषित किये जिनमें से एक पत्र शासन द्वारा सेंसर कर दिया गया था। उस पत्र के कारण बरेली की पुलिस उन्हें पकड़कर कोतवाली ले गयी थी लेकिन कुछ घण्टों बाद उन्हें छोड़ दिया गया था। यह उनकी विलक्षण प्रतिभा का ही परिणाम है कि एक ओर उन्होंने समाज की बुराइयों को समाप्त करने हेतु अपनी लेखनी से अंगार उगलती ज्वाला युक्त रचनाएं सृजित कीं वहीं दूसरी तरफ ओस से भी मुलायम बाल हृदयों की संवेदनशीलता को बाल-गीतों के माध्यम से प्रकट करते हुये बाल-जगत के सिंहासन पर आरूढ़ हो गये। यह संवेंगो व रचनाधर्मिता का ऐसा नायाब सन्तुलन है जो शायद ही किसी रचनाकार को प्राप्त होगा। उन्होंने बालकों के लिये बालक एवं शिशुओं के लिये शिशु बनकर ही रचनाएं कीं।

हर देश के काल व परिस्थितियों में उनके गीत हृदयस्पर्शी व मन को मंत्रमुग्ध करने वाले हैं। उन्होंने सर्वोपरि महत्व बालगीतों को ही प्रदान किया। बालगीतों की रचना की ललक सेवक जी में हर समय थी। स्कूलों कालेजों के कवि सम्मेलनों की परिस्थितियों का उल्लेख करते हुए सेवक जी ने अपने विचार इन शब्दों में स्पष्ट किये हैं-

"मुझे यह देखकर बहुत दुःख होता है कि वहाँ जो छोटे-छोटे बच्चे सुनाने के लिये स्वयं कविताएं रचकर लाते थे वह दर्शन और राजनीति के बड़े गम्भीर विषयों पर हुआ करती थीं। मेरी समझ में नहीं आता था कि बच्चे अपनी सहज सरल मनोभावों के अनुरूप बालगत उन्मुक्त भावों से क्यों नहीं लिख पाते। मैंने एक बार उनसे कहा भी था- ऐसा लगता है तुम्हारे हाथ पैर तो छोटे रह गये पर सिर हाथी के समान बड़ा हो गया।" सेवक जी ने बाल साहित्य को साधनों के नितान्त अभाव के बावजूद भी अपनी अनवरत साधना द्वारा बड़ी ऊँचाई तक पहुँचाया है। यद्यपि बाल-सात्यि के वे लब्ध प्रतिष्ठित रचनाकार हैं किन्तु उन्होंने हिन्दी साहित्य की प्रत्येक विधा और क्षेत्र पर अपनी लेखनी उठाई है। उनके लिये पण्डित सीताराम चतुर्वेदी ने स्पष्ट कर दिया था कि हिन्दी के बालगीतों के अभाव को सेवक जी की रचनाएं दूर कर देंगी और उन लेखकों का पथ प्रदर्शन करेंगी जो इस क्षेत्र में उतरने के लिये नायक खोज रहे हैं।

डॉ० श्री प्रसाद जी ने उनके सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये उनसे उनके व्यक्तित्व का बोध होता है। श्री प्रसाद जी के शब्दों में- "सोहन लाल द्विवेदी जी को बाल साहित्यकारों का दद्दा कहा जा सकता है। द्विवेदी जी के बाद बाल-साहित्य के क्षेत्र में सबसे अधिक ख्याति सेवक जी को ही मिली है। दुबली काया, बीच-बीच में अस्वस्थता और सत्तर वर्ष की उम्र में भी बराबर बाल-साहित्य की सेवा कर रहे हैं। आप पेशे से वकील हैं जो कानून की

मोटी-मोटी पोथियाँ पढ़ता है, अपने मुवक्किलों से वहस करता है पर उसके हृदय में एक कोने में और एक बड़े कोने में बालक उछालें मारता रहता है जो उनसे सीधी सरल कविताएं लिखवाता रहता है, उनके हृदय में कविता बनकर गूंजता रहता है।"

सेवक जी ने बाल-साहित्य के उन्नयन तथा विकास में पूर्ण योगदान दिया। उन्होंने बालगीतों को बच्चों की रुचियों, आकांक्षाओं व बाल सुलभ स्वाभाविक चेष्टाओं के अनुरूप लिखा है। उन्होंने अपने शिशु काव्य में मधुर, मनमोहक, गुनगुनाहट भरे व छोटे-छोटे चटपटे गीत लिखे हैं जिन्हें पढ़कर और सुनकर बच्चे बाग-बाग हो उठते हैं। उनका मन बिल्ली मौसी के साथ अठखेलियाँ करने लगता है, बंदर मामा के साथ पेड़ों पर कुलाचें मारने लगता है, प्यारी-प्यारी तितलियों को पकड़ते-पकड़ते आकाश में उड़ने लगता है, सुरीली कोयल के साथ कूकने लगता है तथा परियों के लोक में भ्रमण करने लगता है। उनके 'नन्हें मुन्ने गीत', 'दूध जलेबी', 'बिल्लो के गीत', 'अगर-मगर', 'माखन मिसरी', 'बीन बजाती बिल्लो रानी' अमर कृतियाँ हैं। ये सभी रचनाएं शिशुओं की प्रकृति के अनुरूप हैं तथा इन्हें अत्यन्त सरल भाषा में हास्यपूर्ण व कल्पनायुक्त बनाया गया है। नन्हें मुन्ने गीत जो चिल्ड्रन्स बुक ट्रस्ट दिल्ली से प्रकाशित हुयी तथा जिसके चित्रकार श्री शरद जोशी हैं। सेवक जी को 1984-85 का राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त हुआ। उनके गीतों में बच्चों की स्वाभाविक इच्छाओं को बहुत ही सही ढंग से प्रदर्शित किया गया है।

सेवक जी के शिशु गीतों में बच्चों के लिये कौतूहल, खेल, विस्मय, आश्चर्य, प्रसन्नता, प्रेमसंचय, रचनात्मकता, सामूहिकता आदि जैसे स्वस्थ सवेंगो एवं मूलप्रवृत्तियों को उनके स्वाभाविक स्वरूप में कलात्मकता प्रदान करते हुए प्रस्तुत किया गया है। उनके शिशुगीत प्रायः छोटे व प्रवाहपूर्ण हैं। इनसे शिशुओं का मन इन्हें पढ़ने और सुनने से ऊबता नहीं अपितु वे इन गीतों को इतना ध्यान मग्न होकर सुनते हैं कि दो चार बार सुनकर हृदयंगम व कण्ठस्थ कर लेते हैं। गूढ़ चिन्तन एवं अनावश्यक विस्तार को उन्होंने अपने शिशु साहित्य में स्थान नहीं दिया है।

बच्चों के प्रति उन्होंने अपनी मनोभावनाओं को इन शब्दों में व्यक्त किया है "बच्चे स्वभाव से ही स्वतंत्रताप्रिय होते हैं। बड़े आदमियों के सामाजिक कायदे कानूनों के सांचे में ढले हुये व्यक्तित्व एक दूसरे से बहुत कुछ मिलते जुलते हो सकते हैं। वह परिस्थितियों व घटनाओं पर एक ही प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्त करके एक ही भाषा में बोल सकते हैं पर बच्चे इंसानियत के अतिरिक्त और किसी ढांचे में ढले हुये नहीं होते। वह न तो हिन्दू होते हैं न मुसलमान, न ईसाई न बौद्ध,

न जैन, न चीनी, जापानी, हिन्दुस्तानी, रूसी या पाकिस्तानी। उनके विकास की गति को न कोई धर्मोपदेशक रोक सकते हैं, न धर्मग्रन्थ, न दण्ड प्रक्रिया संहितायें, न संविधान और न संसार की सेनाएं, पुलिस, जज या मजिस्ट्रेट।"

'रिमझिम' पुस्तक पर सेवक जी को विन्ध्य प्रदेश राज्य की तरफ से विश्वनाथ पुरस्कार मिला था। इस पुस्तक के बाल-गीत हिन्दी बाल-साहित्य में अद्वितीय हैं। वर्षा ऋतु की तरह सुखदायी इस पुस्तक के 29 बालगीत इन्द्र धनुष की तरह छटा बिखेरते प्रतीत होते हैं। बाल संग्रह के रूप में सेवक जी की निम्नांकित रचनाएं ख्याति प्राप्त हैं- 'रिमझिम', 'सोनू के गीत', चिड़िया गाती तेरा राग', 'शेखर के बालगीत', 'मुन्ना के गीत', 'धूप-छाया', 'आजादी के गीत', 'पप्पू के बालगीत', 'महापुरुषों के गीत', 'टेसू के गीत' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये समस्त रचनाएं बाल मनोविज्ञान के अनूठे एवं अप्रतिम दस्तावेज हैं। उनके प्रमुख काव्य संग्रहों के अध्ययन से पता चलता है कि उन्होंने विभिन्न विदेशी बाल-साहित्य का भी अच्छा अध्ययन किया उनका कहना था कि बड़ों को लिखना है तो उन्हें स्वयं बच्चा बनकर बच्चों के संसार में रह बसकर लिखना पड़ेगा। उन्होंने युगानुरूप बाल-साहित्य का सृजन किया है। उन्होंने बालकों की कल्पनाओं एवं मनोभावों को परिष्कृत करने वाले बाल-गीत लिखे। सेवक जी बीसवीं सदी के तीसरे दशक में ही अविर्भूत हुए और उन्होंने हिन्दी बाल-साहित्य के प्रत्येक युग को प्रभावित किया। वे 40 वर्षों से बाल-साहित्य का सृजन कर रहे थे। उनकी 50 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं तथा अभी कई अप्रकाशित हैं।

साहित्य के अतिरिक्त सामाजिक, राजनैतिक, पुरातत्व, दार्शनिक तथा विधि सम्बन्धी विषयों पर सेवक जी के अनेक महत्वपूर्ण लेख विभिन्न प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। वे अखिल भारतीय बाल साहित्यकार परिषद के अध्यक्ष थे। वे सदैव क्रियाशील रहकर साहित्य साधना में अनवरत रूप से लगे रहे। परिणाम स्वरूप उन्हें सर्वोच्च उपाधियों, सम्मान अभिनन्दव पुरस्कार प्राप्त हुये। उन्होंने सैकड़ों कान्फ्रेसों व संगोष्ठियों में भाग लिया। सेवक जी के योदान का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उनकी अलग-अलग विशेषताओं से युक्त साहित्यिक कृतियों पर शोध प्रबन्ध प्रस्तुत हो सकते हैं। सेवक जी का काव्य अपनी सम्पूर्ण विशेषताओं के साथ हिन्दी साहित्य का एक ऐसा कोष है जिसे पाकर हिन्दी जगत गौरवान्वित है। उनके बाल-साहित्य की विषय वस्तु आज के संक्रमणशील युग में राष्ट्रीय एकता का स्वर फूंकने में समर्थ है।

उनके दृष्टिकोण से दूरदर्शिता झलकती है। वे इस बात को अच्छी तरह से जानते थे कि आज का विश्व बाल-साहित्य एक ओर यदि अपनी संस्कृति

और परम्परा से जुड़ा है तो दूसरी ओर आधुनिक चिंतन धारा और नये समाज से जुड़ने के लिये भी प्रयत्नशील है। सभी देश अपने राजनैतिक सामाजिक और आर्थिक चिन्तन के अनुरूप बच्चों का विकास चाहते हैं किन्तु वे यह नहीं चाहते कि उनके बच्चे यथार्थ के धरातल से दूर खड़े हों या परम्परा के मोह में आगे बढ़ने से रह जायें।

'हिन्दी बालगीत साहित्य और समीक्षा' शीर्षक पुस्तक में सेवक जी ने बाल साहित्य के इतिहास समीक्षा और विवेचना पर परिश्रम पूर्वक कार्य किया। बाल-साहित्य पर लिखी गयी अन्य पुस्तकों की अपेक्षा इस पुस्तक में सभी तथ्यों को क्रमानुसार व प्रवाहपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया है। शोध परक दृष्टि से उनके द्वारा लिखी गई इस पुस्तक में बहुत सी उपयोगी विषय वस्तु का चयन किया गया है। इस क्षेत्र में कार्य करने वाले शोधार्थी इस सहयोग द्वारा लाभान्वित होते रहेंगे।

हिन्दी बाल-साहित्य में सेवक जी के योगदान की स्वर्णिम कड़ियों की श्रृंखलाओं में एक विशेष कड़ी है वह है बाल गजलों की तुक की क्रमबद्धता तथा संक्षिप्तता। सेवक जी को हम बाल-गजलकार का सम्मान प्रदान कर सकते हैं। बिना किसी संदेह के वे बाल-साहित्य की इस नवीन विधा के प्रथम हस्ताक्षर माने जाने चाहिए।

विश्व साहित्य में कथा साहित्य का अत्यन्त आदरणीय व महत्वपूर्ण स्थान रहा है। सेवक जी के द्वारा प्रणीत कथागीतों की रोचकता, सरलता, मधुरता, भावाभिव्यक्ति और उपदेशात्मकता प्रशंसनीय है। उनके कथागीत संग्रह 'मटर के दाने', 'हाफिज का सपना', 'गीत कथाएं सोने की', 'जापान की लोक कथाएं', 'जर्मनी की लोक कथाएं', 'फ्रांस की लोक कथाएं', 'पंचतन्त्री', 'ईसप की गीत कथा भाग एक एवं भाग दो' बहुत आकर्षक व मन को मुग्ध करने वाले हैं।

सेवक जी को शताब्दी के बाल साहित्य में अपना कीर्तिमान स्थापित करने का गौरव प्राप्त है। उग्र एवं क्रान्तिकारी विचारों से युक्त सेवक जी ने एक विद्रोही कवि के रूप में अपनी भावनाएं बिना किसी झिझक के व्यक्त कीं। परिवार की विषम परिस्थितियाँ भी उनको जीवन पर्यन्त इस परम पुनीत लक्ष्य से विचलित न कर सकीं और वे लब्ध प्रतिष्ठित साहित्यकार के रूप में हिन्दी बाल-साहित्य में पूजनीय हो गये। उन्होंने शोषण के विरुद्ध सदैव सशक्त आवाज उठाई। गरीबों का शोषण होता देख उन्होंने पूंजीपरस्त समाज, व्यवस्था व व्यक्ति सबके खिलाफ लिखा। आक्रोश के क्षणों में उन्होंने महान पूंजीपति 'बिड़ला' को भी न छोड़ा। लोगों द्वारा यह कहे जाने पर कि ऐसे विचार तुमको समाज में प्रतिष्ठा नहीं देंगे, सेवक जी ने अपनी विचारधारा परिवर्तित नहीं की और समाज की

प्रतिष्ठा की परवाह किये बिना सच्चाई का पर्दाफाश करते रहे। प्रारम्भिक जीवन की मजबूत आधारशिला दृढ़ संस्कारों व स्वाभिमानी व्यक्तित्व का ही परिणाम था कि वे सामाजिक कार्यों तथा साहित्यिक गतिविधियों में निष्ठा के साथ जीवन पर्यन्त संलग्न रहे व महन्त गिरि व एकाधिकारवादी प्रवृत्ति से दूर हटकर विद्रोही कवि के रूप में उभरे।

नवीन मूल्यों और आदर्शों की रचना हेतु सेवक जी ने बालकों को अज्ञान के अंधकार से निकालकर ज्ञान के प्रकाश में प्रशस्त करने का बीड़ा उठाया। उपयोगितावादी दृष्टिकोण को समक्ष रखते हुये सेवक जी ने बाल साहित्य को बालकों के जीवन से सम्बन्धित करने का प्रयास किया है। उन्होंने स्पष्ट किया कि समय कठिन है और आज की जिन्दगी में सदैव आगे बढ़ने की फिक्र होनी चाहिये। दूसरों पर आश्रित न रहकर स्वयं कार्य करने की आदत विकसित करना ही समय का तकाजा है। उनकी कई कविताएं बच्चों को संघर्षमय जीवन में अपने पावों पर खड़े होकर आगे बढ़ने का संदेश दे रही हैं। सेवक जी ने प्रकृति के उपहारों से बालकों का मनोरंजन किया व उन्हें प्रकृति की सर्वोत्तम निधि माना। फूलों के गीत में सेवक जी कहते हैं- "प्यारे बच्चों! यह फूलों के गीत तुम्हारे हाथों में देते हुये मुझे भी प्रसन्नता हो रही है। तुम सब बगिया में नये खिले हुये फूलों की तरह हो इसलिये मैंने इस पुस्तक का नाम 'फूलों के गीत' ही रख दिया है। फूल खिलकर हमेशा हँसते रहते हैं यहाँ तक कि मुरझा जाने पर भी उनकी हँसी नहीं जाती। मैं चाहता हूँ कि फूलों की तरह तुम भी सदा हँसते रहो।

कल्पनाएं गीतों का अनिवार्य तत्व होती हैं और बालगीतों में तो उनकी अपेक्षाकृत अधिक आवश्यकता पड़ती है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये किसी परीलोक या किसी सुन्दरवन का प्रसंग चुन लेना आम बात है, लेकिन बाल मन के चतुर चितेरे और शिशु वृत्ति के सहज ज्ञाता सेवक जी की विशेषता यही रही कि उन्होंने बच्चों को गीत के विषय से परिचित कराने के लिये उन्हें घर से बाहर ले जाने के वजाय विषय का बच्चों के घर पर आ जाना ज्यादा पसंद किया। यथा-

हाथी राजा कहाँ चले
सूंड हिलाते कहाँ चले
पूंछ हिलाते कहाँ चले
गन्ना खाते कहाँ चले
मेरे घर आ जाओ ना
हलुवा पूरी खाओ ना
आओ बैठो कुर्सी पर

कल्पनाओं की भाँति जीवन की भी एक सीमा होती है... 20-10-1994 को हिन्दी साहित्य में बाल साहित्य के प्रतिष्ठाता ऐहिक सीमाओं को लाँघकर चाँद-सितारों की उसी दुनिया में चले गये जिसके विभिन्न रूप उनके बाल-गीतों में सदैव अमर रहेंगे।

□□

निरंकार देव सेवक की हिन्दी-गज़ल-यात्रा

डॉ० रोहिताश्व अस्थाना

डॉ० अस्थाना का नाम हिन्दी गजल के लिए जाना जाता है। हरदोई (उ० प्र०) में रहते हैं।

साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है। अतः वही साहित्य लोकप्रिय हो सकता है। जिसमें समाज का यथार्थ बोध सन्निहित हो और जो सीधे समाज तक सम्प्रेषित हो सके। हिन्दी में गजल ने यह काम कुशलता पूर्वक कर दिखाया है। जो काम नई कविता न कर सकी, वह हिन्दी गजल ने कर दिखाया। तभी तो दुष्यन्त कुमार जैसा नई कविता का सशक्त हस्ताक्षर अपने व्यक्तिगत दर्द को सार्वजनीन बनाने के लिए हिन्दी गज़ल की पगडंडी पर मुड़ गया। जो बात दे 'सूर्य का स्वागत' की नई कविताओं में न कह सके, उन्हें अपनी हिन्दी गज़लों में बखूबी कहकर आम आदमी के दिलों तक पहुँच सके। आम आदमी की ज़िन्दगी की सच्चाइयों, सामाजिक एवं राजनैतिक विसंगतियों, महानगरीय सभ्यता के दुष्परिणामों को हिन्दी गजलों में उन्होंने भली भाँति उजागर किया।

यों तो भारतेन्दु एवं उनके पूर्ववर्ती काल से ही हिन्दी में गजलें लिखी जाती रही हैं, परन्तु उन्हें दुष्यन्त कुमार के समय से ही विधिवत् मान्यता मिली, क्योंकि जो सोच, तेवर और अभिव्यक्ति का ढंग दुष्यन्त की गजलों में है, वैसी बात पूर्ववर्ती गजलों में नहीं। और आज तो हिन्दी गजलों की धूम ही मची हुयी है। दुष्यन्त कुमार से प्रभावित उनके समकालीन रचनाकारों में निरंकार देव सेवक का नाम निस्संकोच लिया जा सकता है। गजलों में आने से पहले उन्होंने भी नई कविता के माध्यम से सामाजिक यथार्थ बोध को अभिव्यक्ति देने का काम किया। उनकी जनवादी कविताओं का एक संग्रह 'चिनगारी' शीर्षक से 1943 में प्रकाशित हुआ, जिसकी भूमिका में पुरुषोत्तम दास टंडन ने कहा था 'निरंकार देव सेवक की इन कविताओं की पंक्ति-पंक्ति में हमारा वास्तविक और दयनीय समाज कराह रहा है। कवि की यथार्थ प्रियता और उसके विचार स्वातंय को तो छन्दों के बन्धन भी ग्राह्य नहीं। कवि का उद्देश्य तो आज की विषमताओं को, जिनमें आज हम जी रहे हैं और जिनमें कम से कम उसने अपना दम घुटता

पाया है- शब्दबद्ध करना मात्र है। कवि ने तथाकथित बुरी वस्तुस्थितियों को बहुत ही बुरा क्यों न कहा हो, उसने जो कुछ कहा है- वह आज का है और काफी सत्य है।' इसके पूर्व उनके दो काव्य संग्रह 'कलरव' और 'स्वास्तिका' भी प्रकाशित हो चुके थे, परन्तु फिर भी अपने सोच को, अपने दर्द को आम आदमी तक सम्प्रेषित करने के लिए उन्हें गजल का सहारा लेना पड़ा। इस प्रकार वे दुष्यन्त कुमार से परिस्थितिजन्य साम्य भी रखते हैं। कथ्य और शिल्प की दृष्टि से निरंकार देव सेवक की हिन्दी गजलें अपना अलग रंग बिखेरती हैं। आम आदमी के दुःख दर्द को अभिव्यक्ति देकर सेवक जी ने अपनी गज़लों को सर्वहारा वर्ग तक सहज ही सम्प्रेषित किया। वे दुष्यन्त कुमार के स्वर में स्वर मिलाकर गुनगुना उठते हैं-

पाजामा सीं लिया तो था, कुर्ता फटा-फटा,
दोनों को एक साथ कभी सीं नहीं मिला।।
जो दूसरे के दर्द को अपनी तरह जिए
ऐसा तो कोई हमको बशर ही नहीं मिला।।
हम भी किसी से कम तो न थे देश भक्ति में,
क्या हो गया जो हमको 'पद्म श्री' नहीं मिला।।

सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों के बिखराव की ओर भी कवि की दृष्टि गयी है। आधुनिक युग में मानवता की हत्या हो चुकी है। आदमी आदमी के रक्त का प्यासा हो उठा है। जनमानस अपना विवेक खोता जा रहा है। भीड़ की मानसिकता लोगों में फैलती जा रही है। ऐसे विषम वातावरण का सटीक चित्रण करने में सेवक जी की गजल के निम्नलिखित शेर कितने सफल सिद्ध हुए हैं-

'सड़कों पे बदहवास चले आ रहे हैं लोग।
मंजिल का कुछ पता न कहीं पा रहे हैं लोग।।
पुरखों ने जो बनाई थीं ऊंची हवेलियाँ-
उनकी अब ईंट ईंट बजा ढा रहे हैं लोग।।
आँसू न गिराओ न सही सिर तो झुका लो-
इंसानियत की लाश लिए आ रहे हैं लोग।।'

बदलते हुए परिवेश को स्वर देते हुए सेवक जी कहते हैं-

'शब्दों के अर्थ और इशारे बदल गये।
सम्बन्ध अब हमारे तुम्हारे बदल गये।।
सत्ता की राजनीति ने यह क्या किया कि वह-
बिल्कुल करीब थे जो हमारे बदल गये।।
अब उनमें पहले जैसी वह गर्मी नहीं रही-
ऐसी हवा चली कि अंगारे बदल गये।।'

सेवक जी की एक अन्य ग़ज़ल अत्यन्त लोकप्रिय हुयी है जिसमें शैतान भी आदमी को देखकर भय से चिल्लाह पड़ता है। इस गज़ल के तीन शेर प्रस्तुत हैं-

आ के दुनियां में क्या कुछ करे आदमी,
जिन्दगी भर जिए या मरे आदमी।।
देवता बन न सुरलोक की बात कर,
मुझको लगते हैं अच्छे खरे आदमी।।
मुझको देखा तो शैतान चिल्ला पड़ा-
आदमी, आदमी, बाप रे आदमी।।'

सचमुच आज आदमियत पर प्रश्न चिन्ह सा लग गया है। व्यक्तिगत स्वार्थपरता एवं अपना उल्लू सीधा करने की प्रवृति ने आदमी को आदमी से दूर कर दिया है। इस मनः स्थिति का एक शेर सेवक जी के शब्दों में देखिए-

"उस आदमी को आदमी हम किसलिए कहें,
जो एक दूसरे के नहीं काम आ सके।।

आज बढ़ती हुयी मंहगाई के इस युग में भी आदमी की कीमत निरन्तर गिरती जा रही है क्योंकि आदमी अपने समस्त जीवन मूल्यों को खो चुका है। यह एक चिन्ता का विषय है, जिसे कविवर सेवक जी ने बखूबी पहचाना है-

और तो हर चीज के हैं दाम चढ़ते जा रहे-
किन्तु गिरते जा रहे हैं आदमी के दाम क्यों?

ऐसी विषम परिस्थितियों में हर गली नुक्कड़ और चौराहों पर तथाकथित 'रावणों' का बोलबाला है। आज का राम अकेला पड़ता जा रहा है। अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाने का उसका जोश ठंडा पड़ता जा रहा है। यही आज का सच है। इस सन्दर्भ में नए प्रतीक एवं बिम्ब के माध्यम से सेवक जी ने अपनी बात इस प्रकार कही है-

हर गली कूंचे में रावण घूमते दो चार हैं-
वाण अब उन पर चलाते हैं न लक्ष्मण राम क्यों?

आज जबकि हम सभ्यता की दौड़ में निरंतर आगे बढ़ते जा रहे हैं। हमारी जर्जर रूढ़ियां एवं परम्परायें समूचे युग के पांव में जंजीरों की भांति पड़ी हुयी हैं। विचारणीय है कि आगे बढ़ने के लिए इन्हें छोड़ना और तोड़ना ही होगा। इस ओर संकेत करते हुए सेवक जी का एक शेर प्रस्तुत है-



रस्मों रिवाज पाप पुण्य और कुछ नहीं-
हथकड़ियां, बेड़ियां हैं महज हाथ-पाँव में।।

इतना ही नहीं, आज आदमी को आदमी से दिली तौर पर जोड़ने की सबसे बड़ी आवश्यकता है। धर्म सम्प्रदाय या कोई और विवशता आदमी को आदमी से अलग न कर सके। परन्तु इसके लिए हमें सही समझ की जरूरत है। और दिलों को जोड़ने की इस प्रक्रिया की ओर सेवक जी का ध्यान गया है। वे महसूस करते हैं कि-

सारे इन्सान बराबर हैं, न छोटे न बड़े-
कोई हिन्दू न मुसलमान समझते ही नहीं।।'

इतना ही नहीं आम आदमी को समूचे युग के विकास में परिश्रम से अपनी सहभागिता सुनिश्चित करनी होगी, तभी इक्कीसवीं सदी की ओर बढ़ते हुए हमारे चरण गति पा सकेंगे। इस परिप्रेक्ष्य में कविवर सेवक जी का एक शेर देखिए-

रस गिरे मुंह में टपककर यह कभी मुमकिन नहीं।
आम खाना है तो पेड़ों को हिलाकर देखिए।।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि निरंकार देव सेवक की गजलें आज के सच की सबसे बड़ी पहचान है। उन्होंने अपनी गजलों को केवल लिखा ही नहीं अपितु जिया भी है। उनकी गज़लों का सोच, उनके तेवर, उनकी अभिव्यक्ति का ढंग सीधे उन्हें आम आदमी से जोड़ देता है। उनकी गज़लों में जीवन की विसंगतियों का यथार्थ चित्र ही नहीं मिलता अपितु जीवन के लिए एक नई दिशा भी मिलती है। सम्भवतः यही हिन्दी गज़ल को सेवक जी का सबसे बड़ा अवदान है। निश्चय ही कथ्य एवं शिल्प की दृष्टि से निरंकार देव सेवक की गजलें दुष्यन्त कुमार के समीप हैं। इन्होंने सहज स्वाभाविक, हिन्दुस्तानी भाषा का प्रयोग किया है। उर्दू के लोकप्रिय एवं प्रचलित शब्द इनकी भाषा में रच बस गए हैं। मुहावरों के प्रयोग से इनकी गजलों की अर्थवत्ता में अभिवृद्धि हुयी है। सच तो यह है कि उनकी गज़लें आज के माहौल की सच्ची तस्वीर हैं। निस्संदेह हिन्दी गज़ल के क्षेत्र में सेवक जी की गज़लें अपना अलग रंग और वैशिष्ट्य रखती हैं। आज के परिवेश में तो उनकी गज़लों की प्रासंगिकता और भी बढ़ गयी है। हिन्दी गज़ल साहित्य के इतिहास में सेवक जी का महत्वपूर्ण स्थान असंदिग्ध है।

□□

'चिन्गारी': हिन्दी का प्रथम प्रगतिशील काव्य

कँवल भारती

कँवल भारती दलित चेतना के रचनाकारों में सम्मानित नाम है। विचारक हैं।

सन् 1936 में जब मुंशी प्रेमचन्द की अध्यक्षता में पहली बार 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुयी, उसी समय से हिन्दी में प्रगतिशील लेखन का सूत्रपात्र हुआ। उन दिनों सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और जोश मलीहाबादी, ये दो प्रगतिशील धारा के प्रमुख कवि माने जाते थे। इनमें जोश उर्दू के शायर थे, जो भारत-विभाजन के बाद पाकिस्तान चले गये थे। निराला ने हिन्दी-छन्द की रूढ़ियों को तोड़कर छन्दरहित नयी शैली में कविताएँ लिखीं। हिन्दी में उनके इस नये प्रयोग का प्रबल विरोध हुआ, और आश्चर्य यह कि विरोध करने वालों ने ही उन्हें बाद में 'महाकवि' और 'महाप्राण' कहकर न केवल प्रशंसित किया, अपितु प्रगतिशीलधारा का जनक भी सिद्ध किया। हिन्दी आलोचना ऐसे तमाशे करने में सबसे आगे है। एक प्रख्यात आलोचक लिखते हैं - 'इस दकियानूसी भारत की राह ही न्यारी है। रावण सीता को उठा ले गया। दण्डकारण्य का आर्थिक विकास करने के बदले रामचन्द्र पहुँच गये लंकानिवासियों का नाश करने।... बताइए है न अन्धेर।' और यही आलोचक एक दूसरे निबन्ध में लिखते हैं - 'तुलसी के राम भारतीय जनता के नैतिक गुणों का प्रतिनिधित्व करते हैं।..... समाज में चाहे दुःखी, दीनों और निस्वार्थ सेवकों को कोई न पूछे, राम उन्हें पूछने वाले हैं।' बताइए, है न तमाशा।

निराला के संबंध में भी यही तमाशा हुआ और अध्ययन से काम नहीं लिया गया, अन्यथा यह प्रश्न जरूर उठना चाहिए था कि वेदान्त और भक्ति में डूबी हुई निराला की विचारधारा प्रगतिवादी कैसे हो सकती है? हिन्दी कविता को उनकी सबसे बड़ी देन उनकी नयी शिल्प-परम्परा है, जिसे उन्होंने बड़े साहस के साथ छायावादी छन्द-विधान को तोड़कर स्थापित किया था। किन्तु उनका प्रगतिवाद छायावाद के विभिन्न रंगों से अनुरंजित और किसी खास धार्मिक आदर्श के लिये तराश कर उपस्थित किये गये यथार्थवाद से अधिक नहीं था।

1943 में, साहित्य-भवन प्रयाग से प्रकाशित श्री निरंकार देव सेवक के तृतीय कविता-संकलन 'चिन्गारी' में हमें पहली बार मानव का जाग्रत विवेक, स्थिर जीवन की गतिशीलता और चिन्तन के नये मानदण्ड दिखायी पड़ते हैं। उसमें सब सन् 1939-40 की लिखी कवितायें हैं। 'चिन्गारी' के अवलोकन से ज्ञात होता है कि हिन्दी साहित्य के सबसे पहले प्रगतिशील कवि श्री निरंकार देव सेवक हैं। जिन्होंने प्रगतिवादी यथार्थवाद को अधिक ईमानदारी और ज्यादा गहरायी से प्रस्तुत किया है। उनका कवि भी छायावाद के ऐश्वर्य-काल में जन्मा और निराला के साथ ही रहस्यलोक के मादक सौन्दर्य से निकलकर धरती के कठोर यथार्थ पर उतरा। किन्तु, हिन्दी की आलोचनाओं और हिन्दी-साहित्य के इतिहासों में 'चिन्गारी' का कोई उल्लेख नहीं है। इसके दो ही कारण हो सकते हैं, या तो किसी खास मानसिकता के तहत 'चिन्गारी' की उपेक्षा की गयी, या फिर हिन्दी-आलोचनाएँ और हिन्दी-साहित्य के इतिहास शोध और परिश्रम से नहीं लिखे गये।

'चिन्गारी' के प्रारम्भ मे कवि अपनी स्नेहमयी से कहता है - संसार को मैं बड़ी गिरी हुई नजर से देखता था। छि:! यह भी कोई हम जैसे भले आदमियों के रहने का स्थान है।.... किन्तु भावनाओं का यह अमर संसार हमारे जीवन के कठिन प्रत्यक्ष के समाने टिक न सका। उसका अस्तित्व ही क्या था।... सत्य पर फिर सत्य है। कुशल से कुशल स्वप्न-द्रष्टा उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता, मेरे कवि को भी उसके आगे शीश झुका ही देना पड़ा।

- एक ठोकर में बिखर कर जा रहे सुख-स्वप्न सारे,
सत्य को जग के सकूँ मैं कल्पना से जीत कैसे?"

एक प्रकार से सेवक जी का कवि अपने छायावादी युग में ही संसार की वास्तविकता से जुड़ गया था, और चिन्गारी की रचना के लिये उसकी रगो में गर्म-गर्म खून दौड़ने लगा था।

'चिन्गारी' में सेवक जी की सत्रह कविताएँ संकलित हैं। पहली कविता का शीर्षक है - 'कविता रानी'। नारी का मांसल सौन्दर्य, संध्या की धवल चाँदनी, तितलियों की चंचलता, स्वप्नों की मादकता, क्षितिज पार के रहस्य, फूल और कलियों के इशारों और रति के हास-उल्लास में अब कवि के लिये कोई आकर्षण नहीं है। इन सबसे खेलने का उसे अब कहां अवकाश है! इसलिये वह कविता रानी से कहता है -

रोज जटिल होता जाता है
जीवन का संघर्ष
रोज शिथिल होता जाता है

यौवन का उत्कर्ष
दुनिया में कायम रहना ही सरल नहीं है काम,
फिर मैं किस मन से चाहूँ
सुख, शान्ति और आराम।

दूसरी ओर महाकवि निराला हैं, जो वीणा वादिनी से अर्चना करते हैं -

वर दे, वीणा वादिनी वर दे
प्रिय स्वतन्त्र-रव अमृत-मन्त्र नव
भारत में भर दे।

कौन है वीणावादिनी? क्या इसमें किसी अज्ञात शक्ति के प्रति आस्था का भाव नहीं छिपा है?

'चिन्गारी' की अन्य कविताएँ हैं - संसार, समाज, शादी, गृहस्थ, नारी, हमारा धर्म, बिरला के प्रति, न्याय, त्याग, तुलसीदास, भग्न मूर्ति के प्रति, बुधुआ की माँ, छोटे मेहतर, बिजार, खर-देवता और सभ्यता के पुतले। 'संसार' में संसार की कठोर वास्तविकता है। कवि ने उसकी तुलना सड़ी नाली के हजारों कीड़ों और किसी गाँव के गन्दे पानी के गड्ढे के ऊपर साँय-साँय करते मच्छरों से की है। किन्तु कवि उससे पलायन नहीं करता है।

मैं भी कीड़ा इसी नर्क का
मैं भी इसी ग्राम के गन्दे पानी के गड्ढे का मच्छर,
इसी गन्दगी से निर्मित है मेरा सकल शरीर
इसके ही परमाणु
रोम-रोम में व्याप्त, प्राण को रखते विकल अधीर।

'समाज' में कवि ने शोषक श्रेणी का चित्रण एक महा विकराल दैत्य के रूप में किया है, जिसके काले पंजों के नुकीले नाखूनों से खून टपक रहा है और जो भोले-भाले मनुष्यों को चीर-फाड़कर खाने को तैयार है। इस दैत्य के चंगुल में फँसे दीन-दु:खी दुर्बल प्राणियों की पीड़ा को कवि ही समझ पाया है-

आज तुम्हारे अत्याचारों से
कितना व्याकुल है मानव
अपने जीवन से उकताया सा वह परम अधीर,
कोई नहीं समझ सकता उसके प्राणों की पीर।

दानव-सत्ता के विरूद्ध जन-क्रान्ति को रोकने वाली अनेक सामाजिक मर्यादाओं में 'शादी' भी एक है। इसलिये कवि शादी की मर्यादा पर भी प्रहार करता है; क्योंकि उसके अनुसार वह यौवन, जिसमें आँधी-तूफानों से टकराने का साहस और

नयी सृष्टि बसाने की शक्ति है, शादी की बेड़ियों में जकड़कर लुंज-पुंज हो, परवश हो जाता है। उसका साहस और शौर्य समाज में विद्रोह कर सकता है–

इसीलिये यह खूनी फन्दा
उसकी गर्वोन्नत गर्दन में ज्यों-ज्यों
डाल दिया जाता है
उस को फांस लिया जाता है
जिससे वह अपनी ताकत को जीवन भर
पहिचान न पाये,
बंधा-बंधा खूंटे से घर में बकरी के
समान मिमियाये।

श्री निरंकार देव सेवक को छोड़कर , किसी दूसरे कवि ने शादी की मर्यादा पर इतना जबरदस्त प्रहार किया हो, ऐसा एक भी क्रान्तिकारी उदाहरण हिन्दी-काव्य में नहीं मिलता।

'गृहस्थ' शीर्षक कविता में कवि ने उन गृहस्थों को चेतावनी दी है, जो कूप-मण्डूक की तरह अपने में ही सीमित हैं, जिन्हें न साम्राज्यों की राजनीति का ज्ञान है और न राष्ट्रों के उत्थान-पतन का, और जो एक नगण्य अंश भी विश्व-मानस के नहीं हुए। वे परिवार के कूप में पड़े हुए ही अपने दुर्लभ जीवन का अन्त कर डालते हैं। कवि उनको सावधान करता है –

आज नहीं तो कल
या परसों
अपने को कायम रखने को
युद्ध तुम्हें भी करना होगा,
लड़ते-लड़ते मरना होगा
घुस आयेगा जबकि तुम्हारे घर में बड़ा मगर।

गृहस्थ का दायित्व जितना परिवार के प्रति है, उतना ही राष्ट्र के प्रति भी है। इस कविता में राष्ट्रीय चेतना के स्वर की बड़ी बारीक अभिव्यंजना है।

'नारी' कविता में सेवक जी उस पुष्प पर खंगहस्त हुए हैं, जिसके कुल में नारी की स्वाधीनता पर पहरेदार बैठाने वाले मनु पैदा हुए थे। इसी पुष्प पर नारी सर्वस्व अर्पण करती है–

पति देवता नहीं तुम्हारा यह सदेह है काल
इसे लगाकर मुँह तुम नाहक मना रही हो हर्ष।

कवि औसत नारी की वेदना को चित्रित्र करता है। वह नारी घर की

दीवारों की वन्दिनी, सास-ननद के दुःख-द्वन्दों में लिप्त, पल में हँसने, पल में रोने वाली, विक्षिप्त, पति-सेवा में लीन, पति की जूठन खाने वाली, सोने से पहले सास और पति के पैर दबाने वाली और फिर भी घर की स्वामिनी है। उस नारी के अस्तित्व-बोध को जागृत करना ही कवि का ध्येय है–

जानो-पहिचानो अपने को–
क्यों न तुम्हारा हो पुरुषों सा ही स्वतन्त्र व्यक्तित्व?
क्यों न तुम्हारा हो पुरुषों सा ही स्वतन्त्र अस्तित्व?
क्यों तुम पर रक्खा जाये इतना कठोर अनुशासन?
करे तुम्हारी इच्छाओं का कोई संचालन?
तुम अबला हो इसीलिये चुप
यह दुःख दारुण सहती हो नित?
यह है भूल तुम्हारी।

'हमारा धर्म' पूरे संकलन की सबसे क्रान्तिकारी कविता है। जीना हमारा धर्म है। अगर पेट भरने को भोजन न मिले, देह का रक्त सूख रहा हो, प्राण उफन कर होठों पर आ जाये और मौत सामने मुस्कराती हो, तो कवि कहता है –

ऐसे समय न सोचे समझे
छीन-झपट कर,
लूट और चोरी-वध करके
भोग देवताओं के खाना-पीना
धर्म हमारा।

× × ×

धर्म हमारा है जीने का जन्मसिद्ध अधिकार,
और प्राण देकर भी करना जीवन उद्धार।

क्या ऐसा विद्रोही स्वर किसी दूसरे प्रगतिशील कवि में मिलता है? चोरी को अपराध कहने में बहादुरी नहीं है। असली बहादुरी धनिकों की सुरक्षा के लिये गढ़े गये इस सिद्धान्त के रहस्य को नंगा करने में है। सेवक जी ने यह जोखिम का काम बड़ी ही निर्भीकता से किया है।

'बिरला के प्रति' कविता में भी कवि का स्वर विद्रोही है। दीन-हीन निर्धनों की वेदना में डूबा हुआ कवि बिरला द्वारा निर्मित गगन-चुम्बी मन्दिरों और रत्नजड़ित देव प्रतिमाओं को देखकर चिनगारियाँ उगलने लगता है–

नहीं शिराओं में बाकी हैं, दो बूँदे भी रक्त
नहीं यत्न कर भी हम सकते गिरा नयन से नीर
खाल हड्डियों पर है सूखी काई सी मुरदार!

ऐसे में तुम हमें बनाने आये ईश्वर-भक्त?
× × ×
धन पर निर्भर है जो धर्म
उसका मर्म
समझ न पायेंगे हम निर्धन, भूखे, दीन, गँवार।
गीता, वेद, पुराण
दर्शनों, उपनिषदों का ज्ञान
वही विचार सकेगा जो है भोजन से निश्चिन्त।

घोर अनास्था और विद्रोह के ये तेवर क्या राम की शक्ति पूजा करने वाले और जुही की कली में आत्मा और परमात्मा का आध्यात्मिक मिलन देखने वाले निराला में पैदा हो सकते थे?

'न्याय' कविता में कवि का प्रहार समाज-व्यवस्था पर हुआ है, जिसमें दौलत पैदा करने वाला दीन-हीन अवस्था में अपार कष्ट झेलता हुआ जीता है, और बिना परिश्रम किये दूसरों की गाढ़ी कमाई पर कब्जा करने वाला धनिक सम्पूर्ण ऐश्वर्य को भोगता है। एक ओर मन्दिर के पुजारी मठाधीश बन षट्रस भोजन खाते हैं और दूसरी ओर सारे सांसारिक वैभव से विरक्त भक्तगण, सभी सुखों से वंचित है। यह कैसा न्याय है?

नहीं हमारे प्रति है क्या यह क्रूर कठिन व्यवहार?
भीषण अत्याचार?
दुर्ग हमारे विश्वासों का ढह जायगा आज,
सह न सकेंगे अब हम अपने ऊपर यह अन्याय!
अन्यायों का न्याय मान लेना ही तो है पाप।

अन्याय को उत्पन्न करने वाली शोषक श्रेणी के विरूद्ध और भी सशक्त लड़ाई कवि ने 'त्याग' कविता में लड़ी है। त्याग बड़ा खूबसूरत शब्द है, जिसे दीन-हीन लोगों को हर उपदेश में दिया जाता है। त्याग की मूर्तियों को त्याग का उपदेश! यह विडम्बना नहीं तो और क्या है?

हम सा त्यागी कौन?
नहीं पेट भरने को भी भोजन जिसके पास
नहीं देह ढकने को भी कपड़े जिसके पास।

त्याग उनके लिये है, जो धनिक हैं, धर्मात्मा, दानी सेठ हैं, मन्दिर के मठाधीश हैं और जो कमजोर किसानों की हड्डी का मांस खुरच रहे हैं।

स्वार्थ-सिद्धि है जिनके जीवन का ऊँचा उद्देश्य,

उन्हें त्याग का सिखलाया जा सकता है उपदेश।

डा० रामविलास शर्मा तुलसीदास की वकालत करते हुए लिखते हैं - "तुलसीदास का स्वप्न श्रमिक जनता के लिये धरोहर है, जिससे प्रेरित होकर वह समाजवाद के लिये मंजिल-दर-मंजिल बढ़ती जायगी।" गनीमत है कि उन्होंने तुलसीदास को समाजवाद का जनक नहीं कहा। श्री निरंकार देव सेवक 'तुलसीदास' कविता में कहते हैं -

बाबा तुलसीदास
अगर ले सको तो लो जग में तुम फिर से अवतार
अपने इन भोले भक्तों की
पलकों से यह रामराज्य का सुखमय मादक स्वप्न हटा लो,
जिस पर नहीं पहुँच हो सकती
इनकी आँखों के आगे से ये ऊँचे आदर्श उठालो।
कहां भला तुम देने आये इतना गहरा ज्ञान?
किसे भला तुम सिखलाने आये यह जप-तप ध्यान?
भोजन और वस्त्र के ऊपर
जीवन भर भरसक प्रयत्न कर
आज नहीं उठ सकता मानव।

यह है प्रगतिवादी चिन्तक का यथार्थ! तुलसीदास की भक्ति और रामराज्य के आदर्शों ने मानवता के एक पूरे वर्ग को ही परलोक का लोभ दिखाकर लोक के सुख से वंचित कर दिया।

तुलसीदास पर निराला खण्डकाव्य भी द्रष्टव्य है। उसे समझने के लिये पहले ट्यूटर की व्यवस्था करो। फिर समझो - वही कथानक; पहले तुलसीदास का रत्नावली के प्रति आकर्षण, फिर विकर्षण, फिर वैराग्य और फिर भक्ति। क्या यही प्रगतिवादी चिन्तन है?

'भग्न मूर्ति के प्रति' कविता मे कलकत्ता के संग्रहालय में रखी भग्न देव प्रतिमाओं पर कवि का विवेक जाग्रत हुआ है। कभी जिनका सारा संसार लोहा मानता था, जिनका चरणामृत पीकर भक्तगण वांछित वरदान पाते थे, उन देव प्रतिमाओं की, यवन अत्याचारियों द्वारा बनायी गयी दीन-हीन अवस्था पर कवि की सम्वेदना आस्था की नहीं, मनन की चीज है-

देख तुम्हारा भाग्य
सोच रहा हूँ मैं - मानव का क्या होगा दुर्भाग्य?
समझ फेर से छिन जाय जब
देवों का देवत्व



उठ न जाय फिर क्यों दुनिया से
भक्तों का अस्तित्व?

'बुधुआ की माँ' में जहां निर्धन परिवार की विवशता की मार्मिक झाँकी है, वहां धनिक वर्ग की विलासिता का भी प्रभावशाली चित्रण है। लखपति पिता के बेटे को नया सिला सूट पसन्द नहीं आता है और क्रोध में भरकर उसे फेंक देता है। उसका नौकर बुधुआ सोचता है, काश यह सूट उसे मिल जाय तो उसे पहन कर वह चार दिन के लिये गांव चला जाय। क्या मजा आयगा, जब सारा गांव उसे रईस मान कर सम्मानित करेगा। किन्तु तभी उसके उल्लास भरे आनन पर एक चिन्ता की रेखा दौड़ जाती है। फटे चीथड़ों में तन ढके उसकी बुढिया माँ उसके सामने खड़ी हो जाती है-

एक गर्म चादर की
बुढ़िया की बचपन से इस उम्र तक की
सबसे बड़ी साध थी,
बुधुआ भी जिसे अभी तक न कर सका पूरी।
पिता तो कर्जे का बोझ छोड़ सिर पर
स्वर्ग को सिधारे थे।

निराला की 'वह तोड़ती पत्थर' इतनी मार्मिक नहीं है, जितनी 'बुधुआ की माँ'। निराला से छायावाद की रसिकता नहीं छूटी, इसीलिये इलाहाबाद के पथ पर पत्थर तोड़ने वाली मजदूरनी का चित्र भी उनसे प्रभावोत्पादक नहीं बन सका।

'छोटे मेहतर' में एक सफाई मजदूर की वेदना की अभिव्यक्ति है। छोटे मेहतर अपने भाई की मृत्यु होने पर भी सेवा-कर्म में जुटा रहता है। सामान्य घरों में भी दस दिन तक शोक मनाया जाता है। पर, छोटे कहता है -

मै अगर न आता
रोटी नहीं शाम की पाता
भूखा ही रह जाता बीबी बच्चों का परिवार।

और कवि छोटे की वेदना से तिलमिला कर सत्य तक पहुँच जाता है-

इस दुनिया में
शोक मना सकता है वह
है भोजन जिसके पास।

जब हिन्दी के कवि कुकुरमुत्ता, कली और वृक्षों पर कविताएं लिख रहे थे, तब सेवक जी ने 'बिजार' पर कविता लिखी। वह बिजार, जिसे काशी की भाषा में साँड़ कहते हैं और जो मस्ती में घूमता हुआ कुछ भी खाता हुआ शहर भर की गायों की घात में रहता है, सेवक जी की कविता में देश में जी रहे निठल्ले, हरामखोर आदमी का प्रतीक है, जिसे मान-अपमान, शाप-वरदान, पतन और उत्थान कभी नहीं व्यापता। देश पर खतरे मंडरा रहे हैं, पर वह सबसे अनजान अपने मे मस्त है-

तुम जैसे लाड़ले सपूतों के ऊपर ही
अपने दुर्दिन में भी
गर्व कर सकती है कुछ भारत माता!

'खर-देवता' भी कविता के क्षेत्र में सेवक जी का नया प्रयोग है। खर श्रमशील जीव है, सबसे ज्यादा बोझ ढोने वाला, सबसे ज्यादा चलने वाला। पर, समाज ने खर का अपमान किया और सर्प, गरुढ़, वानर, कच्छप, मत्स्य, शूकर, चूहे और उलूक को भगवान बनाकर पूजा। है न अन्याय!

खर देवता!
देख तुम्हारी दशा न क्यों हो मेरी मति हैरान?
मेरे लिये तुम्ही हो ब्रह्मा, विष्णु, महेश समान
विश्व-वन्द्य भगवान!

यह है प्रतीक रूप में कवि की मेहनतकश दलितों के प्रति सहानुभूति!

'सभ्यता के पुतले' चिनगारी की अन्तिम कविता है। यह कविता उन विशिष्ट लोगों पर व्यंग्य करती है, जो सभ्य होने का दम भरते हैं। सभ्यता नियम, कानून और धर्मग्रन्थों के ज्ञान में नहीं है, सदाचरण और मानवीय व्यवहार में है।

जिनके अन्तर में भरा हुआ मानव के प्रति सत्कार-प्यार,
जिनसे अपने को बड़ा मान, तुम साभिमान
देते सदैव अन्याय, क्रोध, अपमान, निरादर, घृणा-दान।
यदि बुरा न मानों, तो सच कह दूँ -
वे पशु तुमसे भले।

इन कविताओं से साफ जाहिर है कि श्री निरंकार देव सेवक की "चिनगारी" ने निराला की कविताओं के मुकाबले प्रगतिवादी यथार्थवाद को प्रस्तुत करने में अपनी भूमिका सबसे पहले निभायी है। आज चालीस वर्ष बाद 'चिनगारी' को पढ़कर यदि निराला के प्रति बनी हुई आस्थाएँ डगमगाती हैं, तो यह समझना चाहिये कि हिन्दी आलोचकों के दिये गये संस्कार डगमगाते हैं। इसलिये जरूरी है कि सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य की एक बार फिर से जांच-पड़ताल हो, फिर से नयी शोध और नयी गवेषणा हो।

□□



मेरा सफरनामा



सेवक जी की कलम से....

मैंने जब आंखे खोली तो अपने को एक आर्य समाजी परिवार में पाया जहां पिताजी मां जी को भी बैठाकर रोज हवन करते और हम बच्चों को मन्त्र याद कराते थे। मेरी दादी सनातनधर्मी थीं। मुझे रामायण, महाभारत और भागवत की कहानियाँ सुनातीं और एक सिंहासन पर रक्खे ठाकुर जी (सालिग्राम) की पूजा करती थीं। एक ताऊ थे जो अलग रहते थे पर अक्सर शाम को पीकर हमारे लिये कुल्लड़ में रबड़ी लिए आते। उनकी बातों में हमें बड़ा आनन्द आता था।

पिता जी श्री रामभरोसे लाल 'सेवक' उर्दू के एक शायर थे। अनेक शायर और कवि घर पर आते और शायरी सुनाते थे। घंटों महफिल जमती और चाय पकौड़ी चलती थी। पिता जी की देखा देखी छठी या सातवीं कक्षा से ही मुझे भी तुकबन्दी करने का शौक लग गया। एक बार अपने भाई परोपकार के साथ पलंग पर उछल-उछल कर पिता जी की एक नसीहत तो इन पंक्तियों में दुहराने की याद है।

मिर्चा तेल खटाई
इसको मत खाना तुम भाई
इसने बुद्धि बहुत गंवाई।

स्कूल में जब आठवीं कक्षा में पहुंचा तो हिन्दी के एक नये अध्यापक कक्षा में पढ़ाने आये पं० नाथू राम 'नम्र'। एक दिन निवन्ध के घंटे में उन्होंने ब्लैक बोर्ड पर एक पंक्ति लिख दी - ज्यों कदरी के पात में पात पात में पात और तब विद्यार्थियों से कहा दूसरी ऐसी ही पंक्ति बनाओ। थोड़ी देर कक्षा में सन्नाटा छाया रहा। तब मैंने उठकर कहा - ज्यों पंडित की बात में बात बात में बात। पंडित जी बहुत खुश हुए और मुझे अपना विशेष कृपा पात्र शिष्य बना लिया। बड़ी लगन से उन्होंने मुझे मात्रा गण छन्द रस अलंकार आदि का ज्ञान कराया। जब नवीं कक्षा में था तो राजकीय विद्यालय में एक कवि सम्मेलन और उससे पहले एक कविता प्रतियोगिता हुई। उसमें मुझे प्रथम पुरस्कार मिला। तभी डा० रामकुमार वर्मा मेरे घर आये थे और मैं भी कवि बनने के स्वप्न देखने लगा।

पिता जी ने कहा तुम अपना उपनाम 'अमर' रख लो। मैंने कहा मैं तो सेवक ही लिखा करूंगा। उसके बाद तो फिर मेरे सब छोटे भाईयों के भी नाम के आगे यही लिखा जाने लगा। मैंने जब हाई स्कूल पास कर लिया तो पिता जी मुझे तैयार करके रेलवे आफिस में नौकरी कराने चले। तभी मेरी मां ने न जाने किस भावावेश में आकर मेरी बांह पकड़ ली। अभी उम्र ही क्या है, आगे क्यों नहीं पढ़ाते। मैंने कई बार बाद में सोचा यदि मां ने न रोका होता तो क्या जीवन में जो कुछ हूँ वही होता।

बरेली कालिज में पहुँच कर तो दूर दूर तक धरती आकाश दिखाई देने लगा। इन्टर के दो साल में कालिज पुस्तकालय में हिन्दी विभाग की सब पुस्तकें चाट गया। बीए प्रथम वर्ष में आते ही पर निकलने लगे। उन दिनों प्रतिवर्ष कालिज हाल में कवि सम्मेलन होता था। छात्रों के लिए कविता प्रतियोगिता भी। मैंने एक लंबी कविता 'विहग कुमार' लिखी थी। उस पर मुझे पुरस्कार ही नहीं वाह-वाही भी इतनी अधिक मिली कि उसने मुझे सचमुच का कवि बना दिया। अगले ही वर्ष वह कविता 'विशाल भारत' में छपी और मैं कवि सम्मेलनों में भी बुलाया जाने लगा। आगरा या गोरखपुर में कहीं पं० माखन लाल चतुर्वेदी ने उसे सुना तो मेरा नाम ही विहग कुमार रख दिया।

कालिज ने मेरी आंखों को देखना, कानों को सुनना और नाक को सूंघना सिखाया। मेरे विद्वान प्रोफेसरों का स्नेह उनका पोषक तत्व था। पंडित भोला नाथ ने थोड़ा पैसा भी अपने पास से खर्च करके मेरी कविताओं का पहला संकलन 'स्वास्तिका' प्रकाशित कराया। प्रो० शंकर सहाय सक्सेना मेरे बड़े भाई ही बन गये थे। उनका पूरा परिवार मुझसे बहुत स्नेह करता था। उनकी पत्नी स्नेह की प्रतिमूर्ति थीं और मेरी पत्नी सरला की अभिन्न मित्र बन गई थीं। प्रोफेसर ज्ञान प्रकाश जौहरी मित्र बन एकान्त में मुझसे कहते - अमुक लड़की से तुम्हारा प्यार चल रहा है। कोई कठिनाई हो तो मुझसे पूछ लेना। अपने कालिज के छ सौ छात्रों में मैं सबसे अधिक लोकप्रिय था। एक बार कालिज के सबसे सुन्दर छात्रों की एक सूची होस्टल के कुछ मजाकिया लड़कों ने कालिज के बोर्ड पर चिपका दी। उसमें मेरा दूसरा या तीसरा नाम था। कालिज के उन दिनों के साथियों में प्रतापचन्द्र आजाद, ओम प्रकाश, छैल विहारी लाल गुप्त राकेश, राम कुमार अवस्थी और जगदीश शरण अग्रवाल मेरे घनिष्ठ मित्र थे। इनमें से ओम का प्रभाव मेरे जीवन पर सबसे गहरा इसलिये रहा कि उन्होंने एम.एन राय के विचारों और उनसे व्यक्तिगत परिचय कराकर मेरी समझ को एक नई दिशा दी। हिन्दी के अनेक प्रतिष्ठित कवियों से मेरा व्यक्तिगत परिचय कालिज के कवि सम्मेलनों से ही हुआ। इनमें से बच्चन और सोहन लाल द्विवेदी मेरे जीवन

के कुछ अधिक निकट आ गये थे। बरेली कालिज के जिस कवि सम्मेलन में मुझे पुरस्कार मिला उसके बाद हाल के बाहर बरामदे में एक प्रतिष्ठित वकील सपत्नीक मुझे खड़े मिले। मेरी कविता की प्रशंसा की और मुझसे अपने घर आने को कहा। मैं जब उनकी सिविल लाइन स्थित कोठी पर पहुंचा तो उन्होंने जी भर कर मेरी कवितायें सुनीं। बाबूरामजी सरन मेरे जीवन में कुछ ऐसे आये कि मेरे व्यक्तिगत जीवन ने एक नया मोड़ ले लिया।

बी०ए० पास करने के बाद कालिज के सब परिचित पंछी उड़ गये थे या पीछे छूट गये थे। मन में एक अजीब सूनापन और विरक्ति सी अनुभव करता था। बड़े-बड़े बाल रख लिये थे कन्धों तक लहराने वाले। 'धरती के गीत' उन दिनों लिखे थे। उनमें मूल भावना 'विहग कुमार' की थी पर अपनी परिस्थितियों से कुछ विद्रोह भी मुखरित होने लगा था। उन्हीं दिनों एक कविता प्रेमी मित्र मुझे अपने घर बदायूँ बुला कर ले गये। वहां कविता पाठ के बीच सरला से मेरी मुलाकात हुई। उनके घर भी गया और कुछ दिनों बाद उनसे मेरा रिश्ता तय हो गया। वह रामजी सरन की पत्नी कमला जी की फुफेरी बहन थी। इसलिये वह भी मेरे निकट आ गये। मैंने प्रोफेसर बनने के उद्देश्य से एम.ए. ज्वाइन कर लिया था पर पिता जी का कहना था कुछ कमाई भी करूं। इसलिये उन्होंने मुझे एक हाई स्कूल में हिन्दी अध्यापक करा दिया। वहां भी न जाने क्यों मुझे स्नेह इतना अधिक मिला कि डेढ़ दो साल बाद जब मैंने उसे छोड़ा तो विदाई पार्टी में एक साथी अध्यापक स्नेहवश बेहोश होकर गिर पड़े। मैंने एम.ए कर लिया था पर चार अंक कम रह जाने से प्रोफेसर होने का सपना टूट चुका था। सरला से मेरा विवाह हुआ। पिता जी तीन सौ आदमी बारात में लेकर बदायूँ गये। जगदीश शरण अग्रवाल अपनी बहन की घर आई बारात छोड़कर एक रात के लिये बदायूँ पहुंचे थे। जीवन में समाज का इतना बड़ा दायित्व आने से मेरा कवि जितना था उससे भी अधिक विद्रोही हो उठा। 'चिनगारी' की सारी कवितायें उसके बाद ही लिखी हुई हैं।

उन्हीं दिनों तब के कमर्शियल कालिज दिल्ली में अंग्रेजी के प्राध्यापक नगेन्द्र (डा० नगेन्द्र) मुझे अपने साथ कालिज के कवि सम्मेलन में दिल्ली ले गये। जैनेन्द्र और अज्ञेय भी वहां मुझे मंच पर बैठे मिले। मैंने चिनगारी की 'विरला मन्दिर' और 'छोटे मेहतर' कवितायें सुनाईं। जैनेन्द्र जी मुझे मंच से उठाकर हाल के बाहर ले गये और खुली हवा में टहलते हुए एक बड़े ही तरह समझाने लगे - तुम्हारे विचार तो बड़े उग्र हैं। इनके कारण तुम्हें इस देश में आदर नहीं मिलेगा। मैंने कहा था - आदर मिले या न मिले पर मैं कहूँगा तो वही जो मन में है। उनकी बात सच निकली। मैं जब बरेली से पूरब की ओर कवि सम्मेलनों

में दूर दूर जाने लगा था तो लखनऊ में पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी से मुलाकात हो गयी थी। वह कवियों से बड़ा स्वाभाविक स्नेह करते थे। निराला को तो उन्होंने महीनों अपना मेहमान बनाकर रक्खा। मेरी 'स्वास्तिका' और 'कलरव' की कवितायें वह भी पसन्द करते थे। बाद में जब उन्हें मालूम हुआ कि मैंने तो सामाजिक विद्रोह और क्रान्ति की कवितायें लिखी हैं तो पंडित सोहन लाल द्विवेदी ने मुझे एक पत्र में लिखा था - 'भैया जी (चतुर्वेदी जी) कहते हैं तुम्हारा निरंकार तो अब कमीनेस्ट हो गया है।' ऐसे ही पंडित माखन लाल चतुर्वेदी जो मुझे बड़ा स्नेह करते थे, मेरी 'विहग कुमार' कविता बनारस में आज के सम्पादक विष्णुराव पराड़कर को उनके घर पर सुनवाई थी और एक बार मेरे सैदपुरिया वाले घर में आकर मुझे क्रान्तिकारी कवितायें लिखने के लिये प्रोत्साहन दे गये थे। हुआ यह कि वह जब आये तो पिता जी उनसे कहने लगे थे - 'इनके विचार तो बड़े उग्र होते जा रहे हैं पंड़ित जी आप इन्हें समझाइये। चतुर्वेदी ने कहा- बाबू जी, हमारे समाज की पृथा ही यह रही है जब कोई नये विचार लेकर आता तो लोग उसे बुरा भला कहते पत्थर फेंकते हैं। कबीर, स्वामी दयानन्द आदि के साथ ऐसा ही हुआ। बाद में उसकी बात मान लेते हैं। वही चतुर्वेदी जी बाद में मुझे यह पत्र लिखकर निवृत हो गये - कि तुम चाहे जहां रहो चाहे जिन विचारों के रहो, तुम्हारी प्रतिभा एक दिन मेरे देश के काम अवश्य आयेगी। मैंने तो विश्वास की यह हुंडी लिख दी। 'चिनगारी' कविता संग्रह जब प्रकाशित हुआ तो उसका समर्पण हिन्दुस्तान के पढ़े लिखे जाहिलों को देखकर एक वरिष्ठ साहित्यकार और प्रतिष्ठित दैनिक के विद्वान सम्पादक इलाहाबाद में जगह-जगह कहते फिरते थे- 'देखो यह कल का छोकरा हमें पढ़ा-लिखा जाहिल कहता है।' यह बात गोपेश ने मुझे बताई थी। वह इलाहाबाद में रहते थे। उनसे मेरी भेंट ऐसे हुई थी कि कई साल पहले वह बड़े आदर भाव से मेरे पास बरेली आये थे। पैर छूकर बैठ गये तो मैंने उसे पैर छूने की संस्कृति पर ही एक बड़ी स्पीच पिलाई थी। न, इससे तो आत्महीनता उपजती है वह परिस्थितियों से विद्रोह नहीं करने देती। उसके बाद तो वह मेरे तू तड़ाक के मित्र बन गये थे। मैं इलाहाबाद गया तो उन्होंने मुझे अपने पड़ोस में एक मित्र राजामुनुआ के घर ठहराया था। वह इलाहाबाद के सर्वाधिक धनी बच्चा बाबू की कोठी थी। पूरा परिवार राष्ट्रीय विचारों का खद्दरधारी। बड़े-बड़े राष्ट्रीय नेताओं के चित्र लगे थे जो उस कोठी में ठहरते थे। राजा मुनुआ साहित्य प्रेमी थे। कोठी पर इलाहाबाद के सभी साहित्यकार आते थे। मैं इलाहाबाद जब जाता तो वहीं ठहरता था। एक बार जब ठहरा तो धर्मवीर भारती भी मिलने आये थे। वह गोपेश के मित्र थे।

एक बार जब इलाहाबाद गया तो राजामुनुआ शाम को बोले 'चलो तुम्हें नई फैक्ट्री दिखा लायें।' खुसरो बाग के आगे कहीं एक बड़े से क्षेत्र में खपरैलें

पड़ी थीं। उनमें लगी मशीने मोजे वनियान बना रही थीं। मैंने सोचा यह बाजार में बिकती होंगी। वह बोले - युद्ध में सप्लाई के लिये हैं। माथा ठनका सभी राष्ट्रीय नेता युद्ध में मदद न करने के कारण जेल में जा बैठे हैं। तभी बी.ए. की एक पुस्तक में पढ़ी टैगोर की वह बात याद आई राष्ट्रीयता- एक संगठित फ्राड (धोखा) है।' एक ओर सरकार का बायकाट और दूसरी ओर मोजे बनयायनों से मदद। टैगोर का शान्ति निकेतन कई साल पहले जब मैंने देखा था। संयोग से उस दिन वह अपने घर उत्तरायण में थे। मैंने मिलना चाहा तो उनके सचिव ने अगले दिन सवेरे 9 बजे का समय दिया। पर मुझे कलकत्ता लाने वाली गाड़ी सवेरे 6 बजे ही बोलपुर से चल देती थी। इसलिये शाम को वहां के हिन्दी अध्यापक पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी से उनके फूंस के घर में मिल कर टैगोर से बिना मिले लौट आया था। द्विवेदी जी वह मिलना नहीं भूले थे। उनके कई पत्र भी आये गये थे क्योंकि उनके सगे भाई आयुर्वेदिक कालिज पीलीभीत में प्रिंसिपल थे।

अब घर चलें। सरला जब ब्याह कर घर आई तो मैंने पिता जी को एक पत्र लिखकर दिया - 'हम नैनीताल जायेंगे।' वहां मैं एक कवि सम्मेलन में हो आया था। उत्तर प्रदेश के एक बड़े सरकारी अफसर थे ए. एन. झा। उन्होंने कराया था। पं० श्री नारायण चतुर्वेदी संयोजक थे। निराला, श्याम नारायण पांडे, सोहन लाल द्विवेदी आदि आये। मैंने 'विहग कुमार' सुनाई थी। पिता जी नैनीताल भेजने को तैयार नहीं हुए। आखिर मैंने उन्हें इस पर राजी कर लिया कि शाम को हम रोज टहलने चले जाया करें। मेरा घर एक बंद गली का अन्तिम मकान था। गली के दोनों ओर मकान थे। बहू बेटियाँ तब घर की डयोढ़ी के बाहर पांव ही कहां रखती थीं। मैं और सरला जब साथ कदम बढ़ाते, गली में से निकलते तो दोनों ओर दरवाजों की झिरी से झांकती आंखे घूरती रहती थीं। हमें दया भी आती थी उनकी परवशता पर। अपनी उस घूमने की आजादी से भी उन दिनों हम बहुत चर्चा का विषय बने। सरला भी मेरी तरह उग्र और क्रान्तिकारी विचारों की बनने लगी थी। ओम बाबू ने मुझे 'इंडिपेन्डेंट इंडिया' पढ़ा पढ़ाकर मेरे विचारों को और भी पैना बना दिया था। हम दोनों मेहतर यूनियन बनाने के लिये उनकी बस्तियों में जाते और टूटी चारपाई पर बैठकर कद्दू पूरी हाथ पर रखकर खाते थे। मेरे या उनके घर पर यार दोस्तों का जमघट लगा रहता था। ओम ने तभी मेरा परिचय रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के मन्त्री सुरेन्द्र नाथ पुरी से कराया था। परिचय के रूप में मेरी विद्रोही कविता सुनवायी थी। वह मेरे एक मित्र बी. के. पाण्डे को तो इतनी पसन्द आई कि जुबानी याद हो गई थी। वह जहां आवश्यकता हो मेरे स्थान पर मेरे स्वर में उसे सुना दिया करते थे। मेरा उन्हीं दिनों 'हंस' में प्रकाशित 'मजदूरों का गीत' भी बहुत पसन्द किया गया।

सरला जब गर्भवती हुई तो हम दोनों ही उदास हुए। तीस रुपयें महीने की आय में, हममें इतनी सामर्थ्य कहां थी कि एक और प्राणी को अपने साथ लेकर चल सकें। सरला की मां भी कभी आजादी के आन्दोलन से जुड़ी रह चुकी समझदार महिला थीं। वह उनके पास बदायूं गईं और गर्भ गिरवा कर बरेली चली आईं। उसके बाद हम दोनों ने प्रतिज्ञा की कि परतन्त्र भारत में सन्तान पैदा नहीं करेंगे। मैं सरला को हर कदम पर अपने साथ रखना चाहता था पर यह उस समय के समाज में हमेशा सम्भव नहीं हो पाता था। उन्होंने मेरी कविता 'नारी का क्रान्ति गीत' अच्छे अक्षरों में लिखकर शीशे में मढ़ी तस्वीर की तरह कमरे में टांग रक्खी थी और उसे गाया गुनगुनाया करती थीं। उस गीत का एक अनुभव यह भी है कि कुछ बड़ी-बूढ़ियों ने कहना शुरू कर दिया था हम इस कवि को अपने घर में नहीं घुसने देंगे। यह तो बहू-बेटियों को बिगाड़ देगा।

मुझे आखिर अपनी गुजर-बसर के लिए भी कुछ करना था। सरला के घर वाले कहते-वकालत पढ़ लो और कचहरी जाया करो। तभी मुझे अध्यापक बनने के लिए बी. टी. करने का अवसर मिल गया। सरला ने अपने जेवर बेचकर मेरी पढ़ाई का प्रबन्ध किया। बनारस में प्रिंसिपल मलकानी ने जब साक्षात्कार किया तो मुझसे पूछा - तुम्हारी कविता का स्रोत क्या है? मैंने क्या प्रकृति, समाज, देश तो बोले- नारी नहीं? मैं क्या कहता। ट्रेनिंग कालिज के होस्टल में रहते हुए न जाने कैसे सारे शहर की गोष्ठियों और कवि सम्मेलनों में बुलाया जाने लगा। शम्भू नाथ सिंह, मोती बी. ए., त्रिलोचन शास्त्री, अमृत राय, सुधाकर पांडे उन दिनों के मुलाकाती मित्र थे। बेढब बनारसी से कवि सम्मेलनों में पहले भी साथ हो चुका था। बेढब जी के घर पर एक गोष्ठी में सम्पूर्णानन्द जी तकिये के पीछे लेटे से बैठे मेरी 'मजदूरों का गीत' कविता बड़े ध्यान से सुनते रहे थे। कालिज में मैं पढ़ता लिखता कुछ नहीं था। छमाही परीक्षा में जब परीक्षा कक्ष में बैठा एक कविता लिख रहा था तो प्रिंसिपल मलखानी पास से यह कहते हुए निकले कि तुम कुछ नहीं करते। मैं तुम्हारी सब कविताई भुला दूंगा। पर वार्षिक परीक्षा मैंने प्रथम श्रेणी में पास कर दिखाई। प्राध्यापकों में पं. सीताराम चतुर्वेदी और पं. लाल जी राम शुक्ला मुझे बहुत स्नेह करते थे। शुक्ला जी से तो अनेक दार्शनिक, सामाजिक, राजनीतिक विषयों पर मेरे कमरे में ही घंटों बहसे होती थीं। पडरौना के साहित्य सम्मेलन में जाते हुए रेल में पं. राम नारायण मिश्र से भेंट हो गई और उनका स्नेह वर्षों तक मुझे प्राप्त रहा। सन 47 में जब हिन्दी साहित्य सम्मेलन में मेरठ गया तो मिश्र जी अपनी पुत्री और दामाद पुलिस अधिकारी जैतली के साथ मुझसे मिलने हेमवती जी के घर पर आये थे। सम्मेलन के स्वागत मन्त्री चौधरी चरण सिंह थे। पं. माखन लाल चतुर्वेदी के सभापतित्व में हुए कवि सम्मेलन में मैंने स्वतंत्रता दिवस पर लिखी

अपनी कविता सुनाई थी - 'मगर मनुष्य आज भी गुलाम का गुलाम है।' वह तभी देश भर की कम से कम एक दर्जन पत्र-पत्रिकाओं में छपी और दिल्ली रेडियों से प्रसारित भी हुई थी।

बनारस की दो एक और यादें प्रमुख हैं। एक कवि गोष्ठी राजा मोती चन्द के वंशधर किसी धनाढ्य के घर पर हुई थी। उसमें राजा बल्देव दास विरला भी थे। मेरी बारी आई तो मैंने 'विरला मन्दिर' कविता सुनाने को निकाली। पास बैठे कवि मित्र कहने लगे और कोई सुनाओ पर मैंने वही सुनाई क्योंकि उससे अच्छा अवसर अपनी बात विरला परिवार तक पहुंचाने का फिर कहां मिलना था। एक दिन आमन्त्रित होकर लेने भेजी विक्टोरिया गाड़ी पर बैठकर राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह के यहां कविता पाठ के लिए जा रहा था। पं. लाल जी राम शुक्ला सड़क पर मिल गये। गाड़ी रुकवाई तो बोले - तुम मजदूर किसानों के कवि, उस राजा के यहां कविता सुनाने जा रहे हो? मैंने कहा पंडित जी जब तक यह आत्मविश्वास है कि सुनाऊँगा जो मैं चाहूं, तो मैं कहीं भी जा सकता हूं और मैं आग्रह करके शुक्ला जी को भी अपने साथ ले गया था। वहां 'चिनगारी' की कवितायें और 'किसान मजदूरों के गीत' जम कर सुनाये। किस पर क्या प्रतिक्रिया हुई इसे इससे समझा जा सकता है कि दुबारा फिर कभी राजा [illegible] के यहां आमन्त्रित नहीं हुआ। यह ठकुर सुहाती या दूसरों के मनोरंजन के लिए अपनी कविता का दुरुपयोग न करने की बात मुझमें प्रारम्भ से ही थी। जब मैं कवि के रूप में दूसरों को आकर्षित करने लगा तो ओरछा नरेश जो कवियों के आश्रयदाता प्रसिद्ध थे एक बार बरेली आये। मुंशी अजमेरी भी उनके साथ थे। किला बाजार से, साहूकारा में पं. विंदेश्वरी प्रसाद के घर तक, लाल कालीन बिछे थे। उनके स्वागत समारोह में कविता सुनाने के लिए पिताजी ने मुझसे कहा। कई उर्दू शायरों ने कसीदे पढ़े थे। पर मैं नहीं गया क्योंकि राज दरबारी संस्कृति ही मुझे पसन्द नहीं थी।

बनारस से ही कलकत्ता के एक बहुत बड़े कवि सम्मेलन में आमन्त्रित होकर गया था। देश भर के अनूप शर्मा, नेपाली, सुभद्रा कुमारी चौहान, डा. [illegible]न्द्र, गोपेश और न जाने कौन-कौन लगभग 50 कवियों के ठहरने का प्रबन्ध एक बड़ी सी धर्मशाला में था। कलकत्ता के मेयर आनन्दी प्रसाद पोद्दार ने उसे आयोजित किया था। विश्वविद्यालय के सीनेट हाल में वह तीन रात चला और हर रात अलग-अलग कवियों ने कविनायें सुनाई थीं। मैंने 'मस्ती के गीत' की 'किनारे-किनारे' कविता सुनाई और उस पर एक धन्ना सेठ ने मुझे स्वर्ण पदक देने की घोषणा की। रेल के जिस डिब्बे में मैं मोती बीए, पं. सीताराम चतुर्वेदी आराम से बैठे आपस में साहित्य चर्चा करते और कवितायें सुनाते जा रहे थे [illegible] गोरखपुर के एक व्यवसायी भी थे जो हमारी बातों में बड़ा रस लेते रहे।

कलकत्ता पहुंच कर वह अपना सिल्क का कुर्ता धोती पहने बराबर हमारे साथ रहे। मुझसे वह कुछ अधिक अपनापन अनुभव करने लगे थे इसलिए कवि सम्मेलन और कई जगह हुई गोष्ठियों के बाद उन्होंने मुझे अपने यहां रहने के लिए रोक लिया। मुझे उन्होंने दिन भर साथ घूमकर कलकत्ते के सभी दर्शनीय स्थान दिखाये। बऊ बाजार मे बिजली के सामान के वह बड़े व्यापारी थे। उनका नाम था भगवती प्रसाद राय। वह कलकत्ते में सुनी मेरी कविताओं से द्रवित होकर कवि बन गये थे। हर पत्र में मुझे दो चार नई कवितायें लिखकर भेजते थे। नाम रख लिया था भगवती प्रसाद राय अनजान। बाद में मेरी भूमिका सहित उनकी कविताओं की एक सुन्दर सजिल्द पुस्तक 'प्रेरणा' नाम से प्रकाशित हुई थी। उसके बाद जब भी कलकत्ता गया तो उनके यहां ठहरता था। एक बार वह सपरिवार मुझसे मिलने बरेली भी आये थे।

बनारस से पढ़कर जब बरेली लौटा तो स्वभाव इतना स्वच्छन्द और उदंड बन चुका था कि किसी स्कूल की प्रबंध समिति का भी गुलाम बनने के योग्य नहीं रहा था। प्रो. शंकर सहाय सक्सेना ने उदयपुर विद्यापीठ के ट्रेनिंग कालिज में प्राध्यापिकी के लिए नियुक्ति पत्र भी भिजवा दिया। पर सरला बदायूं बरेली से इतनी दूर जाने को तैयार नहीं थीं इसलिये हमने तय किया कि ना पढ़ूं और वकालत करूँ। पर दो साल कुछ करना भी था। संयोग से डी. ए. वी. स्कूल नया खुला था। उसमें प्रिंसिपल पद मुझे मिल गया। मैं पहुंचा तो छात्रों की संख्या बढ़ने लगी और छोड़ा तो लगभग 100 से बढ़कर 600 से अधिक हो गई थी। मेरी सहृदयता जहां सबका मन जीते रहती थी। अनुशासन भी अच्छा था। उसी बीच सन 45 में उत्तर प्रदेश काउंसिल के चुनाव हुए। मेरे रेडिकल पार्टी के मित्रों ने मुझे घेर घार कर उसके लिए प्रत्याशी बना दिया। बरेली, बदायूं, पीलीभीत, शाहजहांपुर चार नगरों का चुनाव क्षेत्र था। प्रतिद्वन्दी थे कांग्रेस के पं. गोविन्द वल्लभ पन्त। जीते भी वही पर बरेली बदायूं में प्रचार देखकर ऐसा लगता था कि मैं कहीं जीत न जाऊं। पैसा ओम और एक अन्य मित्र शंकर लाल ठेकेदार ने खर्च किया था। हार के बाद लज्जा का कोई प्रश्न नहीं था क्योंकि हमें तो लोकतन्त्र का रास्ता दिखाना था जिसमें आतंक भय से कोई निर्विरोध नहीं चुन लिया जाना चाहिए। चुनाव प्रचार के दौरान मैंने कुछ गीत लिखे थे जो 'जनगीत' के नाम से भविष्य प्रेस लखनऊ से छपे थे। उन्हीं दिनों एक ऐसा अवसर भी आया कि मैं शायद दुनिया में जीवित ही न रहता। मैंने एक जनसभा में अपनी 'अंगारों का गीत' कविता सुनाई थी। उसकी एक पंक्ति पर श्रोताओं का एक वर्ग उत्तेजित हो मुझे मारने मंच पर चढ़ आया। मेरे कुछ मित्र यदि बचाकर न निकाल लेते तो मेरी हड्डी पसली शायद न मिल पाती।

देश को आजादी मिली उससे साल भर पहले ही मैंने वकालत प्रारम्भ कर दी थी। मैंने और सरला ने किराये पर अपना एक अलग घर भी ले लिया था। कितने मित्र और उनकी पत्नियाँ शाम को उस घर में रोज एकत्रित होते थे। सरला दिन भर खाली मेरी कविताओं की प्रतिलिपि तैयार करतीं, अपनी भी कवितायें और लेख लिखतीं। कितनी ही पत्र-पत्रिकाओं में वह छपतीं। उन्हीं दिनों कर्मयोगी के सम्पादक राम रख सिंह सहगल से मित्रता हुई। 'चांद' के 'फांसी-अंक' के सम्पादक के रूप में उन्हें दुनिया जानती थी। अन्तिम पत्र में वह मुझे यह लिखकर दुनिया से चले गये थे कि अपने पुत्र नरेन्द्र और पुत्री बुलबुल का हाथ तुम्हारे हाथ में दिये जाता हूं।

आजादी से पहले ही दिल्ली और पंजाब में रक्तपात होने लगा। मेरे एक मित्र इकराम जो तीसरी कक्षा से बी.ए. तक साथ पढ़े, मैं अपने आर्य समाजी घर में सबसे छिपाकर एक थाली में उनके साथ खाना खाता था। सरला उनकी भाभी थीं। दिल्ली में दंगाईयों ने उनके घर में आग लगा दी। वह नंगे पैरों भाग कर पुराने किला पहुंचे और पाकिस्तान पहुंच गये। पत्नी और एक छोटा बच्चा बरेली में कोई चिट्ठी न आने से बहुत परेशान। तब एक चिट्ठी मेरे पास आई। मैं नगर में लगे कर्फ्यू की बिना चिन्ता किये मुसलमानों की बस्ती में उनके घर गया और फिर उन्हें भी पाकिस्तान भेजने का प्रबंध कर दिया। इकराम के इस तरह छूटने का दुख मैं आज तक भूल नहीं पाया हूँ।

मुझे वकील बनाने का काम बाबू राम जी सरन ने किया। उससे कई साल पहले वह मुझसे लगी छूत की बीमारी से कवि बन चुके थे। हुआ यह कि मैं दिल्ली से लौटकर आया तो रेल में एक प्रेम गीत लिख गया था। बाबू राम जी सरन को वह कहीं ऐसा छू गया कि उन्होंने उसके जबाव मे एक गीत लिख दिया। उसके बाद तो कविताओं का एक प्रवाह-सा उनके कंठ से फूट पड़ा। एक दिन वह बैठे-बैठे अपने अध्यात्म गुरू स्वामी गोपाल तीर्थ से कहने लगे - इन्होंने मुझे वकील से कवि बना दिया। मैंने इन्हें कवि से वकील। कविता में यह मेरे गुरू हैं, वकालत में मैं इनका। स्वामी जी बड़े जोर से हंस कर बोले -

शिष्य वही जो गुरू को खावे
गुरू वही जो हाथ न आवे।

उनकी कविताओं की पुस्तक 'निर्झरिणी' छपी तो परिचय उन्होंने मुझसे ही लिखने को कहा था।

समाज में परिवर्तन लाने से प्रेरित क्रांतिकारी कवितायें सर्वप्रथम लिखने के बाद भी मुझे हिन्दी के साहित्य में इतिहास और समीक्षा साहित्य में अपेक्षित

स्थान इसलिए नहीं मिला कि मेरे समय की राष्ट्रीयतावादी और प्रगतिशील दोनों धारायें मुझसे कतरा कर निकल गईं क्योंकि मैं एक वैज्ञानिक मानवतावादी था। प्रगतिवाद से मैं जुड़ सकता था। प्रगतिशील लेखक संघ के इलाहाबाद अधिवेशन में गया भी था। यशपाल, अज्ञेय, फिराक सभी आये थे। मुझे उसमें हुई रेजिमेन्टेड लेखन की बातें ठीक नहीं लगीं और मैंने चार लेख उसके विरोध में लिखे थे। विरोध करता भी कैसे नहीं जब उनके 'नवयुग' में तुलसीदास को भी जन कवि कहकर प्रगतिशीलों की श्रेणी में लाया जा रहा था। प्रसंगवश याद आता है कि सुमित्रा नन्दन पन्त से इलाहाबाद में बच्चन के घर पर मैंने कहा था 'आज कल तो आप भी प्रगतिशील कहे जाते हैं', तो बोले - मैं कुछ जानता नहीं। बंबई में कई महीने रहा तो कुछ नौजवान शायर और कवि रोज शाम को मेरे पास आ बैठते थे। एक दिन मुझे मालुम हुआ कि मैं भी एक प्रगतिशील कवि हूं। ऐसे प्रगतिशील बनाने वाले मुझे नहीं मिल सके। प्रगतिशील कवि कहलाने के लिए मैं अपनी लगाम किसी दूसरे के हाथ में देने को तैयार नहीं हुआ।

जीवन की कठोर वास्तविकताओं और समाज की आर्थिक पारम्परिक विषमतायें जब मुझे कचोटने लगीं थीं और मैंने क्रांति की कवितायें लिखकर और अपने आचरण व्यवहार से उनसे संघर्ष किया तो सरला ने हर कदम पर मेरा साथ दिया। इससे वह भी अपने विचारों में काफी क्रान्तिकारी हो गई थीं। मेरे चुनाव के लिए वह घर-घर चन्दा मांगने गईं और बाजार मे जलूस निकला तो बैनर लेकर आगे आगे चलीं। उनके कई प्रकाशित लेख उनके क्रान्तिकारी विचारों के परिचायक हैं। पटना ने निकलने वाली 'जनता' में प्रकाशित कई लेख अब भी मेरे पास हैं। उसके सम्पादक विश्वनाथ वर्मा एक बार हमारे घर भी आये थे। उसके कई साल बाद जब राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद चुन्ना मियां के बनवाये लक्ष्मीनारायण मन्दिर का उद्घाटन करने बरेली आये थे तो देखूं क्या कि चार कारों के काफिले में आये एक वर्मा जी कचहरी में मुझसे मिलने आये हैं। आते ही मैंने पहचान लिया। वह बोले - अब मैं राष्ट्रपति का सचिव हूँ। उन्हें आराम के लिए अकेला छोड़कर तुमसे मिलने चला आया। घर पास ही था। मैं उन्हें घर लाया। चाय पिलाई। पर सरला की तब केवल बातें रह गईं थीं। उसके बाद एक बार मैं दिल्ली गया तो विश्व नाथ वर्मा से मिलने राष्ट्रपति भवन भी गया था। बहुत देर बातें कीं। वह बोले - 'कल सवेरे तुम्हारी मुलाकात राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद से करायेंगे।' मैंने कहा - 'मैं तो आज रात में ही चला जाऊँगा।' राजेन्द्र बाबू को मैंने कई साल पहले बनारस में साहित्य सम्मेलन के मंच पर बहुत पास से देखा था। वह मुझे गंवार से लगे थे।

सरला से एक विचित्र सी बात को लेकर मेरा संघर्ष भी रहा। वह कहती थीं - 'पत्नी भी प्रेयसी हो सकती है और चाहती थीं कि मैं उन्हें उसी रूप में प्यार

करूँ।' मैं कहता था - 'पत्नी अपने सामाजिक दायित्वों से इतनी मुक्त कैसे हो सकती है? जो अस्वाभाविक है वह स्वाभाविक कैसे हो सकता है?' इस पर बहुत बहसे भी हुई थीं। मेरे कुछ मित्र भी उनमें पड़े थे। मुझे उस रूप में न जीत पाने ने उन्हें निराश भी किया था। वह निराशा उनके कई गीतों में व्यंजित है।

एक दिन अचानक उन्हें दस्त आने लगे। दो तीन दिन में ही कमजोरी बहुत बढ़ गई। डाक्टर मिसेज खेड़ा ने आकर देखा तो अस्पताल ले चलने को कहा। मिशन अस्पताल में मेरा रक्त लेकर उन्हें चढ़ाया गया। उसके चढ़ते-चढ़ते आधी रात के समय वह मुझे अकेला छोड़कर चली गईं। उनके निधन पर जितनी आंखों ने जितने आंसू बहाये, जितने लोगों ने जितना लिखा उतना शायद ही लिखा गया हो। ठाकुर श्रीनाथ सिंह के आग्रह पर मैंने भी 'दीदी' में कई लेख लिखे थे। जोधपुर की एक पत्रिका 'क्षत्राणी' ने तो एक विशेषांक ही निकाला था। मेरी तो पृथ्वी पावों नीचे से निकल गई थी। उसके बाद मुझ पर जो बीती मेरे अकेले सहने की बात है।

सरला की मृत्यु के कई महीने के बाद एक दिन दामोदर स्वरूप सेठ और बृजमोहन लाल शास्त्री मेरे पास आये थे। कहने लगे - देश अब आजाद हो गया। आप भी अब हमारी पार्टी में आकर काम क्यों नहीं करते। मैंने कहा था - देश में और कोई आजाद हुआ हो या नहीं मैं तो आजाद हो गया। अब फिर [illegible]यन में क्यों पड़ूं।

मेरे और सरला के पत्नी और प्रेयसी के झगड़े का एक दुखद पक्ष यह भी था कि हमारी गुलाम देश में सन्तान उत्पन्न न करने की प्रतिज्ञा के प्रति मेरी दृढ़ता में कहीं कुछ कमी आने लगी थी। मैं दूसरों के बच्चों को अपने बच्चे की तरह प्यार करने के लिए लालायित होने लगा था। इस लालसा को मैं उनके लिए बालगीत लिख कर व्यक्त करने लगा था। सरला की मृत्यु के लगभग दो वर्ष बाद मैंने अपनी बच्चों की कविताओं का एक छोटा संकलन स्वयं हिन्द प्रेस से प्रकाशित करा दिया था 'रिम झिम'। उसका आवरण चित्र हरीश राय ने बना दिया था। भीतर उसमें एक भी चित्र नहीं था। जाने क्यों उसकी प्रतियां यहां साहित्य निकेतन से हाथों हाथ बिक गईं। उन्हीं दिनों रीवां राज्य से बाल साहित्य पर प्रतिवर्ष एक पुरस्कार की घोषणा हुई। मैंने 'रिम झिम' की प्रतियां उसके लिये भेज दीं। वहां उन दिनों विद्या निवास मिश्र सूचनाधिकारी थे और एक श्याम जी शिक्षा मंत्री। मेरे लिए दोनों अपरचित। मुझे 'रिम झिम' पर 500 रू० का वह पुरस्कार मिल गया। उससे एक लाभ यह भी हुआ कि कुछ दिन बाद इंडियन प्रेस इलाहाबाद से लल्ली प्रसाद पांडेय का एक पत्र मेरे पास आया कि मैं अपनी कोई पुस्तक प्रकाशन के लिए भेज दूं।

इंडियन प्रेस उन हिन्दी का सबसे प्रतिष्ठित प्रकाशक था। मेरी एक के बाद एक सात सुन्दर सचित्र सजिल्द पुस्तकें प्रकाशित हुईं। उनकी प्रशंसा कृष्ण चन्द्र बेरी जब अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ के अध्यक्ष हुए तो उन्होंने सम्मेलन में अपने अध्यक्षीय भाषण में भी की। वर्षों बाद जब दिल्ली में चिल्ड्रेन बुक ट्रस्ट द्वारा आयोजित एक सेमिनार में सुप्रसिद्ध चित्रकार हब्बर ने यह कहा कि बच्चों की पुस्तकों में केवल चित्र होना चाहिए अक्षर एक भी नहीं, तो मैंने उसका प्रतिवाद यह कह कर किया कि मेरी पहली प्रकाशित पुस्तक 'रिमझिम' में एक भी चित्र नहीं सब कवितायें थीं और वह हाथों हाथ बिक गई। इंडियन प्रेस के धूनी बाबू मुझसे स्नेह करने लगे थे। उन्होंने मुझे हिन्दी में लिखे गये बाल गीतों में से सर्वश्रेष्ठ चुनकर एक वृहद ग्रंथ तैयार करने का काम सौंपा था। पंडित सोहन लाल द्विवेदी भी इस काम में मेरे साथ थे। मैंने बड़ा प्रशिश्रम करके तीन खंडों में उस ग्रंथ की पांडुलिपि तैयार कराई। सौ से अधिक कवियों के रेखाचित्र बनवाये। उसका छपना प्रारम्भ भी हो गया कि अचानक धूनी बाबू का स्वर्गवास हो गया। और इंडियन प्रेस ऐसा अस्त व्यस्त हुआ कि मेरे शिशु गीतों का एक संकलन जिसके रंगीन चित्र धूनी बाबू ने एक कुशल चित्रकार से बड़े सुन्दर बनवाये थे, डाक से मेरे पास देखने को भेजे थे, वह भी छपने से रह गया।

घर पर मैं अपनी वकालत जमाने के लिए संघर्ष कर रहा था। तभी मेरे मित्र आदित्य प्रकाश जौहरी ने यह सुझाव दिया कि वह अपना कचहरी के बिल्कुल पास वाले किराये के बंगले को छोड़कर जा रहे हैं। उस पर मैं अनाधिकृत कब्जा कर लूं। वह अपना सजा सजाया घर छोड़कर चले गये और मैं अकेला जाकर उसमें रहने लगा। मेरे विरूद्ध अर्जियां लगीं। और मैं अपने रोब दाब से उसमें रहता रहा। कई महीने बाद किसी पार्टी में अचानक नये आये नियन्त्रक अधिकारी चतुर्वेदी से भेंट हो गई। वह साहित्य रूचि के व्यक्ति और मेरे नाम से परिचित थे। कहने लगे - आपके विरूद्ध कई अर्जियां लगी हैं। आपका कब्जा अवैध तो है ही पर मैंने सोचा था एक साहित्यकार को परेशान नहीं करूंगा। उन्होंने कुछ दिनों बाद उस मकान का आवंटन मेरे नाम कर दिया। जब मैं उस घर में गया ही था एक दिन यह भी हुआ कि शाम के समय एक रूपवती पंजाबी लड़की ड्राइंगरूम में सीधी चली आई। मुझसे जौहरी साहब के बारे में पूछा। फिर बातें करने लगी। इतने में बाहर किसी के आने की आहट पा एक दम उठकर अन्दर कमरे में चली और मुझसे कह गई 'कह देना, मैं यहां नहीं आई।' मैं ड्राइंगरूम से निकल कर बाहर गया। आगन्तुक युवक ने भी जौहरी साहब के बारे में पूछा- कहां गये, कब आयेंगे इत्यादि। और

साइकिल पर चला गया। मैं जब कमरे में आया तो उस लड़की ने बताया - यह मेरा भाई था। मुझे ढूंढने निकला है। मैं घर पर बिना बताये अपने मामा के पास आगरा जाने के लिए निकली थी। अब यह मुझे स्टेशन पर खोजेगा। मैं आज यहां से नहीं जाऊँगी। आदित्य की वह स्टेनो थी।

अगले दिन टहलते हुए बाबू रामजी सरन और विश्व विख्यात चित्रकार कलाकार कवि असित हल्दार मेरे पास आ गये। हल्दार एक सप्ताह से राम जी सरन के यहां ठहरे थे। एक रोज पहले भी मेरे पास हरीशराय के साथ आये थे। मैं ड्राइंगरूम को एक छोटी सी अंगीठी से गर्म किये बैठा था। घंटे भर मेरी कवितायें सुनी और विभिन्न विषयों पर बातें की। बोले - बरेली मैं आया इससे पहले भी था। आखिरकार बरेली में मुझे एक मनुष्य मिल गया। सवेरे जब हल्दार आये तो उस लड़की से परिचय कराया। उन्होंने उसके मुंह पर उसके रूप की प्रशंसा की झड़ी लगा दी। चलते समय बाहर मुझसे बोले मॉडेल तो अच्छा है। और बाद में लखनऊ चले जाकर अपने पत्रों में उस माडेल को याद करते रहे। मैंने उस मॉडेल को उसी रात अपने एक मित्र के साथ कार में ले जाकर नगर के बाहर के एक स्टेशन पर ले जाकर आगरे के लिए गाड़ी में सवार करा दिया। उन्हीं दिनों मेरे एकाकी जीवन में मुझे इन्दौर (जहां मैं कभी नहीं गया था) वहां से एक मराठी महिला का एक पत्र मिला - 'मुझे आपकी अंगारों का गीत, समय का देवता, नारी का क्रांति गीत (सब विशाल भारत आदि अनेक पत्रों में प्रकाशित हो चुकी थीं) क्रांतिकारी कवितायें बहुत पसंद हैं। मैं उन्हें गाती-गुनगुनाती हूं। आप पर मेरी श्रद्धा वैसी ही है जैसी राम या कृष्ण पर।..... आप मेरा परिचय जानने को उत्सुक होंगे। तो मैं भारत की एक साधारण नारी हूं।' मैंने आभार व्यक्त करते हुए उन्हें एक पत्र लिखा अन्त में लिखा था मैं राम और कृष्ण की श्रद्धा पर प्रहार करता रहा हूं। मेरा परिचय यह है कि मैं भारत का एक साधारण पुरुष हूं। उसके बाद पत्रों के आदान प्रदान का अटूट सिलसिला शुरू हो गया जो कई साल चलता रहा तभी एक दिन अचानक बंबई से मेरे एक अविवाहित लेखक मित्र मुझसे मिलने बरेली आये। बातों-बातों में कहने लगे - 'मैं भी अब सोचता हूं विवाह कर लूं।' मैंने उनसे कहा इन्दौर में ऐसे एक नारी है। चाहो तो पत्र व्यवहार कर लो। उन्होंने मुझसे पता लिया और बंबई जाते हुए पहले इन्दौर पहुंचे। एक महीने बाद उन दोनों के विवाह का निमन्त्रण आया। मैं बंबई गया नहीं। पर विवाह के बाद दोनों एक बार मुझसे मिलने बरेली आये। और अब दिल्ली में खुश रहते हैं।

मैं एकाकी निसन्तान तो था ही। बच्चन की 'नीड़ का निर्माण फिर' की सलाह मुझ पर असर करने लगी। उन्हीं दिनों ग्वालियर से पंडित श्री

नारायण चतुर्वेदी का कवि सम्मेलन का निमन्त्रण आया। ग्वालियर तब देसी राज्य था और चतुर्वेदी जी वहां शिक्षा निदेशक थे। मैं श्याम नारायण पांडे, सोहन लाल द्विवेदी, गोपेश आदि कितने ही कवि चतुर्वेदी के बंगले पर ही ठहरे थे। वहां एक दिन मेरी वर्तमान पत्नी सरन की मां मुझसे मिलने आई और अपने घर ले गई। मैं इससे पहले ही मथुरा जाकर सरन से मिल आया था। वह वहां एक विद्यालय में शिक्षिका थीं। शाम को उनकी सहेलियों और उनके साथ यमुना में नौका विहार भी किया था। ग्वालियर में उनकी मां के घर पर विवाह की बात पक्की हो गई। मैंने घर आकर सब को बताई तो मां जी और पिताजी बहुत खुश हुए। मेरा उजड़ा घर फिर से बस गया। तभी सरन की अनुपस्थिति में एक बार फिर उनके घर ग्वालियर जाने का अवसर मिला। आंध्रप्रदेश में राजामुन्द्री से पहले एक स्थान है कोब्बुर, गोदावरी के तट पर। वहां एक वयोवृद्ध स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी थे रामकृष्ण शर्मा। वह तेलगु भाषा में एक पत्रिका निकालते थे। एक पृष्ठ अंग्रेजी में भी रहता था। मेरे पास भेजते थे। वैचारिक पत्रिका लगती थी। उन्होंने कोब्बुर में एक धर्म विज्ञान समन्वय सम्मेलन आयोजित किया। मुझे उसमें बुलाया तो पत्रिका में मेरे नाम के आगे 'उत्तर प्रदेश के विचारक' लिखकर प्रचारित किया। मैं वहां गया तो एक उपलब्धि वहां के ओरियन्टल कालिज के प्रिंसिपल के.वी.एन अप्पाराव से भेंट के रूप में हुई। वह संस्कृत के विद्वान थे और हिन्दी भी जानते थे। एक दिन अपने कालिज में ले जाकर छात्रों को मेरी कवितायें सुनवाई। अपने घर भी ले गये थे। बाद में मैंने अपने बाल गीत साहित्य पुस्तक में तेलगु बाल साहित्य पर अध्याय लिखा तो अप्पाराव ने पत्र लिख लिखकर मेरी बड़ी सहायता की। कोब्बुर के सम्मेलन में मैं भी अंग्रेजी में कुछ बोला था। मेरी राय में धर्म की श्रद्धा और विज्ञान के विवेक का समन्वय कभी नहीं हो सकता था। कोब्बुर से नागपुर होते हुए लौटकर एक दिन ग्वालियर रुका था।

कवि सम्मेलनों से मैं किनाराकशी कर चुका था। उनका रूप इतना विकृत होता जा रहा था कि जी घबराता था। एक कवि सम्मेलन की याद है। बच्चन भी दिल्ली से आकर मेरे साथ उसमें गये थे। उनके अपना कविता पाठ करके वहीं से लखनऊ चले जाने के बाद मैं वहां बैठा रहा था। कई और कवियों के कविता पाठ के बाद एक कवि को खड़ाकर दिया गया था जो विभिन्न पशु पक्षियों की बोलियां सुनाते थे। जनता हंसती थी। कवि सम्मेलन तब प्रगतिशील बंधु तो अर्थाभाव के कारण कम ही आयोजित कर पाते थे। या तो वह धन्ना सेठों के पैसे के बल पर मनोरंजन के मुख्य उद्देश्य से होने लगे थे। या राजकीय आयोजकों द्वारा राष्ट्रीय भावना या नेताओं के प्रचार के लिए उनमें

गाकर पढ़े गये गीत, सिंह दहाड़ने वाली वीररस की कवितायें सुनाई जाती थीं। मैं उन दोनों के लिए ही अयोग्य था। पर बाल साहित्य के क्षेत्र में मेरी मांग बढ़ती जा रही थी। सभी बड़े बड़े प्रकाशकों द्वारा मेरी पुस्तकें छापी जा रही थीं। उध र वकालत भी तेज चल पड़ी थी। लिखने का समय नहीं मिल पाता था। ईसप की तथा रूस, फ्रांस, जापान, चीन और जर्मनी की लोक कथायें पद्य में जिन दिनों लिखीं (तो भारत सरकार के प्रकाशन विभाग में छपीं) तब की याद है- कचहरी से कत्ल और डकैतों के संगीन मुकदमें करके लौटता तो वही कपड़े पहने उन्हें लिखने बैठ जाता और चाय पीने के साथ साथ लिखता रहता था। अपने अनेक मित्रों का रोटरी या नगर के बड़े क्लब ज्वाइन करने का आग्रह मैंने ठुकरा दिया क्योंकि उनसे बौद्धिक स्तर पर तो कुछ मिलना नहीं था। उन्हीं दिनों एक संभ्रान्त नागरिकों के क्लब में एक कवि सम्मेलन में बाहर से पधारे एक प्रतिष्ठित कवि साहित्यकारों और कवियों का भोंड़ा मजाक बनाने वाली एक हास्य कवि की कविता सुनाने लगे। मुझसे नहीं रहा गया तो गरज कर कह ही पड़ा - 'बन्द करो इसे' यह कविता है? सन्नाटा छा गया। पर लोगों ने उन कवि को पकड़कर बैठा दिया। कवि सम्मेलन चलता रहा। बाद में किसी ने कुछ कहा हो इसकी चिन्ता मुझे तब भी नहीं थी।

मेरी बच्चों के लिए लिखी पुस्तकें खूब बिकने लगी थीं। जब जो नई पुस्तक निकले उत्तर प्रदेश के शिक्षा विभाग द्वारा कई हजार की संख्या में खरीद ली जाती थी। यह रायल्टी आने पर मुझे ज्ञात होता था। उत्तर प्रदेश के शिक्षा मंत्री आचार्य जुगल किशोर को मेरी इंडियन प्रेस से प्रकाशित बच्चों की पुस्तकें बहुत पसंद थीं। उन्होंने बनारस के तरुण भाई को प्रचुर मात्रा में धन देकर लखनऊ में एक बाल साहित्य सम्मेलन आयोजित कराया था। उसमें बंगाल से आये निखिल चक्रवर्ती (स्वप्न बूड़ो) और रत्नाकर जी से भेंट हुई। जलपाई गुडी के रत्नाकर जी अधिक निकट आये। वह डान पिटादार आसार (शैतान बच्चों की संस्था) चलाते और एक पत्रिका भी निकालते थे। उनके कराये परिचय से प्रणाव वंद्योपाध्याय (जो तब बरेली में इन्टर में पढ़ते थे) मैंने बंगाली भाषा सीखी। और रवीन्द्र नाथ टैगोर की 30 तथा सुकुमार आदि अन्य अनेक बच्चों के लोकप्रिय कवियों की कविताओं का हिन्दी अनुवाद किया। उनमें से कई कवितायें और बंगला लिपि में मेरी कई कवितायें डान पिटादार आसार पत्रिका में छपीं। एक बार रत्नाकर जी जब स्यालदह एक्सप्रेस से मेरे घर से गये तो पटना से आगे कहीं रास्ते में दुर्घटना हो गई। कई आदमी मारे गये और घायल हो गये। मैंने समाचार सुना तो चिन्ता हुई कि रत्नाकर जी को क्या हुआ? तार दिया और चैन तब पड़ा जब उनके पत्र से ज्ञात हुआ कि वह तो घायलों की सेवा सुश्रूषा

करते रहे थे। उसके बाद मैं कलकत्ता कई बार गया। रत्नाकर जी मिले पर मुझे दुख ही रहा कि उनके जल्पाई गुड़ी जाने के आग्रह को पूरा नहीं कर सका।

बाल साहित्यकारों के सबसे बड़े सम्मेलन में पहली बार भुवनेश्वर गया था। कश्मीर, पंजाब, गुजरात, तमिलनाडु, आंध्रप्रदेश आदि के अनेक बाल साहित्यकार वहां मिले। बंगाल के चिल्ड्रंस लिटिल थ्येटर के विख्यात समीर मुखर्जी से वहीं भेंट ही नहीं खूब बातचीत हुई। एक अधिवेशन की अध्यक्षता भी मुझसे कराई थी। वहीं कलकत्ता की सरोज गुप्ता से भी भेंट हुई थी। उड़िया के प्रसिद्ध लेखक पट्नायक जी के साथ कोणार्क और एक पंजाबी सिख लेखक के साथ जगन्नाथपुरी की यात्रायें कीं। पर जो कभी नहीं भूल पाता वह उड़िया में 37 खंडों में बाल विश्व कोष के रचयिता विनोद कानूनगो से भेंट थी। नीचे धोती ऊपर नंगे बदन। एक अकेला व्यक्ति स्वयं लेखक प्रकाशक बनकर तीन तीन सौ पृष्ठ के यह 37 खंड कैसे निकाल सका। मुझसे बहुत कहा मेरे घर कटक चलो। एक सप्ताह मेरे साथ रहो। मैं तुम्हें उड़िया पुस्तकें पढ़ने योग्य सिखा दूंगा। बंगाली के लेखक उत्पल होमराय जिनसे पत्राचार पहले ही रहा था, साक्षात्कार वहीं हुआ। वह मुझे देव सेवक कहते और बताते थे कि बंगाल और उड़ीसा में सब इसी नाम से मुझे जानते हैं।

कलकत्ता की आल इंडिया जुवेनाइल लिटरेरी कान्फ्रेंस जिस संस्था ने भुवनेश्वर में सम्मेलन किया था, मुझे उपाध्यक्ष बना लिया था। उसने ही अखिल भारतीय भाषा संस्थान (भारत सरकार) के सहयोग से दो सम्मेलन मैसूर में किये थे। एक में प्रीतनगर (पंजाब) के दर्शनसिंह और श्रीनगर के अशोक जेरथ के साथ मैं ठहरा था। कन्नड़ के रसिक पुत्तगे जो हिन्दी में भी साधिकार लिखते और धर्मयुग के लेखक रहे हैं निकट आ गये थे। वहां से लौटते समय जब मैं बंगलौर से ट्रेन में सवार हुआ तो उसी डिब्बे में तमिल भाषा के उसी सम्मेलन में आये हुए लेखक अल वलियप्पा, स्वामीनाथन और नागमुथैय्या मिल गये। अल वलियप्पा मद्रास में इंडियन बैंक के मुख्य शाखा प्रबंधक, स्वामीनाथन 'चन्दा मामा' के सह सम्पादक तथा नागमुथैप्पा बीमा निगम में उच्च अधिकारी थे। तीनों ने बहुत आग्रह करके मुझे एक दिन के लिए मद्रास रोक लिया। रात में वलियप्पा के घर पर अन्ना नगर में बिताई। उन्होंने बताया कि कैसे वह तमिलनाडु में बच्चों के लोक प्रिय कवि बने। अपनी बच्चों की कविताओं की पहली पुस्तक उन्होंने स्वयं अपने खर्चे से छपाई और अपने पहिले पुत्र के जन्म पर दावत में आये कुछ बच्चों में बांट दी। एक प्रति राजा जी को भेंट करने गये तो द्वारपाल ने भीतर नहीं घुसने दिया। उसे ही प्रति देकर चले आये। उसी आधार पर कुछ महीने बाद उन्हें तमिल साहित्य एकादमी का सदस्य नियुक्त कर दिया गया। वह

सारी रात बातों में बीती थी। उन्होंने मुझे और मैंने उन्हें अपनी अपनी कवितायें अंग्रेजी अनुवाद कर करके सुनाई। बाद में उन्होंने मेरा एक लेख तमिल में अनुवाद करके चित्र व परिचय सहित अपनी पत्रिका में प्रकाशित किया था। अगले दिन सवेरे हम स्वामीनाथन के घर नाश्ते के लिए गये। वहां तो बच्चे तक हिन्दी जानते और मेरी कविताओं से परिचित थे। दोपहर का भोजन नागमुथैय्या के घर करना था जो उन्होंने नया बनवाया था। उनकी पुत्री एक दल के साथ यात्रा करके रुस से आई थी। उनके एक कमरे में सजे पुस्तकालय को देखकर तो मैं दंग रह गया था। तीनों उसी शाम को मुझे छोड़ने स्टेशन आये। प्लेटफार्म पर खड़े बातें करते रहे। जब गाड़ी चल दी तो पास में बैठे एक मद्रासी सज्जन ने बड़े आश्चर्य से पूछा - वलियप्पा आपको छोड़ने आये थे? उनका आशय था तमिलनाडु में बच्चों का इतना महान कवि जिसे छोड़ने स्टेशन पर आया वह कोई विशिष्ट व्यक्ति होगा। वह यात्रा में मेरे साथ सदाशयतापूर्ण बने रहे।

मद्रास जाकर भी एक प्रतिभावान लड़की प्रतिभा पटेल से न मिल पाने का भार रहा। वह है तो गुजराती पर तमिल उसकी मातृभाषा जैसी है। हिन्दी में लिखती भी थी। एक बार दक्षिण भारतीय युवा युवतियों का एक दल बस में उत्तर प्रदेश की यात्रा करते हुए एक साहित्यकार के नाते मुझसे मिलने बरेली आया था। घर पर लान में दरी पर सबको बैठाकर मैंने जलेबी और समोसे खिलाये थे। केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय की ओर से उन्हें घुमा रहे एक शास्त्री जी ने मेरे खपरैल के बंगले और गेंदे के फूल खिले देखकर कहा था - आज लगता है हम एक प्राचीन काल के ऋषि के आश्रम में आ गये हैं। जाते समय वृद्ध लोग मेरे पुत्र शेखर को भी अपने साथ इसलिए ले गये कि वह बच्चन जी के दर्शन करा देंगे। शेखर ने उनमें से जो गये उन्हें ले जाकर अपने ताऊ जी से मिलाया। अमिताभ भी उस दिन वहीं थे।

दूसरी बार की मैसूर यात्रा में वृन्दावन गार्डेन और चामुंडा देवी का मंदिरं देखा। सभी पुराने बाल साहित्यकार मित्र मिले। एक सांस्कृतिक संध्या में वहां की एक वयोवृद्धा संगीतज्ञा ने हम सबके लिए भारत नृत्यम का विशेष कार्यक्रम आयोजित किया था। लौटते हुए मैं बंगलौर में भगवत सरन के पास रुका था। सरोज गुप्ता मेरे साथ थीं। भगवत सरन बरेली कालिज में इन्टर तक पढ़े थे। एक सिनेमा में नौकरी करने मैसूर गये थे। अब तो बंगलौर में तीन दुकानों के गुप्ता मार्केट के मालिक थे जहां हर दुकान का किराया हजार बारह सौ रूपये महीना था। तीन शानदार कोठियां। एक अपने और दो लड़कों के लिए बनवा रक्खी थीं। यह सब नगर विकास के साथ उस भूमि का मूल्य बढ़ जाने का कमाल था जो उन्होंने एक बैंक से 20 हजार रुपया उधार लेकर खरीदी थी।

इसे एक असंगठित और अव्यवस्थित समाज की विशेषता ही कहा जायेगा कि एक की खरीदी भूमि की ओर आबादी ऐसे बढ़ती चली आये कि वह सोना बन जाये और दूसरे की भूमि के आस पास से लोग दूर भागने लगें और वह कौड़ी मोल की भी न रहे।

सरन से विवाह से पहले में कुछ ऐसे मित्रों की संगत में था जो खाने पीने और प्रतिष्ठा बनाये हुए जीने को सब कुछ मानते थे। एक अनूप नारायण ऐसे थे जिन्होंने पहली पत्नी की मृत्यु के बाद विचार नहीं किया था और कुछ सोचते समझते भी थे। उन्होंने मुझे सलाह दी थी कि मैं विवाह न करूं। औरत गन्दी होती। जहां बैठती है गन्दगी फैलाती है। मैं बर्नार्ड शॉं की पुस्तकों में यह पढ़ चुका था कि सृजन के आवेश में वह पुरुष का उपयोग कर लेती है। पर मेरे पुरुष रूप में यदि कहीं छिपी कोई स्त्री न होती तो मैं साहित्य सर्जना भी कैसे करता रह सकता था। अनूप साहब के पास एक पुत्र था। मेरे पास वह भी नहीं। सरन जब साथ आईं तो मैंने उन्हें समाज में सरला की तरह हर कदम पर साथ रखने की चेष्टा की। पर वह केवल अपना घर बसाना या गन्दगी फैलाना चाहतीं थीं। मेरी स्वतन्त्रता में वह बाधक नहीं बनीं। और वह स्वतंत्रता की वकालत करने और घर पर कुछ लिखते पढ़ते रहने तक सीमित होकर रह गई थी। शेखर का जन्म हुआ तो मेरे बच्चों के लिए लिखने को एक नया उत्साह मिला। जब मैं उन्हें पढ़ने के लिए पिलानी भेजने लगा तो पिताजी ने रोक लिया और जब कुछ और बड़ा होने पर बिरला कालिज नैनीताल में प्रविष्ट कराकर लौट रहा था तो मेरी आंखों में छलक आये दो आंसुओं ने उन्हें वहां टिकने नहीं दिया। वह कालिज भाग आ अपने अभिभावक मेरे मित्र एक जिला जज के घर पर चले आते और वह उन्हें बरेली भिजवा देते थे। मेरा उन्हें वैज्ञानिक बनाने का सपना टूटा तो मैंने समझ लिया मनुष्य स्वयं जो चाहे बने किसी दूसरे को अपनी इच्छा के अनुरूप नहीं बना सकता।

शेखर के जन्म से शायद साल भर पहले हम कुछ पुराने मित्रों ने जिनमें ओम और हरीश अविस्मरणीय हैं। शलभ, पुरी, अवस्थी, डा. एरन, मंगल सेन गुप्ता, सूरज बाबू, कैलाश, जगदीश वल्लभ प्रत्येक शनिवार की शाम को एक स्थान पर मिलकर किसी न किसी विषय पर वैचारिक आदान प्रदान करने का कार्यक्रम रहता और यह अटूट क्रम 14 वर्ष तक लगातार चला नगर के सभी बुद्धिजीवी पंडित भोलानाथ, प्रिंसिपल सुन्दरम, डा. कुलश्रेष्ठ पं. विद्यासागर आदि बाहर के वारान्निकोव, मुकुन्दी लाल बैरिस्टर, वी. वी कार्निक, डा. राजकृष्ण, डा. परमेश्वरी लाल गुप्त, स्वामी रंगनाथ नन्दा, डा. स्ट्रेवी, नारायण दत्त तिवारी, हेमवती नन्दन बहुगुणा आदि उसमें खिचते चले आये। दार्शनिक, वैज्ञानिक,

आर्थिक, राजनीतिक, साहित्यिक सांस्कृतिक आदि सभी विषयों पर स्वतंत्रता पूर्वक विचार विनियम होता था। ऐसी ही एक दूसरी संस्था जो केवल साहित्यिक थी नियमित रूप से प्रत्येक बुधवार की शाम को चलती थी जिसमें बच्चन, दिनकर, नीरज, रंग, पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी आदि सभी आये। 'आलोक वेला' नाम से एक संग्रह भी प्रकाशित कराया गया और एक प्रांतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन भी उसकी ओर से किया जिसमें भगवती चरण वर्मा, यशपाल, विद्यानिवास मिश्र, नागार्जुन, पं. कमलापति त्रिपाठी, अली मासूम रजा राही डा. राकेश गुप्त, सहित लगभग सौ साहित्यकारों कवियों के आवास आदि की व्यवस्था की गई थी। यशपाल की मुझसे अलग से कही गई एक बात नहीं भूलती – 'ये हिन्दी वाले हिन्दी हिन्दू और गौमांस का एक ही अर्थ समझते हैं।' शनिवार समाज को 'वैचारिकी' नाम से (अब रूहेलखंड विश्व विद्यालय के) कुछ विद्वान प्रोफेसरों आदि अनेक मित्रों ने फिर से जमाना प्रारम्भ किया है।

वकालत में मैंने बहुत अधिक धन अर्जित नहीं किया पर मैं कोई असफल वकील नहीं रहा। बार एसोसियेशन के अध्यक्ष पद का जो सम्मान सभी वरिष्ठ वकीलों को नहीं मिल पाता मुझे भी मिला था।

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय ने एक बार अहिन्दी भाषी क्षेत्र के लेखकों के प्रशिक्षण शिविर के लिए गौहाटी भेजा था। कलकत्ता से विद्या देवी जो मेरे निर्देशन में बाल साहित्य पर शोधकार्य कर रही थीं, वह भी गईं थीं। एरोड्रोम पर वहीं जाते हुए डा. नामवर सिंह मिले तो कहने लगे - अरे सेवक जी हम तो आपकी कविताओं पर पैरोडी लिखा करते थे। बनारस में जब था तो 'तरंग' साप्ताहिक में उन्हें प्रकाशित देखता था। यह नहीं जानता था कि कौन उन्हें लिखता है। गौहाटी से शिलांग की यात्रा, ब्रह्मपुत्र में नौका विहार और कामाख्या देवी के उस मन्दिर को नहीं भूल सकता जहां पचासों बकरों और कबूतरों के सिर रोज काटकर उन देवी को चढ़ा दिये जाते हैं जो मास में एक बार रजस्वला भी होती हैं।

दो बार त्रिवेन्द्रम की यात्रायें भी अविस्मरणीय हैं जिनमें सभी भाषाओं के अनेक साहित्यकारों– मलयालम के कुट्टी कृष्णन, मैथ्यू, एब्राहम, विश्वम्भरन से खूब बातें करने की यादें हैं। दोनों बार राज्यपाल द्वारा दी दावतें खाईं, और कन्या कुमारी, एर्नाकुलम कोचीन और क्यूलोन बीच घूमा। त्रिवेन्द्रम के महाराजा कालिज में निराला जी की स्मृति में गोष्ठी जिसमें सब हिन्दी में बोले थे और एर्नाकुलम की दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के हाल में दो ढाई सौ श्रोताओं के सम्मुख अपनी सात आठ कवितायें भी सुनाई थीं। वहां के कवि और लेखक विश्वंभरन ने मेरी बाल गीत साहित्य पुस्तक का मलयालम में अनुवाद भी करना

प्रारम्भ किया था जो पूरा नहीं हुआ। कोचीन के एक प्रोफेसर कवि ने अपनी हिन्दी की कविताओं का एक संकलन भी मुझे भेंट किया था।

मैं यदि हिन्दी का कवि सम्मेलनी कवि ही होता तो कदाचित दक्षिण में कन्याकुमारी और उत्तर में चंडीगढ़ से गौहाटी तक की यह यात्रायें करने का अवसर नहीं मिलता और न सिंधी, पंजाबी, गुजराती, तेलगू, कन्नड़, मलयालम, तमिल, उड़िया, बंगाली और असमियां के कितने ही कवियों लेखकों के सम्पर्क में आ पाता।

बरेली मेरा अपना नगर है। मैंने अपने को हमेशा बरेली का बच्चा माना और कहा भी है। फिर भी यहां जे. सी. क्लब, साहित्य कला एकाडमी, बरेली कालिज पूर्व छात्र संघ, नगर पालिका आदि ने सम्मानित किया। एक संस्था ने साहित्य वाचस्पति की उपाधि भी दी पर मुझे यह सब अजीब सा लगा। रामपुर में एक अभिनन्दन समारोह में मैंने कहा ही था आपके हिन्दी के गौरव सेवक जी अपने नगर में सवारी के रिक्शे पर इसलिये जाते हैं कि जनता जनार्दन से जुड़ा रहना, सर्व साधारण बने रहना साहित्यकार के लिए आवश्यक होता है। तमकनत जहां जरा सी आई कि साहित्य गया। कब किसने कहां निन्दा की या प्रशंसा, इस पर ध्यान देना मुझे अपने जीवन के सफर में कभी आवश्यक नहीं मालूम हुआ।

मैंने बच्चन की तरह नाम और धन नहीं कमाया, सोहन लाल द्विवेदी की तरह राष्ट्रीय कवि नहीं बना, अपने समाज में कोई विशेष प्रभावशाली व्यक्ति भी नहीं। कोई कहले कि मुझमें इतनी प्रतिभा और क्षमता ही कहां थी, पर मुझे सन्तोष है कि मैं अपने देश का एक साधारण नागरिक, पर स्वतंत्र व्यक्ति, बनकर रह सका।

□□

बच्चन, बरेली में

बरेली को बच्चन कभी अपना दूसरा घर मानते थे। मेरा जब उनसे प्रथम परिचय हुआ वह इलाहाबाद में मुट्ठी गंज मुहल्ले के एक छोटे से घर में अपने पिता जी के साथ रहा करते थे।

सन् 1937 में यहां मोती पार्क में स्टुडेन्ट फेडरेशन की रूहेलखंड शाखा का एक अधिवेशन हुआ था। इस अवसर पर होने वाले कवि सम्मेलन का संयोजक मुझे बनाया गया था। मैं सुना करता था कि इलाहाबाद में बच्चन नाम के एक युवा कवि का उदय हुआ है। वह 'मधुशाला' बड़ी मस्ती में झूम झूम कर सुनाते हैं। मैंने उन्हें कवि सम्मेलन में आने के लिए पत्र लिखा। पर वह किसी कारण नहीं आ पाये। उसके कुछ ही महीने बरेली कालिज में एक कवि सम्मेलन हुआ। वहां नागिरी प्रचारिणी सभा के अध्यक्ष प्रो. ज्ञान चन्द्र जौहरी ने उसमें बच्चन को आमंत्रित किया। हिन्दी के अनेक मूर्धन्य कवि उसमें आये थे। अध्यक्षता शायद महादेवी वर्मा ने की थी। मैं कालिज के छात्र श्रोताओं की भीड़ में कहीं बैठा था। आधी रात के समय बच्चन ने मंच की ओर खड़े होकर कविता पाठ प्रारम्भ किया। एक लंबा कालरदार ओवर कोट और सिर पर ऊँची कश्मीरी टोपी पहिने वह हिन्दी के कुर्ता शाल वाले अन्य सब कवियों से भिन्न लगे थे। उन्होंने 'मधुशाला' की रूबांइयां सुनाना शुरू की तो लोग मस्ती से झूमने लगे। और एक के बाद एक कितनी ही रूवांइया सुनाते चले गये। जनता की 'और' 'और' की मांग के बीच उन्होंने 'कोयल', 'पांच कुमार' 'इस पार-उस पार' आदि कई लंबी कवितायें भी सुनाई थीं। कवि सम्मेलन में जैसा रंग उस दिन जमा था वैसा मैंने और कहीं कभी नहीं देखा। बच्चन कविता सुनाने के बाद वहीं से सीधे स्टेशन चले गये थे।

अगले दिन कालिज परिसर में यह समाचार हवा की तरह फैला हुआ था कि जिस ट्रेन से बच्चन वापिस जा रहे थे उसी से कटकर एक छात्र वेद प्रकाश ने आत्म हत्या कर ली। कोई कहता बच्चन की कविताओं से वह इतना प्रभावित हो गया था कि अपने मन को संतुलित न रख सका और चलती गाड़ी के आगे कूद पड़ा। किसी का कहना था - वह किसी लड़की से प्रेम करता था।

उसमें सफलता न मिलने के कारण आत्म हत्या तो उसे करनी ही थी। बच्चन की मधुशाला से उस दिन मैं भी बहुत अधिक प्रभावित हुआ था। उसकी कई रूबाइयां मुझे सुनते सुनते ही याद हो गयी थीं। और उसका स्वर मेरे कंठ में बस गया था। वह आज भी ऐसा बसा हुआ है कि मन्ना डे के स्वर में उन रूबाइयों का रिकार्ड मुझे बिल्कुल अच्छा नहीं लगता। और उसकी पहली रूबाई जो स्वयं बच्चन द्वारा सुनाई गई है सुनने के बाद रेकार्डर को बन्द कर देता हूँ।

बच्चन से मेरा पत्र व्यवहार जारी हो चुका था। प्रो. ज्ञान प्रकाश जौहरी भी उन्हें पत्र लिखने लगे थे। उसी के फलस्वरूप बच्चन जी गर्मी की छुट्टियों में बरेली आये और जौहरी साहव के पुलिस आफिस के बराबर वाले बंगले में ठहरे। तभी पहली बार मैं उन्हें बुलाकर अपने सैदपुरिया स्ट्रीट स्थित घर ले गया था। प्रोफेसर जौहरी और उनकी पत्नी प्रेमा भी साथ थीं। बच्चन जी उस दिन पंजाबी ढंग की सिलवार और सिल्क का कुर्ता पहने थे। मुहल्ले की एक बैठक के आंगन में हमने उनकी कविता पाठ का प्रबंध किया था। श्रोताओं में पिताजी के कुछ कवि मित्र और मुहल्ले वाले थे। उन्होंने उस दिन 'निशा निमन्त्रण' की नई लिखी कितनी ही कवितायें सुनाई थीं।

उसी वर्ष बच्चन ने मेरे और प्रो. जौहरी के आग्रह पर बरेली कालिज में अंग्रेजी के लेक्चरार पर पर नियुक्ति के लिए प्रार्थना-पत्र भेजा था। एक दिन सबेरे के समय जब मैं और मेरा छोटा भाई परोपकार अपने घर पर छत के ऊपर वाले कमरे में बैठे कुछ लिख पढ़ रहे थे, सीढ़ियां चढ़कर सूट बूट पहने और टाई बांधे बच्चन जी आकर सामने खड़े हो गये थे। अप्रत्याशित उन्हें पाकर हमें बड़ी सकपकाहट हुई थी। वह बोले - मैंने बरेली कालिज में अर्जी भेद दी है। उसकी मनेजिंग कमेटी के एक सदस्य नवाब साहब यहीं कहीं रहते हैं। उनसे मिलना है। नवाब साहब मेरे पिताजी के मित्र थे। पिताजी ने एक पत्र उनके नाम लिखकर दिया और बच्चन जी के साथ किला पर उनके घर गया। वह बच्चन जी से मिलकर बहुत प्रसन्न हुए और नियुक्ति के लिए आश्वासन दिया। पर बाद में होने वाली मीटिंग में नियुक्ति हो नहीं पाई। मैंने इस विषय पर बार बार सोचा है। बरेली कालिज में अगर उनकी नियुक्ति हो जाती तो वह इलाहाबाद में क्यों रहते और क्यों अमरनाथ झा के इतने कृपा पात्र बनते कि उनकी नियुक्ति इलाहाबाद विश्वविद्यालय में हो जाती और क्यों तब तेजी से विवाह के बाद इन्दिरा जी से उनकी मित्रता होती जिसके कारण वह पंडित नेहरू के भी कृपापात्र बन गये।

बच्चन जी उन दिनों प्रायः गर्मी की छुट्टियां यहीं बिताया करते थे। बरेली का मौसम इलाहाबाद से अच्छा रहता था। और रातें तो विशेष रूप से

बहुत अच्छी हुआ करती थीं। बनारस की सुबह, लखनऊ की शाम और बरेली की रात तब मशहूर कहे जाते थे। बच्चन जौहरी साहब के यहां ठहरते थे। मैं उन दोनों के बहुत निकट आ चुका था। जौहरी साहब के छोटे भाई आदित्य और साली उमा खन्ना भी आ जाते थे। सारा दिन काव्य चर्चा और हंसी मजाक में बीतता था। आदित्य की बच्चन से इलाहाबाद में ही मित्रता हो गई थी। दोनों का बहुत साथ रहा था। उमा से उन दिनों उनका प्रेम प्रसंग भी चल रहा था। बच्चन ने 'निशा निमन्त्रण' और 'एकांत संगीत' के कई गीत भी बरेली में ही लिखे थे। शाम को अकसर हम लोग साथ साथ घूमने जाते। मुझे एक ऐसी शाम की याद है। बच्चन मैं, प्रेमा और जौहरी साहब तांगे पर बैठे इम्पीरियल सिनेमा में कोई फिल्म देखने जा रहे थे। बच्चन उस दिन जाने क्यों बहुत उदास थे। हम लोग उनकी कविता के विषय में ही बातें कर रहे थे। और वह तांगे पर आगे की सीट पर मेरे पास मूर्तिवत बैठे थे। जब काफी देर हो गई तो बच्चन जी ने 'हां' 'हूं' कुछ नहीं किया तो जौहरी साहब बोले - 'बच्चन' इतने चुप क्यों हो? कुछ बोलते क्यों नहीं? बच्चन ने उसी गुरु गम्भीर मुद्रा में केवल एक वाक्य अंग्रेजी में कहा था - 'कवि को अपना मुख केवल वाग्देवता की सेवा में ही खोलना चाहिए।' और फिर वही चुप्पी। इससे हम उनके मन की व्यथा को समझ गये थे। उनका ध्यान अब अपने एकाकी विधुर जीवन की ओर जाता था तो वह ऐसे ही गुमसुम हो जाया करते थे।

हम लोग अक्सर आपस में सोचते यदि वह पुनर्विवाह कर लें तो उन्हें वह एकाकीपन न सताये। उन्हीं दिनों बरेली में एक धनी मानी कायस्थ परिवार की ओर से उनके विवाह का प्रस्ताव आया। हम सब लोग एक दिन दोपहर के समय आमन्त्रित हो कर वहां खाना खाने गये। लड़की बच्चन को पसंद नहीं आई। यदि ऐसा न होता तो उनका बरेली से एक अटूट सम्बन्ध जुड़ गया होता!

सन 40 या 41 के जाड़े के दिनों में बच्चन जी अपने एक यूनीवर्सिटी के सहपाठी मित्र के छोटे भाई जयन्ती के विवाह में सम्मिलित होने के लिए बरेली आये थे। मैं भी उसमें आमन्त्रित था। हम दोनों साथ साथ बारात में शामिल होकर गुलाब नगर में लड़की वाले के घर तक गये थे। द्वारचार के बाद बारातियों को जनवासे में बैठकर भांवरों के लिए तो खाने के लिए तो रुकना ही था। वह समय कैसे बीते, हम इसी सोच में घूम रहे थे कि कुछ लोग जनवासे के एक कमरे में ले गये। वहां पूरा कायस्थों की बारात का माहौल था। दरी के फर्श पर बैठे बूढ़े और जवान सब हाथों में जाम लिए हुए थे। एक प्लेट में नमकीन गजक सामने रखी थी। उन लोगों ने हमें टीन के बक्सों पर बैठा दिया और फिर होने दो बच्चन जी की 'मधुशाला'। मस्ती के उस आलम में 'मधुशाला' का आनन्द दुगना होकर आ रहा था। उसकी एक रुबाई की वह

पंक्ति उस दिन चरितार्थ होकर बोल पड़ी थी -'मैं मधुशाला के अन्दर या मेरे अन्दर मधुशाला' जब मधुशाला सुनाते सुनाते काफी देर हो गई फिर भी लड़की वाले के घर से बुलावा नहीं आया तो हम दोनों जनवासे से बाहर आकर सड़क पर घूमने लगे थे और टहलते टहलते गौरी शंकर के मन्दिर की ओर चले गये थे। इस एकान्त सड़क पर पहुंच कर श्यामा के साथ बिताये अपने विगत जीवन की बातें करते करते बच्चन जी बहुत भावुक हो गये और फफक फफक कर रो पड़े थे। मैं उन्हें समझा बुझा कर वापस लाया। तब तक लड़की वाले की ओर से खाने का बुलावा आ गया था। खाना खाकर मेरे साथ मेरे कमरे में सो रहे थे। पलंग का प्रबंध न हो सकने के कारण फर्श के बिस्तर पर सोये। सबेरे सोकर उठे तो लगा था रात एक तूफान-सा सिर पर से उतर कर चला गया था।

सन 1941 में दिसम्बर के अन्तिम दिनों की बात है। बड़े दिन की छुट्टियां थीं। मैं दोपहर के समय जौहरी जी से मिलने उनके घर गया था। वह तब बिजली घर के बगल वाले एक बंगले के पिछले भाग में रह रहे थे। मैं जब पहुंचा तो जौहरी साहब किचिन में खाना तैयार करा रहे थे। बोले- प्रेमा आई है और उनकी एक मित्र तेजी सूरी भी आई हैं। प्रेमा उन दिनों लाहौर के खालसा कालिज में प्रोफेसर थीं और तेजी सूरी भी वहीं प्रोफेसर थीं। दोनों बड़े दिन की छुट्टी बिताने के लिए बरेली चली आई थीं। थोड़ी देर बाद प्रेमा और तेजी कहीं बाहर से लौटकर आईं। जौहरी साहब ने तेजी से मेरा परिचय कराया। उसके बाद जब वह दोनों दूसरे कमरे में चली गईं तो जौहरी साहब बोले - 'तेजी अभी अविवाहित है, यदि बच्चन की शादी हो जाये तो कैसा रहे? मैंने कहा - इससे अच्छी और क्या बात हो सकती है।' बच्चन उन दिनों हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में अबोहर (पंजाब) गये हुए थे। मैंने कहा - 'उन्हें बुलाया जा सकता है।' जौहरी साहब ने उसी समय तार लिखा और मैं तार घर जाकर दे आया। बच्चन बरेली आ गये। और तेजी से उनका विवाह होना निश्चित हो गया। 24 जनवरी को इलाहाबाद में विवाह सम्पन्न हुआ।

सन 46 में मैंने वकालत आरंभ की तो यहां एक इन्कम टैक्स कमिश्नर ठाकुर जमना प्रसाद स्थानांनतरित होकर आये थे। उन्होंने गोरखपुर के एक कवि सम्मेलन में मेरी कवितायें सुनीं थीं। बड़े सहृदय और साहित्य प्रेमी सज्जन थे। उन्होंने आने के कुछ ही दिन बाद पहले चपरासी भेजकर मेरे घर का पता लगाया फिर मुझसे मिलने आये। मैं तब सरस्वती विद्यालय इन्टर कालिज से मिली हुई कोठी की छत पर दो कमरों वाले मकान में रहता था। मैं भी उनके यहां आने-जाने लगा था। एक दिन बोले - 'अब होली आने वाली है क्यों न एक अच्छी सी कवि गोष्ठी करली जाये। उसमें बच्चन को बुला लो। पैसे का

सब प्रबंध हो जायेगा। मैंने बच्चन जी को एक पत्र लिख दिया। वह आ गये। नये बन रहे जिला परिषद के हाल में गोष्ठी का आयोजन किया गया था। नगर के बहुत से प्रतिष्ठित और धनी मानी लोग उसमें आये थे। बच्चन ने बहुत सी नई पुरानी कवितायें सुनाई थीं। और बाद में ठाकुर साहब ने डेढ़ सौ रुपये एक धनी मानी सज्जन से उन्हें मार्ग व्यय के रूप में दिलवा दिये। गोष्ठी के बाद वह रात का भोजन करने मेरे घर पर आये थे। बाबू राम जी सरन और मेरे एक मित्र एम.एन. वर्मा भी साथ थे। मेरे घर में आफिस, ड्राइंग या बेड जो कुछ कहें एक ही कमरा था। उसमें एक बड़ा सा पलंग पड़ा था। हम चारों उसी पर चढ़कर कंबल अपने-अपने ऊपर खीचकर बैठ गये थे। सरला (मेरी पत्नी) भी मेरे पास बैठ गयी थीं। बच्चन ने स्वयं अपनी इच्छा से उस दिन हमें अपनी नई लिखी 'मिलन यामिनी' की कवितायें देर तक सुनाई थीं। उसके बाद सरला ने पास ही रक्खी अंगीठी पर चढ़ी कढ़ाई से उतारकर गरम-गरम पूरियां सबको खिलाईं थीं। सरला से यह उनकी अन्तिम भेंट थी। उसके साल भर बाद ही सरला का स्वर्गवास हो गया था।

इसके कई वर्ष बाद जब बच्चन जी इलाहाबाद से दिल्ली आ गये थे और अमित और अजित नैनीताल में पढ़ते थे तो वह उनसे मिलने के लिए नैनीताल जाया करते थे। वहां से लौटते हुए वह प्रायः मेरे पास कुछ घन्टों के लिए अवश्य रुकते थे। मैं तब रोजगार दफ्तर के सामने वाले बंगले के एक भाग में रहा करता था। एक बार तेजी भी उनके साथ थीं। मेरे पिताजी ने पहली बार उन्हें देखा था। उन्होंने कुछ इस प्रकार से पिताजी के पैर छुए जैसे कोई बहू ससुराल के किसी बड़े बूढ़े के चरण छूती है। पिताजी ने उन्हें बहुत-बहुत आशीर्वाद दिया था।

एक बार जब बच्चन ने मुझे लिखा कि नैनीताल से लौटते हुए बरेली रुकेंगे तो मैंने सोचा एक गोष्ठी ही आयोजित कर ली जाये। जिन धनी मानी सज्जन ने ठाकुर साहब के कहने से पिछली होली वाली गोष्ठी में डेढ़ सौ रुपए दिए थे, मैंने उन्हें ही टेलीफोन किया। मैं समझता था सौ डेढ़ सौ रुपये खर्च करना उनके लिए कोई बड़ी बात न होगी। वह बच्चन जी के आने की खबर सुनकर प्रसन्न तो बहुत हुए पर रुपया खर्च करने से साफ इन्कार कर दिया। गोष्ठी आयोजित न हो सकी। बच्चन जी आये और चले गये।

उसके कई वर्ष बाद उन्हीं धनी मानी सज्जन के परिवार मे कोई शादी थी। बारात कहीं बाहर से आने वाली थी। उनके प्रतिनिधि मेरे पास आये कि मैं विवाह के अवसर पर बच्चन जी को बुला दूं। रुपया कितना ही खर्च हो जाये। मैंने साफ कह दिया कि मैं ऐसा नहीं कर सकता। यह कवि का अपमान होगा कि बराती बैठे खाना खा रहे हों और वह खड़ा होकर कविता सुनायें। ऐसा तो

हो सकता है कि उसी दिन नगर में कहीं और एक गोष्ठी रख ली जाये और घराती बराती सब उसमें आकर बच्चन जी की कविता सुन लें। इस पर वह तैयार नहीं हुए। तब उन्होंने जाकर बाबू राम जी सरन को घेरा कि वह एक पत्र बच्चन जी को बुलाने के लिए लिख दें। बाबू राम जी सरन ने मुझसे कहा – 'यह इतना कह रहे हैं। पत्र लिख क्यों नहीं देते।' मैंने उनसे भी कह दिया– मैं ऐसा नहीं करूंगा और आप भी यदि उन्हें आने को लिखेंगे तो मैं मना कर दूंगा।'

मेरे और बाबू राम जी सरन के अतिरिक्त बाबू अनूप नारायण से भी उनकी अच्छी मित्रता थी। उनके पुत्र प्रमोद के विवाह में वह कवि नहीं मित्र के नाते ही बरेली आये थे। यह दूसरी बात है कि हमने उस अवसर पर शनिवार क्लब की ओर से उसके सदस्य रमेश कुदेशिया के यहां एक गोष्ठी भी आयोजित कर ली थी।

अन्तिम बार बच्चन जी सन 65 या 66 में 'आलोक' की गोष्ठी में बरेली आये थे। तब वह दो दिन मेरे पास ठहरे थे। एक दिन सबेरे तड़के तैयार होकर बोले – 'मैं जरा घूम आऊँ।' 'मैंने कहा ठहरिए मैं भी साथ चलता हूँ।' मैं समझा अपने एक पुराने मित्र बल्देव वर्मा के यहां गये होंगे। लौटकर रिक्शे पर जब वह वापस आये तो मुझे बताया – 'मैं ज्ञान प्रकाश का बिजली घर के बगल वाला वह बंगला देख आया जिसमें 20–25 वर्ष पूर्व तेजी से मेरी प्रथम भेंट हुई थी।'

बच्चन जी का बरेली से कुछ भावनात्मक संबंध रहा है। मैंने एक बार उन्हें सुझाव भी दिया था कि वह दिल्ली में रिटायर होने के बाद आकर बरेली में रहें। और वह शायद मान भी जाते क्योंकि तब तक अमिताभ फिल्मों में जाकर चमके नहीं थे। पर तेजी ने भांजी मार दी। और शायद ठीक ही किया।



सन् 1976 में गौहाटी में आयोजित एक साहित्यिक आयोजन में (बायें से) श्री निरंकार देव 'सेवक', डॉ० के०पी० सिंह, डॉ० नामवर सिंह तथा श्री बालशौरि रेड्डी।

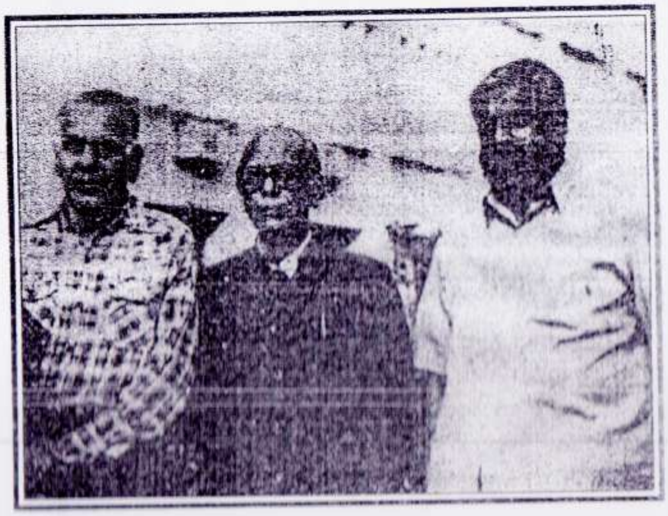


श्री निरंकार देव "सेवक" (सन् 1947)



श्री निरंकार देव "सेवक" (सन् 1994)

त्रिवेन्द्रम में त्रिभाषायी बाल-साहित्यकारों का संगम



(बायें से) श्री कल्वि गोपाल कृष्णन (तमिल), श्री निरंकार देव "सेवक" (हिन्दी) तथा श्री अब्राहम जोसेफ (मलयालम)

भुवनेश्वर

हवा के उस झोंके की तरह वह गुजर गया

मैंने भुवनेश्वर को हवा के उस झोंके की तरह देखा जो किसी कमरे में एक द्वार से आकर दूसरे द्वार से निकल जाता है। हवा का वह झोंका कुछ भी न करे, किसी का ध्यान भी उसकी ओर आकर्षित न हो, पर वह कुछ हलचल तो मचा ही जाता है। कमरे की कुछ चीजें उसमें तितर-बितर हो सकती हैं-कम से कम द्वार पर यदि परदा पड़ा हो तो वह तो उससे हिल सकता है और उसके उधर जाने से भीतर से बाहर या बाहर से भीतर कुछ देखा जा सकता है। भुवनेश्वर ऐसे ही जन्म के द्वार से आये और मृत्यु के द्वार से बाहर चले गए। जीवन और जगत के प्रति ऐसा निर्लिप्त व्यक्ति मेरे जीवन में कोई दूसरा आया नहीं।

मेरा उनसे प्रथम परिचय शायद सन 40 में लखनऊ चारबाग स्टेशन के प्लेटफार्म तीन पर हुआ था। मैं और पं. सोहन लाल द्विवेदी पूर्वी उत्तर प्रदेश के किसी कवि सम्मेलन से लौटकर ट्रेन से उतरे थे। भुवनेश्वर एक बेंच के पास कुछ निरुद्देश्य से देख रहे थे। द्विवेदी जी को उन्होंने नमस्कार किया। और द्विवेदी जी ने मेरा उनसे परिचय कराया- यह हैं भुवनेश्वर। मैं सुनते ही पहचान गया क्योंकि यशपाल के 'विप्लव' या दूसरी पत्रिका शायद 'चक्कर क्लब' में प्रकाशित उनके एकांकी की चर्चा मैंने बरेली में अपने मित्रों से सुनी थी। भुवनेश्वर भी मेरे नाम से परिचित थे पर शायद काम से नहीं। मैं और द्विवेदी जी जब सीढ़ियां चढ़ते हुए प्लेटफार्म नम्बर एक की ओर चले तो भुवनेश्वर भी हमारे साथ थे। दुबला पतला नाटे कद का शरीर। काली अचकन, ढीला पैजामा और चप्पल। सिर पर रुखे घने बाल। चेहरा भी भरा हुआ नहीं और बिना चश्में की आंखें। चलते-चलते हम कुछ बातें करते जाते थे। प्लेटफार्म एक पर पहुंचकर भुवनेश्वर ने कहा- आओ कहीं चाय पी जाये। स्टेशन पर उन दिनों एक 'किलनर' का रेस्तरां था जिसमें अंग्रेज या कुछ बड़े लोग ही बैठकर शराब या चाय पिया करते थे। द्विवेदी जी हम लोगों के बीच पंडित जी थे। जो शायद सब जगह सब कुछ खाना पीना पसन्द नहीं करते थे। पर भुवनेश्वर के आग्रह

को वह टाल न सके। भुवनेश्वर ने हमें ले जाकर 'किलनर' के एक केबिन में बैठा दिया। बड़े रौब से बैरा को बुलाकर उन्होंने आदेश दिया- तीन चाय, टोस्ट मक्खन और फिर द्विवेदी जी की ओर देखकर उनके मना करने पर 'दो आमलेट'। जब तक बैरा यह सब सामान लाये हम तीनों की बातों का सिलसिला जारी था जिसमें हम भारतीयता या राष्ट्रीयता ही नहीं क्रान्ति और उसकी जड़ मार्क्सवाद तक की बातें करते रहे थे। मैं तब 'चिनगारी' की कविताऐं लिख चुका था। समाज को बदल देने की बातें अच्छी लगती थीं। बैरा जब खाने पीने का सब सामान ले आया उसके बाद भी बातें जारी रहीं। द्विवेदी जी अधिकतर 'हां, हूं' करने वाले श्रोता ही बने रहे। जब सब खा पी चुके तो बैरा प्लेट में रखकर एक बिल लाया और उसे भुवनेश्वर के आगे रख दिया क्योंकि आदेश देने वाले वही थे। भुवनेश्वर ने बिना किसी संकोच के बिल मेरे आगे बढ़ाते हुए कहा- इसका पेमेन्ट कर दो। अगर इससे पहले उन्होंने अचकन की जेबें टटोली होतीं और पर्स पास न होने का बहाना किया होता तो उनका यह व्यवहार बिलकुल अजीब न लगता। मैंने चुपचाप एक नोट निकालकर प्लेट में रख दिया। बैरा जब फिर बचे हुए पैसे बिल पर रखकर लौटकर आया तो भुवनेश्वर ने उससे वह सब बख्शीश ले जाने को कहा और वह उन्हें कायदे का सलाम करके चला गया। 'किलनर' से बाहर निकलकर जब हम अलग हुए तो द्विवेदी जी ने मुझे बताया कि 'खुद भूखा होगा इसलिए तुम्हें चाय पिलाने के बहाने वहां ले गया था।' पर मुझ पर कोई असर नहीं हुआ क्योंकि मैं कुछ और कामरेडों के सम्पर्क में आ चुका था। कामरेड सब यही मानते थे पैसा किसी की जेब में हो जरुरत पूरी करने के लिए होना चाहिए। 'चिनगारी' की कविता में मैं लिख चुका था।

अगर पेट भरने को भोजन
दो कण हमें नहीं मिल पाये
रक्त देह का सूख रहा हो
प्राण उफन होठों पर आये।
भोग देवता के खाना-पीना धर्म हमारा।

पहली मुलाकात में हम दोनों के एक दूसरे से एक समान प्रभावित न होने के लिए कोई कारण नहीं था। हम दोनों का एक प्रिय लेखक दाढ़ी वाला बर्नार्ड शॉ भी किसी की चर्चा में कहीं-कहीं आता रहा था। हमने मन में निश्चय करके समझ लिया था कि हम दोनों एक दूसरे के आयु ही नहीं बुद्धि से भी समवयस्क मित्र हो सकते हैं। पर उन जैसे बैलौस लापरवाह और घुमक्कड़ व्यक्ति से अबाध पत्र मित्रता निभाने का भी भरोसा नहीं किया जा सकता था। इसलिए एकाध घण्टे के लिए पक्की तौर से जुड़ कर हमारी दोस्ती चारबाग स्टेशन पर ही समाप्त हो गई।

बरेली लौट आकर अपने समय के सर्वाधिक विद्वान प्रोफ़ेसरों में से एक पं. भोलानाथ शर्मा से जब मेरे भुवनेश्वर से मिलने का जिक्र हुआ तो उन्होंने अपनी एक आपबीती सुनाई- ''एक दिन वह यहां मेरे घर पर आये थे। बहुत देर बातें हुईं। बड़ा विद्वान गहरी पकड़ का आदमी था। शाम के समय मैंने उन्हें भोजन कराया। कहने लगे- अब रात में कहा जाऊँगा यहीं सो रहूं। मैंने बाहर की बैठक में उनके सोने का प्रबंध कर दिया। मैं जब लेटने को कहकर भीतर चलने लगा तो बोले- एक पेन दे दीजिए। कुछ लिखने का मूड हो रहा है। मैंने उन्हें अपना पार्कर पेन दे दिया। (जो उन दिनों सौ रुपये में मिलता था) अपनी आदत के अनुसार सबेरे तड़के उठकर जब मैं घर से बाहर बैठक में आया तो देखा भुवनेश्वर वहां नहीं थे। अपना एक छोटा सा झोला लेकर वह चले गये थे। और मेरा वह पेन भी लेते गए थे।''

पंडित जी को थोड़ी हंसी आई थी। उनके इस व्यवहार पर खिन्नता का कोई भाव उनके मन में नहीं था। भुवनेश्वर का यह चरित्र हमारे लिए कोई अचरज की बात नहीं था। वह एक प्रतिभावान लेखक थे। समाज के लिए देने को उनके पास बहुत कुछ था। चाकरी वह कर नहीं सकते थे। लिखना उन्हें ज़रूर था। इसलिए जैसे भी हो एक पेन तो उनके पास होना ही चाहिए था। और उस समय तक के पैनों में सबसे अच्छा जब उन्हें लिखने को मिल जाये तो वह उसे कैसे छोड़ सकते थे। उनके प्रिय लेखक बनार्ड शा ने उनके इस जीवन दर्शन को अपने नाटकों में स्पष्ट किया है। उसने 'मैन एक सुपरमैन' नाटक में लेखक या कवि की गरिमा को बताते हुए कहा है ''हजारों औरतों को मर जाने दो यदि उनका त्याग किसी कवि से एक अच्छी पंक्ति लिखाने में सहायक हो सकता है।'' और जहां तक भुवनेश्वर के पेन चुरा लेने का सवाल है 'मेजर बारबरा' - नाटक में शा ने लिखा है - 'एक चोरी यहां एक डकैती वहां यह कोई अपराध नहीं है। सबसे बड़ा अपराध है गरीब होना।'

भुवनेश्वर से मेरी मुलाकात अगले 8-10 साल तक नहीं हुई। एक दिन मेरे एक अभिन्न मित्र आदित्य मेरे पास आये। बोले- कल लखनऊ चलो। कार से चलेंगे बस हम और तुम। और शाम तक लौट आयेंगे। उन्हें वहां कुछ थोड़ा सा काम था। आदित्य इलाहाबाद में पढ़े थे। वहां से बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, भुवनेश्वर, फिराक आदि सबको अच्छी तरह जानते थे। बच्चन से उनकी घनिष्ट मित्रता थी। इसीलिए उन्होंने अपनी आत्मकथा का एक भाग आदित्य को समर्पित किया है। आदित्य ने अंग्रेजी में एम.ए. किया था। हिन्दी, अंग्रेजी उर्दू कविता में उनकी बड़ी रुचि ही नहीं गहरी बैठ थी। खुद नहीं लिखते थे। उनका साथ हमें हमेशा अच्छा लगता था। मैंने उनके साथ लखनऊ चलने को हां कर दी।

अगले दिन हम लखनऊ चल दिये। आदित्य कार चला रहे थे। और मैं उनके पास बैठा था। शाहजहांपुर से पहले ही हम एक गलत सड़क पर पड़ गये। और बातों-बातों में मीलों पीछे चलते चले गए तब जाकर ज्ञात हुआ कि यह सड़क तो फरुर्खाबाद की ओर जाती है। मुढ़कर लौटे और शाहजहांपुर की ओर बढ़े ही थे कि मोटर के इंजन में कुछ खराबी हो गई जिसे शाहजहांपुर में रुककर ठीक कराना जरुरी था। मैकेनिक ने कहा ठीक करने में 2-3 घंटे से कम नहीं लगेंगे। तब फिर यह प्रश्न था कि यह घंटे कैसे काटे जायें आदित्य को याद आया भुवनेश्वर कहीं आजकल अपने घर पर ही न हों। हम पूछते-पूछते उनके चाचा या ताऊ भगवती सहाय बेदार के घर गये। वहां मालूम हुआ कि भुवनेश्वर ने मानसरोवर होटल में एक कमरा ले लिया है। हम मानसरोवर होटल पहुंचे। उसकी इमारत तब बन रही थी। ज्ञात हुआ कि पीछे की ओर एक कमरे में भुवनेश्वर हैं। कमरा 6-7 फिट लंबा चौड़ा ऐसा कि जिसमें हवा आने या जाने का केवल एक ही द्वार था। जमीन पर भुवनेश्वर का बिस्तर और कुछ कागज किताबें फैले थे। हम दोनों उसी पर बैठ गये और इधर उधर दुनिया भर की बातें करने लगे। फिर भुवनेश्वर ने एक नये लिखे नाटक का कुछ अंश सुनाया। शायद सिकन्दर और चन्द्रगुप्त से संबंधित था। आदित्य ने भुवनेश्वर से कहा- तुम भी चलो न लखनऊ। और वह दो मिनट में अपनी खद्दर की काली शेरवानी ढीला पैजामा और चप्पल पहन कर तैयार हो गये। गालिब का एक दीवान उन्होंने पड़ी हुई किताबों में से साथ लिया।

शाहजहांपुर से जो हम चले तो आदित्य कार चला रहे और आगे की सीट पर उनके और मेरे बीच में भुवनेवर बैठ गये थे। साफ सड़क पर पड़ते ही भुवनेश्वर की कोई गजल गुनगुनाना शुरु की और फिर तरन्नुम में फट पड़े। एक-एक शेर एक-एक शब्द ऐसा रस लेकर वह सुनाते थे कि आस-पास के हम दोनों सुनने वाले गालिब के भावना विचारों में डूब-डूब जाते थे। कोई कठिन शब्द होता तो भुवनेश्वर उसकी ऐसी व्याख्या करते थे कि शायद गालिब भी नहीं कर पाते। और फिर मस्ती में झूम-झम कर गाने लगते थे। मैं भी कभी-कभी उनके स्वर में स्वर मिला कर झूम-झूम जाता था। मुश्किल थी तो आदित्य की कि आनन्द से झूमे बगैर रह नहीं सकते थे और निगाह दूर तक सड़क पर कि पल भर भी चूके और गये। और हम दोनों थे कि हमें दीन दुनियां की खबर नहीं। गालिब के एक-एक शेर का जैसा आनन्द उस दिन शाहजहांपुर से लखनऊ तक के तीन घंटे के सफर में हमने लिया वैसा जीवन में फिर दुबारा न मिल सका। यहां याद आता है कि आदित्य की भाभी प्रेमा ने एक बार जब मैं शिमला गया था, तो कहा था अभी एक महीने मैंने केवल गालिब का अध्ययन

किया। मैंने खाया गालिब को, पिया गालिब को, चली गालिब के साथ और सोई गालिब के साथ, पर हमारे तीन घंटे गालिब मय रहने की तुलना शायद उनके उस गालिब अध्ययन से भी नहीं की जा सकती।

भुवनेश्वर उस बार शायद लखनऊ ही रुक गये थे। और हम उनका गालिब का दीवान लिये बरेली लौट आये थे। वह दीवान वर्षों मेरे पास रहा।

उसके बाद फिर कई साल भुवनेश्वर से मेरी भेंट नहीं हुई। बरेली में वकालत करते हुए मुझे कई साल हो गये थे। काम अच्छा चल रहा था। एक दिन सबेरे भुवनेश्वर मेरे सामने आकर खड़े हो गये। वेषवूषा में कोई फर्क नहीं। वही काली शेरवानी पैजामा। मुझे बड़ी खुशी हुई। मैंने चाय पिलायी। वह बोले- अब मैं कुछ दिनों यहीं रहूंगा। मैंने कहा- मेरे पास रहो तुम्हें कोई कष्ट नहीं होगा। आराम से खूब लिखना-पढ़ना। बोले- नहीं मैं सिविल मिलिट्री होटल में ठहरा हूं। कुछ देर बातें करने के बाद चलते सयम बोले- दस रुपये मुझे दे दो। मैंने दे दिये। मैंने कहा- किसी दिन शाम को आना फुर्सत से बैठकर बातें करेंगे। पर वह नहीं आये। मैं अपने कामों में व्यस्त रहा। आठ-दस दिन बाद फिर सबेरे आये और फिर पांच-दस रुपये ले गये। ऐसा ही एक दो बार हुआ। शाम को मेरी फुर्सत के सयम बैठकर बातें करने के लिए वह कभी नहीं आये।

एक दिन सबेरे भुवनेश्वर मेरे पास फिर आये। वही काली अचकन और मैला पैजामा पहने। पांच छः किताबें जो उनके पास थीं देते हुए मुझसे बोले- यह किताबें ले लो और दस रुपये मुझे दे दो। यह शायद उनकी स्वाभिमान रक्षा की आखिरी कोशिश थी। किताबों की क्या बात है। मैंने तो तुमसे कहा- तुम मेरे साथ रहो। भुवनेश्वर ने कहा- यह तो नहीं हो सकता। मैंने उन्हें दस रुपये दिये और वह किताबें मेज पर रखी छोड़कर चले गये।

मैंने पता लगाया तो ज्ञात हुआ कि भुवनेश्वर सिविल मिलिट्री होटल में नहीं रहते। कहां रहते हैं कुछ पता नहीं। कुछ दिन बाद होटल का बूढ़ा हेड बैरा मिल गया तो उसने बताया कुछ महीने हुए तब वह होटल में आकर ठहरे थे। बार में बैठकर खाते-पीते थे। अंग्रेजी खूब बोलते थे। बड़े पढ़े-लिखे थे। बैरों को खूब इनाम देते थे। जब पैसे खत्म हो गये तो मैनेजर ने उन्हें बेइज्जत कर के निकाल दिया। वह चुपचाप सब सुनकर चले गये। मुझे बहुत बुरा लगा।

अब भी वह होटल में आते हैं पर रात को 11-12 बजे से पहले कभी नहीं। बैरा ने बताया एक दिन उन्होंने मुझसे कहा था जरा सी सोने को जगह दे दो शिवलाल। मैंने उन्हें पीछे का एक बरामदा बता दिया था। उसमें वह चुपचाप जाकर पक्के फर्श पर लेटकर सो जाते हैं और सबेरे टट्टी-पेशाब से

फारिक हो फिर चले जाते हैं। दिन में कभी नहीं आते। मैंने उन्हें कभी-कभी सड़कों पर अकेले चुपचाप घूमते देखा है। शायद वह बिहारीपुर में भट्टी पर शराब पीते हैं और यहां आकर बरामदे में सो रहते हैं। यह बात होटल में किसी को मालूम नहीं है। बिना बिस्तर के फर्श पर लेटकर सो जाने के कारण उनकी पीठ पर दोनों तरफ अचकन फट गई है। पैजामा भी फटा हुआ और गंदा है। किसी से वह कुछ कहते नहीं। शायद अब उनका दिमाग भी कुछ चल गया है।

मैंने सोचा क्या भुवनेश्वर जैसे नवोन्मेषकारिणी प्रतिभा के धनी लेखक को यही पहुंच जाना था? तनधारी मनुष्य होने के नाते उन्हें भी कुछ सुविधाओं की आवश्यकता थी। उनकी पूर्ति के लिए कुछ करने की ओर उनका ध्यान नहीं था। लिखना वह काम समझते थे और उसके बदले में समाज उन्हें थोड़ी बहुत मान्यता के अतिरिक्त और कुछ दे नहीं सकता था। यशपाल तक उनकी योग्यता और लेखन क्षमता के कायल थे। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने उनकी पुस्तक "कारवां" का उल्लेख अपनी "हिन्दी साहित्य का इतिहास" पुस्तक में किया है। पर शरीरधारी को अपनी प्रतिभा का उपयोग करने और करते रहने के लिए सामाजिक मान्यता के अतिरिक्त कुछ और भी चाहिए। उनकी ओर से वह सदा उदासीन रहे। बाद में जब शरीर की न्यूनतम आवश्यकतायें भी पूरी न हो सकीं तो समाज की भाषा में उनका मानसिक सन्तुलन खो देना भी अस्वाभाविक नहीं था। इसलिए किसी शराब की भट्टी वाले ने दया कर उन्हें दो घूट पिला दी और शिवलाल ने जमीन का फर्श सोने को दे दिया तो वह उसे जीवन रक्षा के लिए पर्याप्त समझते थे। पर मानसिक सन्तुलन उन्होंने वास्तव में खोया नहीं था। भुवनेश्वर को वे भुवनेश्वर समझते नहीं थे। एक जीवन पृथ्वी पर हो और न रहे, इससे उनके या किसी और के लिए क्या अन्तर पड़ता है? यह उनका मानसिक सन्तुलन ही था कि वह मेरे या किसी के साथ कुछ आराम से रह लेने को भी बन्धन समझते थे। स्वतंत्र रहना, चाहे उसके लिए वह मर ही क्यों न जाये, मनुष्य का जन्मजात अधिकार है।

इसीलिए फिर मैंने भी उनसे फिर कोई आशा छोड़ दी थी। जानता था कि वह मुझे पहचानने से भी इंकार कर देंगे। इतना तो मैं कर सकता था कि उन्हें पागल घोषित कराकर मानसिक चिकित्सालय में बन्द करा देता। पर मेरा यह करना मेरे अपने भुवनेश्वर के लिए नहीं होता।

मेरी उनके बारे में अपने मित्र धर्मपाल से बातें होती थीं। वह भी उन्हें जानते थे। कुछ दिन बाद धर्मपाल ने मुझे बताया 'भुवनेश्वर तो नहीं रहे। एक लाश सड़क के किनारे पड़ी मिली थी, वही अचकन पैजामा पहने। उसी सड़क पर जिसकी एक ओर पैदल जाते मैंने उन्हें अकसर देखा था। किसी ने उन्हें

मारा नहीं था। नगरपालिका वालों ने लावारिस मानकर शमशान भूमि पहुंचा दिया जहां सोशल सर्विस ट्रस्ट की ओर से उनका दाह कार्य हो गया, 'धर्मपाल की इस बात में कितनी सच्चाई है, मैं नहीं कह सकता। पर मेरे अविश्वास के लिए कोई कारण भी नहीं था। इस प्रकार हिन्दी भाषा का एक शरत् चन्द्र या बर्नार्ड शॉ बन सकने की क्षमता रखने वाला दुनिया से चला गया।

उस भुवनेश्वर की जो बाद में भुवनेश्वर रहा ही नहीं था, याद आती है तो मन कचोट कर रह जाता है। हिन्दी जगत अपनी प्रतिभाओं से लेना तो सब कुछ जानता है, देना कुछ नहीं। प्रतिभाओं को अपने अंकुश से संचालित करने को वह अपना अधिकार समझता है। इस अंकुश के आगे जो झुकते नहीं वह ऐसे ही टूट जाते हैं। पर हम भुवनेश्वर की इस शहादत को बेकार गई भी नहीं कह सकते। वह तो एक हवा का झोंका था। कमरे के इस द्वार से आकर उस द्वार से निकल गया। बीच में कुछ भी हुआ हो, इससे कोई मतलब नहीं था।

परमेश्वरी लाल गुप्त

सिक्कों का सरताज

सन् 1939-40 में जब मैं एक कवि सम्मेलन में आजमगढ़ गया था, तो मेरी कविता से आकर्षित होकर, मेरी सी ही आयु के एक युवा पत्रकार परमेश्वरी लाल गुप्त मुझे चाय पीने के लिए बुलाकर अपने घर ले गये थे। वह कभी भारत ही नहीं अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के भारत गौरव पुरातत्वविद् और मुद्रा विशेषज्ञ कहलायेंगे, यह मैं स्वप्न में भी नहीं सोच सकता।

परमेश्वरी लाल गुप्त तब आठवीं कक्षा तक भी पढ़े नहीं थे। उन्होंने आजमगढ़ में एक छोटा-सा प्रेम लगा रखा था। स्वयं अपने सम्पादन में 'संदेश' नाम का एक चार पृष्ठों का साप्ताहिक पत्र निकालते थे। वह सन् 30 में ही स्कूल से निकाले जाकर, वकील पिता का अपने इकलौते पुत्र को वकील बनाने का अरमान ध्वस्त कर चुके थे। स्कूल से निकाले इस बात पर गये थे कि पंडित जवाहर लाल नेहरू की गिरफ्तारी के दिन उन्होंने छात्रों को बहकाकर कक्षाओं का बहिष्कार करा दिया था। ब्रिटिश शासन काल में यह कोई साधारण अपराध नहीं था। इसके लिए उनकी पढ़ाई हमेशा के लिए खत्म कर दी गई थी। पिता के दिल पर कुछ भी बीती हो, पर परमेश्वरी लाल जी ने तभी से देश सेवा और अधिकाधिक 'ज्ञानार्जन' को अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था। वह कांग्रेस के स्वयंसेवक बन गये और स्थानीय नेताओं की सहायता से नगर में युवा कार्यकर्ताओं का एक ऐसा संगठन उन्होंने खड़ा कर दिया जिसके कारण जिला प्रशासन उन्हें 'गर्म लड़का' कहकर आशंकित रहने लगा था। सन् 1930 से सन् 42 के बीच उन्हें कई बार जेल यात्रा करनी पड़ी। इस बीच उनका निजी अध्ययन का क्रम भी जारी रहा और 12 वर्ष में आठवीं कक्षा से लेकर कोई छात्र कक्षाएं पास करने से जितना भी ज्ञान प्राप्त कर सकता है, उससे कहीं अधिक ज्ञान उन्होंने अर्जित कर लिया।

इसी दौरान उनकी भेंट आजमगढ़ के एक वकील रामाशंकर रावत से हुई जो पुरातत्व में विशेष रुचि रखते थे। उनके सम्पर्क से परमेश्वरी लाल की

रुचि पुरातत्व से हो गई। रावत साहब बरेली में इन दिनों चल रही पांचाल इतिहास परिषद के संस्थापकों में से एक रमेश चन्द्र रावत के पिता थे। उनके परिवार से सम्बृद्ध होने के कारण परमेश्वरी लाल अकसर बरेली आया करते थे और मेरे पास ही कुछ घंटे बिताये बिना कभी वापस नहीं जाते थे।

सन् 43 में जब मैं एक साल के लिये बनारस पढ़ने गया था तो अचानक एक दिन सड़क पर कहीं मुझे परमेश्वरी लाल मिल गये। बोले - मैं अब बनारस ही आ गया हूं। दैनिक 'आज' के सम्पादकीय विभाग में। यहीं एक घर ले लिया है पर वह ठीक नहीं है। वह मुझे एक गली के अन्दर अपने घर भी ले गये। दिसम्बर के बड़े दिन की छुट्टियाँ उन दिनों काफी लम्बी होती थीं। मेरी पत्नी सरला ने बनारस घूमने के लिये आने की इच्छा की। मैं छात्रावास के अपने कमरे में उन्हें कैसे रख सकता था? इसलिये मैंने अपने गुरू जी पं. सीताराम चतुर्वेदी से कहकर उनका एक मकान बेनिया बाग के पास किराये पर ले लिया। मकान बड़ा और अच्छा था। मैंने चतुर्वेदी से कहकर अपने मित्र परमेश्वरी लाल को भी सपरिवार वहीं रहने के लिये बुला लिया। सरला और परमेश्वरी लाल की पत्नी अन्नपूर्णा जी में ऐसी आत्मीयता हो गई थी कि वह पूरा महीना बड़े आनन्द से बीता। उसके बाद सरला बरेली और मैं छात्रावास लौट गया। परमेश्वरी लाल उसके बाद भी उसी मकान में रहते रहे और शायद सन् 60 में बनारस छोड़ने तक वहीं रहे।

इस बीच उन्होंने अपनी छूटी हुई पढ़ाई 17 वर्ष बाद फिर प्रारम्भ करके हाईस्कूल, इण्टर, बी.ए. और फिर प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति विषय लेकर प्रथम श्रेणी में एम.ए. पास किया। इससे पहले ही उनके कई शोधपूर्ण लेख कई इतिहास पत्रिकाओं और 'न्यूमिस्टमेटिक सोसायटी आफ इण्डिया' पत्रिका में प्रकाशित हो चुके थे। वह उस क्षेत्र के विशेषज्ञों में इतने चर्चित हुए और सराहे गये कि उनके एम.ए. कक्षा के प्रोफेसर यह जाने बिना कि उनका लेखक उनका छात्र है, उन लेखों की चर्चा कक्षा में किया करते थे। एम. ए. पास करने के बाद परमेश्वरी लाल ने शोधकार्य करके बनारस विश्वविद्यालय से पी. एच. डी. की उपाधि भी प्राप्त कर ली। बनारस में उन्हें डा. आल्तेकर और डा. बासुदेव शरण जैसे इतिहास और पुरातत्व के विद्वानों का समीप्य प्राप्त हुआ। सन् 41 से 54 तक उन्होंने भारत कला भवन बनारस में सहायक क्यूरेटर के पद पर काम किया और न्यूमिस्मेटिक सोसायटी आफ इण्डिया के सक्रिय सदस्य, प्रबंध समिति के सदस्य और पत्रिका के सह सम्पादक बन गये। बाद में वह उस सोसायटी के महामंत्री, अध्यक्ष और सन् 1964 से 75 तक पत्रिका के मुख्य सम्पादक रहे। उनके गहन ज्ञान और विशिष्ट सेवाओं के लिये न्यूमिस्मेटिक

सोसायटी आफ इंडिया ने उन्हें सन् 54 में चक्र विक्रम पदक, सन् 62 में नेल्सन रायट पदक, एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता ने जदुनाथ सरकार स्वर्ण पदक प्रदान किये। न्यूमिस्मेटिक सोसायटी आफ इंडिया तथा भारतीय इतिहास कांग्रेस के गौहाटी, मैसूर, अलीगढ़, जादवपुर, और धारवाड़ सम्मेलनों की अध्यक्षता उन्होंने की। इसके अतिरिक्त उन्हें कई अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान भी प्राप्त हुए। सन् 1971 में रायल न्यूमिस्मेटिक सोसायटी लंदन ने उन्हें ल्होटका स्मृति पुरस्कार देकर सम्मानित किया। यह पुरस्कार अभी तक किसी अन्य भारतीय को नहीं दिया गया। सन् 1975 में उसी सोसायटी ने उन्हें अपना मानद सदस्य बना लिया। सन् 1986 में वह अन्तर्राष्ट्रीय न्यूमिस्मेटिक कमीशन के मानद सदस्य मनोनीत किये गये और गत वर्ष सन् 87 में उन्हें विश्व का सबसे बड़ा पुरस्कार मिला। अमरीकन न्यूमिस्मेटिक सोसायटी ने उन्हें हन्टिंग टन पदक देकर सम्मानित किया जो अभी तक भारत क्या एशिया में किसी व्यक्ति को नहीं मिला है। उन्हें यह पुरस्कार दिये जाने के अवसर पर उनके विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित 1200 लेखों और 32 पुस्तकों की एक प्रदर्शिनी न्यूयार्क में तीन महीने तक आयोजित की गई।

भारतीय कला भवन बनारस के अतिरिक्त प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम बम्बई में मुद्रा विशेषज्ञ और पटना म्यूजियम में निदेशक के पद पर रहकर उन्होंने पुरातत्व की जो सेवाएं की वह तो की हीं, उत्तर प्रदेश और भारत सरकार द्वारा मुद्राओं के परीक्षण और खरीद से संबंधित समितियों के भी वह सदस्य रहे। उन्होंने ब्रिटेन, पेरिस, जर्मनी, अमरीका आदि अनेक देशों की यात्राएं की हैं। आन्ध्र प्रदेश और अमरावती के पंच चिन्हित सिक्कों, रोमन सिक्कों और गुप्त काल के सिक्कों के अध्ययन का जो शोधपूर्ण कार्य उन्होंने किया है, वह अद्वितीय है और उनके विशेष योगदान के रूप में कभी भुलाया नहीं जा सकेगा।

सन् 1979 में पटना म्यूजियम के निदेशक पद से अवकाश ग्रहण करने के बाद सन् 1984 में उन्होंने अपने एक उद्योगपति मित्र के.के. माहेश्वरी के सहयोग से नासिक के पास अजनेरी में एक भारतीय मुद्रा अध्ययन एवं शोध संस्थान स्थापित किया है जो देश भर में अपनी तरह का एक विशिष्ट संस्थान इसलिये है कि देश-विदेश के मुद्राओं के अध्ययन में रुचि रखने वाले छात्र और विद्वान यहां आकर रहते हैं। वहां कभी-कभी इस विषय के विशिष्ट विद्वानों की गोष्ठियां भी आयोजित की जाती हैं। अजनेरी प्राकृतिक सौन्दर्य की दृष्टि से भी एक सुरम्य स्थल होने के कारण देशी और विदेशी पर्यटकों का आकर्षक केन्द्र रहता है।

परमेश्वरी लाल गुप्त ने अपने प्रारम्भिक जीवन में स्वतंत्रता संग्राम में जो योगदान किया था, उसके बदले में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उन्हें उत्तर प्रदेश विधान सभा का कांग्रेस टिकट देने के लिये कहा गया। पर उन्होंने उसे लेने से इसलिये इंकार कर दिया कि उन्होंने किसी पुरस्कार की इच्छा से देश सेवा नहीं की थी।

पुरातत्व और मुद्रा शास्त्र के क्षेत्र के अतिरिक्त पत्रकारिता, शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में भी उनकी सेवाओं को भुलाया नहीं जा सकेगा। आजमगढ़ में उन्होंने एक बालिकाओं का स्कूल खोला था। वह उनके ही प्रयत्न से हाईस्कूल, इन्टर होता हुआ अब एक डिग्री कालिज है। आजमगढ़ में 'सन्देश' साप्ताहिक निकालने के साथ-साथ वह कई हिन्दी और अंग्रेजी समाचार पत्रों के संवाददाता भी रहे थे। बाद में 'आज' दैनिक के अतिरिक्त कुछ समय तक उन्होंने 'सैनिक' आगरा में भी उप सम्पादक के पद पर काम किया। उत्तर प्रदेश जर्नलिस्ट एसोसेशियन की कार्यकारिणी के सदस्य भी वे रहे। सन् 1941 में जब उत्तर प्रदेश सरकार ने पत्रकारों की समस्याओं के अध्ययन के लिये एक समिति का गठन किया तो उन्हें भी उसका सदस्य मनोनीत किया था।

साहित्य के क्षेत्र में उनका विशेष योगदान यह रहा कि जब वह यूरोप की यात्रा पर गये थे तो मध्यकालीन सूफी सन्त कवियों की कुछ अज्ञात कृतियों के कई पृष्ठों की प्रतिलिपियां वह पेरिस, ब्रिटिश म्यूजियम आदि संग्रहालयों से लाये। भारत लौटकर पूरी कृतियां खोजकर प्राप्त की और उन्हें सम्पादित कर प्रकाशित कराया।

इतना विशिष्ट व्यक्तित्व रहते हुए भी परमेश्वरी लाल सादगी की मूर्ति हैं। भारत में मुद्रा शास्त्र का विशेषज्ञ उन जैसा कोई दूसरा नहीं है। इसलिये उन्हें सिक्कों का सरताज कहा जा सकता है।

□□

अनूप नारायण श्रीवास्तव

एक दोस्त की याद

बाबू अनूप नारायण श्रीवास्तव बरेली जनपद के एक प्रमुख बुद्धिजीवी नागरिक थे। अधिवक्ता संघ बरेली के वह अध्यक्ष रहे थे। लायन्स क्लब ने उनका नागरिक सम्मान किया था। बरेली कालिज में विधि विभाग के अध्यक्ष और एक कुशल वरिष्ठ अधिवक्ता के रूप में उनके द्वारा की गई सेवायें हमेशा याद की जायेंगी।

आयु में वह मुझसे बड़े थे पर मुझसे उन्होंने हमेशा मित्रवत व्यवहार किया और मित्र भी ऐसे कि वह दिल की हर बात मुझसे कह सकते थे और मैं उनसे। हमारी वह लगभग 45 वर्ष पुरानी मित्रता अचानक एक रात को टूट गई। आधी रात के समय जब उनके पुत्र प्रमोद ने टेलीफोन पर मुझे बताया कि वह नहीं रहे तो बिलकुल विश्वास न हो पाया। उसी शाम 8 बजे तक हम कई मित्र उनके साथ बैठे ताश खेलते रहे थे। मैं जब चलने लगा तो उन्होंने बड़े आग्रह पूर्वक कहा था, सबेरे टहलने जाओ तो इधर ही निकल आना। चाय पियेंगे। कुछ गप्पें खिचेंगी। हमें गेट तक विदा कर जाने के बाद वह गुसलखाने गये। खूब देर तक नहाये। जाड़ा हो, गर्मी या बरसात वह हमेशा शाम को ही नहाया करते थे। उनका कहना था कि सबेरे नहाना तो एकदम फालतू होता है। दिन भर के गर्द गुबार और पसीने को दूर करने के लिये हमेशा शाम को ही नहाना चाहिए। उस दिन भी वह नहा धेकर अपने बिस्तर पर आकर बैठे थे। पास की मेज पर नौकर ने पहले से ही व्हिस्की का गिलास रख दिया था। वह उसे हाथ में ले भी नहीं पाये थे कि दिल में कुछ दर्द हुआ और उनकी आंखे सदा के लिये मुंद गईं। विवाह के कुछ वर्ष बाद ही उनकी पत्नी का स्वर्गवास हो गया था। उसके बाद आजीवन विधुर ही रहे थे। इसलिये कहा करते थे-मरने से पहले किसी से सेवा न करानी पड़े। उनकी वह इच्छा पूर्ण हुई।

अपनी इतनी लंबी मित्रता के काल में सैकड़ों नहीं हजारों संध्यायें हमने साथ बिताई होंगी। घर परिवार और मित्रों से लेकर चर्चिल, स्टालिन, गांधी, नेहरू, एम.एन. राय, विवेकानन्द, आचार्य रजनीश, बच्चन, जोश, फिराक,



बर्नार्ड शॉ कौन ऐसे व्यक्ति हैं जो हमारी चर्चा का विषय न रहे हों। इतिहास, दर्शन, साहित्य, विज्ञान, विधि विज्ञान सब विषयों पर हमारी बात हुआ करती थी। एम.एन. राय की बहुत सी पुस्तकें उन्होंने मुझसे लेकर पढ़ी थीं। जीवन और जगत के प्रति उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक हो गया था। गांधीवाद के वह कभी समर्थक नहीं रहे। वह उसे आधुनिक मनुष्य को गुफा मानव की ओर ले जाने वाला समझते थे। किसी धर्म, मत या सम्प्रदाय से बंधकर चलना भी उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया। आध्यात्मिक और अलौकिक शक्तियों का दावा करने वाले धर्म गुरूओं और साधु सन्तों पर भी उनका कोई विश्वास नहीं था। अपने एक मत विशेष से जुड़े आध्यात्म की ओर उन्मुख अभिन्न मित्र से वह हंसी-हंसी में कह दिया करते थे- "हमारी तुम्हारी मित्रता ही क्या? तुम स्वर्ग में अपनी सीट पहले से सुरक्षित करा चुके हो।"

साम्प्रदायिक भेदभाव उन्हें छू भी नहीं गया था। सन् 46-47 में सारे देश की तरह हमारा जनपद भी धार्मिक और साम्प्रदायिक विद्वेष की भावनाओं से जल रहा था। उनके एक मित्र ने जो एक प्रशासनिक अधिकारी थे, एक तलाकशुदा मुस्लिम महिला से विवाह कर लिया। उस समय किसी जरा सी बात पर विद्वेष की भावना भड़क सकती थी और खून खराबा तक हो सकता था। उनके मित्र इससे डरे हुए थे। उन्हें उस समय सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकता थी। बाबू अनूप नारायण ने उनका भरपूर साथ दिया। और उनके परिवार से आत्मीयता के संबंध जीवन भर निभाते रहे।

बहुत कम लोग जानते हैं कि अजीब फक्कड़पन और मस्ती उनके स्वभाव में थी। वह बड़ी सैलानी पृवत्ति के थे। अक्सर कहा करते थे रोज रोज वही सड़कें, वही दीवारें, वही दुकानें और वही इमारतें देखते-देखते जी ऊब जाता है। एक बार मैं और वह दशहरे की छुट्टियां आने से पहले कहीं बाहर घूमने जाने का कार्यक्रम बनाते रहे पर कुछ बन नहीं पाया। छुट्टियां आ गई तो मैं एक दिन बिस्तर बांध आगरा जाने के लिये तैयार होकर स्टेशन पहुंच गया। वहां से मैंने उन्हें फोन किया। बोले- 'ठहरो' मैं भी आता हूं। बस जरा बिस्तर संभाल लूं। संयोग से जब वह आये तो गाड़ी छूटने ही वाली थी। जब तक टिकट लेकर प्लेटफार्म पहुंचे गाड़ी रेंगने लगी थी। वह रुक गये। बोले- क्या हकीम जी ने बताया है कि आगरा ही चलो? मैंने कहा- तो अब कहां चला जाये। बोले- लखनऊ, दिल्ली, देहरादून जिधर की गाड़ी सबसे पहले आने वाली हो उसी पर बैठकर चल देंगे। देहरादून की ओर से आने वाली गाड़ी सबसे पहले आई और हम लोग अगले दिन हरिद्वार पहुंच कर वहां से ऋषिकेश महेन्द्रनगर और देहरादून घूम आये।

वकालत के व्यवसाय में वकीलों के पारस्परिक व्यवहार में उन्होंने हमेशा अच्छे से अच्छे आदर्श स्थापित करने की चेष्टा की। एक बार हम अपने किसी वकील मित्र को स्टेशन तक छोड़ने गये थे। वह कहने लगे वकील कोई अफसर तो होता नहीं कि उसे मातहत अफसर छोड़ने आये। जब ऐसे वकील कहीं जायें तो वकीलों को ही उसे स्टेशन तक छोड़ने आना चाहिये। इससे वकालत के व्यवसाय की शान बढ़ती है।

अपने पेशे की गरिमा से उन्हें बेहद प्यार था। कभी-कभी तो ऐसा भी हुआ कि जूनियर वकील ने उनके हिस्से की फीस भी लेकर रख ली और खर्च कर ली। बाद में उन्हें पता चला तो उन्होंने हंस कर कह दिया- "उसकी भी तो जरूरतें होंगी। वह भी पूरी होनी चाहिये।"

वह अपनी बात के बहुत पक्के थे। जो किसी से कह दिया उसे पूरा अवश्य करते। एक बार मुवक्किल से फीस लेकर किसी काम से लखनऊ सचिवालय गये थे, एक जूनियर वकील भी साथ थे। मुवक्किल को बाहर छोड़कर कमरे में गये तो ज्ञात हुआ कि आदेश तो पक्ष में पहले ही पारित हो चुका है। उन्होंने बाहर निकल वही बात मुवक्किल को बता दी। जूनियर ने बाद में उनसे कहा- "आपने तो गजब कर दिया। इस आदेश के लिये तो वह अभी दो हजार रुपये दे देता।" वह जूनियर का मुख ही देखते रह गये थे।

उनके आजीवन विधुर रहने के पीछे एक कहानी थी। मृत्यु शैया पर पड़ी अपनी पत्नी को उन्होंने वचन दिया था कि तुम्हारे पुत्र को कोई कष्ट न होने देंगे। यह मुझे तब ज्ञात हुआ जब एक बार मैं उनके साथ हरिद्वार गया था। मायापुर बंगला में हम ठहरे हुये थे। एक दिन सवेरे बोले- चलो, श्मशान भूमि तक घूम आयें। मैं समझ गया था कि पत्नी का दाह संस्कार वहां हुआ था उसे देखने की इच्छा है। एक तांगे पर बैठकर हम गये थे। रास्तें में उन्होंने हार फूल खरीदे। शमशाम भूमि पहुंचकर घुटनों तक गंगाजल में जाकर खड़े हो गये और हार फूल लहरों को समर्पित कर दिये। और अपनी कमीज की जेब से एक पर्चा निकाल कर उसे भी जल में बहा दिया। मैं तट पर खड़ा यह सब देख रहा था। जब वह बाहर आये तो मैंने पूछा- 'वह पर्चा क्या था' तो बोले मैंने प्रमोद की मां के नाम एक चिट्ठी लिखी थी। मैंने पूछा - क्या लिखा था उसमें।' बोले- मैंने लिखा था प्रमोद अब बड़ा होकर अपने पैरों पर खड़ा हो गया है। तुमने यह जिम्मेदारी मुझे सौंपी थी। मैंने उसे पूरा किया। अब मैं उससे मुक्त होता हूं। मुझे उनकी इस भावुकता पर हंसी आ गयी। तभी वह कहने लगे- 'मैं क्या नहीं जानता हूं कि पर्चा उन तक नहीं पहुंच सकता। पर ऐसा करने से दिल को कुछ तसल्ली तो हुई।'

□□

दक्षिण भारत की यात्रा

देश के तमाम हिस्सों में घूम फिर आने के बाद मन में कहीं दबी हुयी इच्छा थी कि दक्षिण भारत में भी कहीं कुछ घूमने फिरने को मिले। पर यह संभव नहीं हो सकता था क्योंकि वहां की भाषा हिन्दी नहीं थी और न वहां कवि सम्मेलन होते थे। वर्धा की राष्ट्र भाषा प्रचार सभा और मद्रास की हिन्दी प्रचार सभा के विषय में सुनता था। राष्ट्र भाषा प्रचार सभा के प्राण काका कालेलकर से एक बार मुरादाबाद में भेंट भी हुयी थी जब वह गोकुल दास गर्ल्स कालिज में आयोजित एक समारोह में आये थे। उस अवसर पर नागरी प्रचार सभा और गुजराती समाज ने मिलकर साहित्यकारों का एक जुलूस भी निकाला था जिसमें चलते हुये काका कालेलकर के साथ हम सभी आमन्त्रित कवि नगर की सड़कों और गलियों में घूमे थे। पर मैं गांधीवाद विचारधारा से जुड़ा हुआ नहीं था। इसलिए वर्धा या मद्रास में आमंत्रित होकर जाने की आशा भी नहीं कर सकता था। काका कलेलकर ने व्यक्तिगत रूप से वर्धा आने के लिए मुझसे कहा था। पर मेरा रूझान उधर नहीं हुआ।

सन् 50 या 51 में मेरे पास आंध्र प्रदेश में कोब्बूर से एक धर्म विज्ञान समन्वय सम्मेलन में भाग लेने के लिए बुलावा आया। वहां की एक संस्था द्वारा एक पाक्षिक या मासिक पत्रिका अंग्रेजी और तेलगू भाषा से निकलती थी जो मेरे पास आती थी। उसमें सम्मेलन में भाग लेने वालों की जो सूची छपी थी उसमें मेरा भी नाम छपा था और उसके आगे लिखा था - 'उत्तर प्रदेश से एक विचारक।' मैं समझता था कि धार्मिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण एक नहीं हो सकते क्योंकि धर्म, आस्था, विश्वास और विज्ञान विवेक तर्क से संबंधित हैं। पर मनुष्य की वुद्धि ही तो है। दोनों में समन्वय का प्रयास करने में हानि ही क्या है।

कोब्बुर की उस संस्था के प्राण थे एक राम कृष्ण शर्मा। उन्होंने मुझे आने के लिए रास्ते के बारे में लिख दिया था। विजय वाड़ा पर जब मेरी आंख खुली तो स्टेशन के आस-पास की छोटी-छोटी पहाड़ियों का दृश्य बड़ा आकर्षक लगा था। वह नैनीताल या मंसूरी जाते हुए दिखायी देने वाले ऊंचे-ऊचे पहाड़ों से

भिन्न भी। ट्रेन से उतर कर मैं दूसरी गाड़ी में सवार हो गया और दोपहर तक कोब्वुर पहुंच गया। छोटा सा स्टेशन था। वहां से देखने पर ही कोब्वुर एक छोटा सा कस्बा लगता था। थोड़े से यात्री स्टेशन पर उतरे थे। इसलिये जो एक सज्जन लेने आये थे उन्हें हरा गाऊन पहने मुझे पहचानने में कोई कठिनाई नहीं हुयी। तांगे पर हम शर्मा जी के घर पहुंच गये। छोटा सा छप्परों से छाया लिपा पुता साफ सुधरा घर था। आस-पास ताड़ के वृक्ष लगे थे। एक कमरे में जमीन पर मेरा बिस्तरबंद और अटैची रखवा दिये गये थे। वयोवृद्ध खद्दरधारी शर्मा जी ने आकर पूछा कि यात्रा में कोई कष्ट तो नहीं हुआ? और मुझसे नहा धोकर खाना खाने के लिये कहा। जो सज्जन मुझे स्टेशन लेने गये थे उन्होंने बताया- 'थोड़ी ही दूर पर गोदावरी है। चाहें तो उसमें स्नान कर लें। मुझे कोई पुण्य नहीं कमाना था पर उनके यहां का रिवाज और धार्मिक भावना को समझ कर मैं उनके साथ गोदावरी स्नान करने चला गया। रास्ते में इधर-उधर छप्परों या छोटे लाल खपटों से छाये लिपे पुते साफ सुधरे घर देखे। गरीबों के घर बड़े-बड़े ताड़पत्रों को छाकर ही बने हुए थे। हर घर के आगे लिपे हुए आंगन में चित्र विचित्र बेल बूटे सफेद आटे को फैलाकर बने हुए थे। उस सज्जन ने बताया यह 'अल्पना' है। घर की स्त्रियां सबेरे ही सफाई कर लीप पोत कर अल्पना रच देना अपना दैनिक कर्तव्य समझती हैं। बस्ती के बाहर सामने बहती हुई गोदावरी दिखाकर वह सज्जन वापस चले गये थे। मैंने कपड़े किनारे पर पड़े एक पत्थर पर रखकर गोदावरी में स्नान किया था। थोड़ी दूर पर रेल का पुल दिखाई देता था। राजा मुन्द्री एक प्राचीन ऐतिहासिक नगर है। प्राचीन काल से संस्कृत के बड़े विद्वान ज्योतिषी वहां रहते चले आये हैं। नहा धोकर मैं शर्मा जी के घर वापस आ गया। उनके एक मात्र पुत्र गुन्टूर में वकालत करते थे। वह भी तब तक आ गये थे। वकील होने के नाते उनसे अपनापन लगा था। शर्मा जी ने मुझसे कहा कि दिल्ली होता हुआ बरेली जाऊँ, और अपनी संस्था का कुछ प्रचार साहित्य जिसमें कुछ पुस्तकें भी हैं उन्हें दे दूं। कोब्वुर में एक ओरिएन्टल कालिज भी है जिसमें बच्चों को संस्कृत और हिन्दी भी पढ़ाई जाती है। उसके प्रिंसिपल के.वी. एन. अप्पा राव तो मुझसे ही मिलने शर्मा जी के घर आये थे। वह जानते थे कि मैं एक कवि भी हूं और मुझे अपने कालिज में ले जाना चाहते थे। दोपहर का भोजन मुझे थोड़ी दूर पर एक मंदिर के भोजनालय में करना था। पक्के फर्श के पट्टे पर बैठाकर एक बड़ा सा पत्ता मेरे आगे रख दिया गया। उस पर ढेर सारे चावलों पर दो चमचे दाल लौट दी गयी और थोड़ी सी चटनी। मैंने ऐसा भोजन इससे पहले कभी नहीं किया था। छात्र जीवन में एक टूर पर बिहार में किसी स्टेशन पर खाना मांगा तो चावलों से भरी एक प्लेट सामने लाकर रख दी गयी थी। उस पर ऊपर से तेल लगा हुआ था। साथ

ही एक कटोरी में दाल थी। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के रोटी खाने वाले हम छात्र वह प्लेटें वैसी ही छोड़कर उठ आये थे। कोब्वुर में पेट भरने के लिए कम दाल के साथ चावल खा लिये। उसके बाद मुझे ओरिएन्टल कालिज पहुंचना था। वहां गया तो बहुत से बच्चे बैठे प्रतीक्षा कर रहे थे। अप्पा राव ने मेरा परिचय उनसे कराया। मैंने लगभग एक घंटे बच्चों को वहां कवितायें सुनाई। बाद में कॉफी पी। अप्पा राव के निमन्त्रण पर अगले दिन सवेरे मैं उनके घर गया था। उनकी पत्नी ने बड़े प्रेम से नाश्ता कराया। उसके बाद वर्षों तक अप्पा राव से मेरी पत्र मित्रता चलती रही। हिन्दी में पत्र लिखने का उन्हें शौक था। वह अपनी या दूसरों की तेलगु कविताओं के हिन्दी रूपान्तर भी पत्रों में लिख कर मेरे पास भेजते थे। कई वर्ष बाद जब मैंने बाल गीत साहित्य पुस्तक में 'तेलगु बाल गीत साहित्य' के इतिहास का अध्याय लिखा तो अप्पाराव ने मेरी बड़ी सहायता की। प्रिंसिपल पद से अवकाश प्राप्त करने के बाद उन्होंने एक प्रेस अपने घर पर ही लगा लिया था और अपनी कविताओं की कुछ पुस्तकें भी छापी थीं।

कोब्वुर जब गया था तो मन में इच्छा हुई कि मद्रास भी हो आऊँ। एक पैसेंजर या एक्सप्रेस ट्रेन उन दिनों विजयवाड़ा से कोब्वुर होती हुई मद्रास जाती थी। पर जिस जंगल में कोई परिचित न हो वहां निरुद्देश्य घूमने से क्या लाभ? उसके दो दशाब्दि बाद मैसूर में आयोजित होने वाले बाल साहित्य सम्मेलन का निमन्त्रण मिला। मद्रास रास्ते में पड़ता था। यह सम्मेलन भी अखिल भारतीय भाषा संस्थान के सहयोग से कलकत्ता की आल इंडिया जुवेनाइल लिटरेरी क्रांन्फ्रेस ने आयोजित किया था। दक्षिण में खाना उत्तर भारत जैसा नहीं मिलता है इसलिये सरन ने नमकीन मठरी बनाकर दो बड़ी थैलियों में रखकर साथ बांध दी थीं और एक नारंगी या नींबू के अचार का डिब्बा साथ रख दिया था। नागपुर पहुंचकर अपनी ऊपर की बर्थ से नीचे उतर कर प्लेटफार्म पर इधर उधर झांका। नीचे भी उतर कर गया। वहां के एक अपने समय के प्रसिद्ध लेखक अशोक एम.ए. को मिलने के लिए लिख दिया था। सन् 46-47 में वह 'इंद्र धनुष' नाम से एक पत्रिका निकालते थे। उसमें रचनायें भेजने के लिये लिखते-लिखते वह कुछ अपनापन मानने लगे थे। एक बार मुझसे मिलने बरेली भी आये थे। चार पांच दिन ठहरे थे। एक बड़े बोरे में भरकर नागपुर के सन्तरे लाये थे। मुझे अपने साथ ले जाकर एक फोटो भी खिंचवाया था। उसमें शायद नीरव जी भी हैं क्योंकि वह उस समय हम लोगों के साथ थे। अशोक ने अपने को डा. राम कुमार वर्मा का भतीजा बताया था। उनका पूरा नाम है सुन्दर लाल वर्मा। मुझे बड़ा भाई कहने लगे थे। मुझसे कहने लगे बच्चों के लिए मेरी पुस्तकें तो कई छपी हैं। कोई अच्छा प्रकाशक हो तो बताइए। मैंने होशियारपुर में 'विश्व ज्योति' मासिक निकालने वाले प्रकाशन संस्थान का पता बता दिया था। वहां से

उनकी एक पुस्तक 'तितली' छपी भी थी। मुझे पूरी आशा थी कि उनसे नागपुर स्टेशन पर भेंट होगी। पर वह आ नहीं सके। मैं जब ट्रेन में आया और वह चलने लगी तो नीचे की एक बर्थ पर बैठे दो सरदार जी खा पी रहे थे। उन्होंने मुझे पास बैठा लिया। और बातें करने लगे। बोले -'हमारा एक ट्रक सड़क-सड़क आगरा से मद्रास जा रहा है। हम हमेशा तो ट्रक से ही सफर करते थे। इस बार सोचा ट्रेन से चलें। आप मैसूर से लौटकर मद्रास में हमारे पास ठहरें। गुरूद्वारे में बहुत अच्छा प्रबन्ध है। वहां से ट्रक में साथ-साथ लौटेंगे।' मैंने कहा- 'ट्रक में तो बहुत परेशानी होगी इतने लंबे सफर में।' तो कहने लगे- आपका बिस्तर बिछ्वा देंगे। आराम से लेंटे हुए आयें। दोपहर को मद्रास पहुंचकर रात में नौ दस बजे वहां मैसूर के लिए ट्रेन मिलती थी। सोचा था यह इतना समय दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा में बिताऊंगा। किसी नाम से परिचित मंत्री को एक पत्र भी लिख दिया था। मद्रास स्टेशन से दो बार टेलीफोन किया पर किसी से बात नहीं हो पाई। तब फिर समस्या थी कि समय कैसे बिताया जाये। किसी से कुछ पूछ कर समुद्र तट पर घूम आने का निश्चय किया। सामान रेलवे वालों के सुपुर्द कर अकेला चल पड़ा अपरचित सड़क पर। एक बस में बैठकर तट के पास तक पहुंच गया। उसने सामान्तर चलने वाली सड़क मद्रास की सबसे सुन्दर और चौड़ी सड़क है। उसी सड़क पर हाई कोर्ट और शायद विश्व विद्यालय भी स्थित है। सड़क पार कर सामने अन्नादुरै स्मारक है। हरियाली और फूलों के बीच अन्नादुरै की एक मूर्ति और काले पत्थर का एक चबूतरा बना है जिस पर चौबीस घंटे लपटें निकलती रहती हैं। अन्नादुरै आधुनिक तमिलनाडु के निर्माता और शेष भारत में महात्मा गांधी की तरह तमिलनाडु में पूजनीय नेता थे। उपवन में पुस्तक के खुले हुये पृष्ठों की तरह पत्थरों पर उनके वाक्य खुदे हुये थे। एक पत्थर पर देखा तो सोचने के लिए बहुत मिल गया। लिखा था- 'हमारा संविधान सत्ता के विकेन्द्रीयकरण के सिद्धान्त पर आधारित है पर हम दिन प्रति दिन अधिकाधिक केन्द्रीकृत होते जा रहे हैं।'

समाधि स्थल को देखकर दूर तक फैले बालू पर चलता हुआ मैं समुद्र तट पर पहुंच गया था। जगह-जगह शंख, सीपियां, कौड़ियों, घोंघों और अनेकानेक समुद्री जीवों के सुन्दर चमकते हुए कंकालों के ढेर लगे थे। पूरा ढेर दो तीन रुपये में देने को बेचने वाले बच्चे तैयार हो जाते थे। एक ढेर लेने की बहुत इच्छा हुई पर ले लेता तो यात्रा में यह अतिरिक्त भार कैसे संभलता। बालू पर शाम के समय एक मेला सा लग जाता है। तरह-तरह के खेल खिलौने और खाने की वस्तुएं बेचने वाले घूमते दिखाई देते हैं। सैकड़ों परिवार या मुझ जैसे अकेले लोग वहां आनन्द लेने आ जाते हैं। समुद्र के निकट पहुंच कर मैंने देखा

कितने ही स्त्रियां पुरुष और बच्चे अस्ताचल गामी सूर्य की चमचमाती धूप में सुनहरी या रुपहली लहरों से खेल रहे थे। उसमें से बहुत से कुशल लोग जब कोई जोर से धक्का देने वाली लहर तेजी से तट की ओर आती तो खड़े-खड़े दोनों पावों से उछलकर लहर को चला जाने देते थे। और अकुशल और गिरने में ही आनन्द लेने वाले धड़ाम से गिर जाते थे। समुद्र से दूर पर कभी-कभी कुछ नौकायें जाती हुई दिखाई दे जाती थीं। किसी ने बताया यह मछुआरे कई-कई महीने अपने जाल लिए सागर में ही रहकर मछलियां पकड़ते हैं।

मद्रास से चलकर सबेरे तड़के जब मैसूर स्टेशन पहुंचा तो कानपुर के राष्ट्र बंधु और मयंक जी मेरी ओर आते दिखाई दिये। बड़ी प्रसन्नता हुई थी उस अपरिचित स्थान में उन पुराने मित्रों से मिलकर।

संस्थान के कावेरी होस्टल में सबके ठहरने का प्रबंध था। मुझे जिस कमरे में ठहराया गया उसमें श्रीनगर (कशमीर) से आये अशोक जेरथ और प्रीत नगर पंजाब से निकलने वाली एक पंजाबी पत्रिका के सम्पादक पहले से ठहरे हुये थे। होस्टल में उत्पल दा, रवि चटर्जी, दिलीप कुमार बाग आदि सब बंगाली मित्रों से भेंट हुई ही थी संस्थान के निदेशक डा. डी.पी. पटनायक भी हमसे मिलने आये थे। एक बहुत बड़ी बच्चों की प्रदर्शनी भी एक और इमारत में सजाई गई थी। उसमें हिन्दी की बहुत थोड़ी पुस्तकें थीं क्योंकि प्रकाशकों ने भेजी ही नहीं थीं। नाश्ता चाय या खाने के लिए कुछ दूर चलकर संस्थान की कैन्टीन में जाना पड़ता था। उसमें दो तीन सौ व्यक्तियों का एक साथ खाने का प्रबंध था। नाश्ता के समय सबके इक्कठे होने पर ज्ञात हुआ कि आये हुये साहित्यकार संख्या में भुवनेश्वर सम्मेलन से अधिक थे। उनमें बहुत से मेरे पूर्व परिचित थे। एक त्रिमूर्ति के अंग, मद्रास से आये स्वामीनाथन, अल विलयप्पा और नागमुथैया भी थे जिन्हें भुवनेश्वर में भी हमेशा साथ-साथ देखा था। हम एक दूसरे को देखकर मुस्कराये थे क्योंकि इस बार मैं अकेला नहीं मेरे साथ राष्ट्र बंधु और मयंक भी थे।

सम्मेलन संस्थान के एक बड़े हाल में हुआ था। उसमें मैंने लिखित भाषण के रूप में एक प्रपत्र पड़ा था जिसमें भारतीय भाषाओं में बाल साहित्य के इतिहास की रूप रेखा दी गई थी। मेरा वह लेख केन्द्रीय भाषा संस्थान द्वारा एक पुस्तक 'ट्रेंडस इन जुवेनाइल लिटरेचर' में प्रथम स्थान देकर प्रकाशित किया गया है और एक दूसरी पुस्तक 'हू इज हू इन चिल्ड्रेस लिटरेचर' में भूमिका के रूप में छपा है।

धर्म विज्ञान समन्वय सम्मेलन में 40-50 प्रतिनिधि मंडल आंध्र प्रदेश से और दो तीन महाराष्ट्र से आये हुये थे। अंग्रेजी में भाषण हुये। मैंने भी अपने

कुछ विचार रखे थे। सम्मेलन का काम देश के दूसरे प्रांतों में फैलाने के विषय में भी कुछ निर्णय लिये गये थे। उत्तर भारत में प्रचार और शाखाएं खोलने का काम यशपाल जैन को शायद पहले से ही सौंप रखा गया था। अगले दिन सबेरे जब चार बजे उठकर मैं चलने को तैयार हुआ तो शर्मा जी अपने कमरे में बैठे पूजा पाठ कर रहे थे। किवाड़े बंद थीं। मैं पूजा में बाधा नहीं डालना चाहता था पर उन्होंने यशपाल जैन के लिए कुछ पुस्तकें आदि देने को कहा था और उनकी अनुमति के बिना चले जाना भी ठीक नहीं था इसलिए मैं एक दरबाजे की किबाड़ खोलकर भीतर चला गया। शर्मा जी ने जमीन पर ही बैठने का संकेत किया। पूजा तो मैं उनकी कुछ समझ नहीं पाया। 10–15 मिनट बाद वह होश में आये और एक फलों वाली पेटी में भरी किताबें मेरे साथ कर दीं। आगरा रुकने के बजाय दिल्ली पहुंच कर मैं यार्क होटल में अपने बचपन के मित्र बजरंग के पास ठहरा। वह और उनकी पत्नी विभा जी कितने खुश हो गये थे। बजरंग अंग्रेजी के पत्रकार थे और विभा जी हिन्दी की। वह सारा दिन उन्होंने खाने पीने और बातों में बिता दिया। पुस्तकों की पेटी मुझे यशपाल जैन के पास पहुंचाने भी नहीं जाने दिया। बोले-'तुम छोड़ जाना हम पहुंचा देंगे।' शाम को मैं दिल्ली से बरेली चला आया। धर्म विज्ञान समन्वय सम्मेलन के प्राण शर्मा जी वृद्ध स्वतंत्रता सेनानी थे। वह जब तक जीवित रहे उसे अपने खर्चे से चलाते रहे। उनके पत्र मेरे पास आते जाते थे। उनके देहान्त के बाद न समन्वय रहा और न सम्मेलन।

उड़ीसा भारत के दक्षिण में है और पूरब में भी। वहां भुवनेश्वर में एक बाल साहित्यकार सम्मेलन था। आल इंडिया जुवेनाइल लिटरेरी कांफ्रेस कलकत्ता के महामंत्री उत्पल होम राय ने मुझे साग्रह आमंत्रित किया था। रास्ता कलकत्ता होकर जाने का था। मैंने टिकट सीधा भुवनेश्वर तक का लिया था। कलकत्ता में आंवला के रहने वाले एक मुस्लिम व्यवसायी के पास बरेली में उनकी एक सम्पत्ति पर चल रहे विवाद के संबंध में गया था। फिर तीन घंटे अपने लेखक मित्रों सेठ बल्लभ दास बिन्नानी और शंभु प्रसाद श्रीवास्तव को खोजता फिरा। किसी ने बता दिया था बिन्नानी मिल हुगली पार हावड़ा में हैं। बिन्नानी जी पुराने बाल साहित्य लेखक हैं- मिर्जापुर में रहने वाले और शंभु प्रसाद श्रीवास्तव एक पत्रिका 'शेर बच्चा' के संपादक थे जो बहुत अच्छी निकलती थी। मेरी कुछ कविताएं भी उसमें छपी थीं। संयोग से उस दिन दोनों में से कोई भी नहीं मिला तो मैं हावड़ा स्टेशन लौट आया था लगभग पांच बजे शाम। गाड़ी कलकत्ता से रात को नौ बजे भुवनेश्वर जाती थी। सोचा दक्षिण रेलवे के कार्यालय में चलकर आरक्षण करा लूं। घुसते ही एक आदमी ने मुझसे पूछा और कुली से उतरवा कर मेरा सामान भी कार्यालय में ही रखवा देने को कहा। मैंने सोचा कितना

शिष्ट व्यवहार है इन दक्षिण रेलवे वालों का। सामान रख जाने के बाद उस रेल का बाबू लगने वाले आदमी ने मुझसे टिकट और आरक्षण के रुपये देने को कहा। देखा मेरे पास पांच रुपये का ही नोट था। उसमें आरक्षण तो हो जाता पर सोचा सौ रुपये का नोट तुड़ा लूं। मैंने बरेली से भुवेनश्वर तक का टिकट और सौ रुपये का नोट उस रेलवे मैन को दिया। वह उन्हें लेकर थोड़ा घूमकर काउंटर पर जा खड़ा हुआ और एक दो किताबें उठाकर देखने के बाद टिकट और नोट हाथ में लिये हुए बराबर के कमरे में चला गया। मैं यह समझा आरक्षण की किताब लेने गया होगा। वह फिर उस कमरे से लौटकर ही नहीं आया। पांच और फिर दस मिनट बीत गये। तो मैंने काउंटर की ओर भीतर जाकर उसी कमरे में पीछे की ओर बैठे दो क्लर्कों से कहा। वह सुनते ही चौक कर बोले -'कौन था? किधर गया? आप दूसरे कमरे में जाकर देखें। मैंने देखा तो उस कमरे में वह आदमी नहीं दिखाई दिया। उसका एक दरबाजा प्लेटफार्म पर और एक पीछे बाहर की ओर खुला था। मैंने फिर आकर उन क्लर्कों से पूछा तो उन्होंने रुखा सा उत्तर दिया -'हम क्या जाने वह कौन था?' मैंने लाचार होकर कलकत्ता से भुवनेश्वर तक का दूसरा टिकट खरीदा और फिर वहीं आकर आरक्षण कराया। लगभग ढेड़ सौ रूपये की वह चोट उस दिन बहुत खली। भुवनेश्वर सवेरे पांच बजे पहुंचा। प्लेटफार्म पर ही कलकत्ता से आये दो एक बंगाली लेखक भी मिल गये। ठहरने का प्रबंध केन्द्रीय यात्रा संस्थान के एक होस्टल में था। वहीं आल इंडिया जुवेनाइल लिटरेरी कांफ्रेस के नव निर्वाचित मंत्री रवि चटर्जी और उत्पल होम राय से भेंट हुयी। होम राय पुरीलिया जिले में एक उच्च सरकारी अधिकारी थे और चटर्जी मुझे एक युवा छात्र जैसे ही लगे थे। उन्होंने मुझे प्रारम्भ में ही प्रभावित नहीं किया। वह मुझे दादा कहने लगे थे। पर बाद में ज्ञात हुआ कि निर्धन होते हुये भी उनके जैसे निष्ठा और चरित्रवान लोग बहुत कम होते हैं। उस सम्मेलन में तमिलनाडु , कर्नाटक, महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश, कश्मीर, पंजाब, बंगाल आदि अनेक प्रदेशों के लेखक आये थे। भाषा संस्थान के भव्य भवन में आयोजित वह तीन दिन का सम्मेलन सचमुच बड़ा भव्य था। एक सत्र की अध्यक्षता मुझसे भी कराई थी। अपनी-अपनी भाषा में रचे जा रहे बाल साहित्य के गौरव से मंडित बाल साहित्यकारों का वह भारत में पहला विशाल और देश की सभी भाषाओं का प्रतिनिधित्व करने वाला सम्मेलन ऐतिहासिक कहा जा सकता है। अंतिम दिन सबके मनोरंजन के लिए बाल फिल्में भी दिखाई गयी थीं जिनमें टैगोर की 'काबुली वाला' और एक और फिल्म की याद है। उस सम्मेलन के आयोजन का बहुत कुछ श्रेय अखिल भारतीय भाषा संस्थान के निदेशक डा. डी.पी. पटनायक को दिया जा सकता है। उड़ीसा के शिक्षा निदेशक श्री दास और उनकी पत्नी की निरन्तर उपस्थिति उनकी बाल

साहित्य में विशेष रुचि की परिचायक थीं। आल इंडिया जुवेनाइल लिटरेरी कांफ्रेस के अध्यक्ष उड़िया के सुप्रसिद्ध बाल कथाकार दुर्गाप्रसाद पटनायक से मेरा प्रथम परिचय तभी हुआ था। वह बनारस विश्वविद्यालय में कला विभाग के अध्यक्ष थे। एक कुशल चित्रकार भी वह हैं। एक बार कहीं से लौटते हुए बरेली आकर मेरे पास ठहरे भी थे। उड़िया के एक और महान साहित्यकार विनोद कानून गो से भेंट हुयी थी। वह महानदी के किनारे स्थित कटक से सबसे मिलने आये थे। तहमद पहने और एक चादर ऊपर के नंगे बदन पर डाले सादगी के प्रतीक थे वह। 38 खंडों में एक बाल विश्व कोष उन्होंने तैयार किया है। उसके दो प्रकाशित खंड उन्होंने मुझे दिखाये थे। मेरे वह कुछ अधिक निकट आ गये थे। मुझसे बोले- 'यहां से कटक चलकर एक सप्ताह मेरे पास रहो। मैं तुम्हें अक्षर बोध कराकर उड़िया सिखा दूंगा।' भुवनेश्वर से लौटते समय जब गाड़ी कटक आई और महानदी के पुल से गुजरी तो उनकी याद आयी थी। महानदी क्या एक सागर है वह। एक तट से जल प्रवाह के उस पार देखो तो दूसरा तट दिखाई नहीं देता है। बंगाली के सुप्रसिद्ध बाल नाटककार समर चटर्जी से भी भेंट हुयी थी। उन्होंने बताया था कि बच्चों का एक दल लेकर वह अमरीका जाने वाले थे। वह सब खटाई में पड़ गया था। अपने चिल्ड्रेंस लिटिल थ्येटर में वह नाटक कैसे तैयार कराते हैं यह भी उन्होंने बताया था। कलकत्ता के कुछ बच्चे हर शाम के समय उनके पास इकट्ठे हो जाते हैं। उन्हें वह एक कहानी सुनाते हैं। उसे ध्यान से सुनने के बाद बच्चे स्वयं निश्चित कर लेते हैं कि किस पात्र का अभिनय कौन बच्चा करेगा। वह उसके बाद तुरन्त बच्चों से अपनी भाषा में संवाद बोलने को कह देते हैं। और दो चार बार के रिहर्सल के बाद उन्हें अभिनय करने के लिए मंच पर उतार देते हैं। एक बाल साहित्यकार मन्मथ राय को भी वहां देखा था। कद कामद और आकृति में वह दूसरे एम.एन. राय मुझे मालूम हुए थे। विजयवाड़ा में 'जागृति' साप्ताहिक के संपादक टी. नारायण भी मेरे कुछ निकट आये थे। उनसे बाद में कुछ दिनों पत्राचार भी होता रहा था। तेलगु के ही एक और कवि संबा सिवा राव ने बताया था कि उन्होंने मेरी पंच तंत्री, दूध जलेबी, धूप छाया आदि कुछ पुस्तकें पढ़ी हैं और कुछ कविताओं का अनुवाद तेलगु में करना चाहते हैं।

मैं जिस कमरे में ठहरा था उसमें मेरे साथ एक पंजाबी लेखक ठहरे थे। वह चंडीगढ़ के उप शिक्षा निदेशक थे। एक दिन हमने योजना बनाई क्यों न चलकर जगन्नाथ पुरी भी देख आयें। सुबह चलकर शाम तक लौट सकते हैं। उत्पल दा से अनुमति लेकर हम सवेरे पांच बजे रेल में सवार होकर पुरी की ओर चल दिये थे। धूप निकल आने पर एक छोटे से स्टेशन पर हम चाय पीने के लिये उतरे तो चाय वाय कुछ वहां नहीं थी। नारियलों का एक बड़ा सा ढेर

लगा हुआ था। बेचने वाला उनमें से एक एक उठा सिर काट काट कर हर एक को देता जाता था। कौतुहल वश हमने भी दो नारियल लिये। पहले उनका पानी पिया। फिर भीतर की सफेद गिरी खुरच खुरचकर खा गये थे। मैंने जब कलकत्ता के बोटेनिकल गार्डन में पहली बार नारियल का पानी पिया तो अपनी अलग अपरिचित गंध के कारण मुझसे पिया नहीं गया था। पर इस बार उसे पीकर एक अजब सी स्फूर्ति शरीर में आई मालूम हुयी थी। जगन्नाथ पुरी नगर तो छोटा सा है पर मंदिर बड़ा विशाल है। राम लक्ष्मण और सीता की तरह कृष्ण बलदाऊ और सुभद्रा की मूर्तियां उसमें स्थापित हैं। बहुसंख्य सीढ़ियों पर चढ़ उतर कर मध्य में स्थित मंदिर तक जाना होता है। दर्शन कराने के लिए हमें पंडों ने बहुत घेरा था। पांच रुपये से एक दो रुपये तक मोल भाव करके। पर हम तो स्वयं जा दर्शन कर प्राचीन स्थापत्य कला को चकित हो होकर देख आये थे। रथयात्रा के दिन तीनों की अलग अलग सवारी जिन ऊँचे-ऊँचे पहिए लगे रथों में निकाली जाती है वह भी हमने देखे थे। उनमें साल भर काष्ठ कला का काम होता ही रहता है। सीढ़ियों पर खड़े होकर सामने मैदान सी खुली सड़क को देखकर हमने कल्पना की थी कि रथयात्रा के दिन तो इस पर भीड़ के मारे तिल रखने को जगह न मिलती होगी। मंदिर के आस पास दूर तक पंक्तिबद्ध भिखारी बैठे थे जिन्हें मंदिर से कढ़ी भात प्रसाद के रूप में प्रतिदिन मिलता है। राजस्थान में नाथद्वारा के मंदिर की तरह प्रसाद के रूप में लड्डू, कचौरी, खीर, अचार, मुरव्वा, चटनी बाजार में बिकता नहीं। मंदिर से थोड़ी ही दूर पर समुद्र तट है। उसकी अपार व्यापकता देखकर हम हैरान हो गये थे। बंबई में जुहू के समुद्र तट से भी समुद्र की ऐसी व्यापकता दिखाई नहीं देती है। तट पर तरह-तरह की मछलियों से भरी टोकरियों रखी थीं। व्यापारी लोग जाने कहां कहां वह ले जाते हैं। हमें उसी दिन भुवनेश्वर लौट जाने की जल्दी थी। इसलिये एक होटल में चाय नाश्ता करके हम स्टेशन चले आये थे और रात होते होते लौट आये थे।

भुवनेश्वर चंड़ीगढ़ की तरह पूर्व नियोजित ढंग से बसाया हुआ नगर है। बिस्तार में दूर-दूर तक फैला हुआ। दूर पर देहरादून से मसूरी की तरह कुछ ऊँची पहाड़ियां दिखाई देती हैं जिन पर ग्रीष्मावकाश बिताने के लिए लोग जाते हैं।

एक दिन सम्मेलन में आये सब लेखकों को बस में ले जाकर कोणार्क दिखा लाने का प्रबंध भी किया गया था। कोणार्क भुवनेश्वर से 50-60 मील दूर समुद्र तट पर बने एक प्राचीन सूर्य मंदिर के अवशेष हैं। उड़ीसा के किसी राजा ने दशवीं या ग्यारवीं शताब्दी में उसे बनवाया था। समुद्र में उफान आ जाने के कारण शताब्दियों तक वह जल समाधि लिये रहा था। यह उसके भग्नावशेष देखकर भी स्वयं सिद्ध होता है। मंदिर के तीन भाग हैं। प्रवेश द्वार के मुख्य

भाग से प्रातः कालीन सूर्य की किरणें सीधी जाकर मध्य भाग के प्रकोष्ठ के भीतर स्थित मूर्ति के मुख पर पड़ती थीं। पीछे के भाग में एक नीले पत्थर की विशालकाय मूर्ति है जिसका मुख पश्चिम की ओर है जिस पर अस्ताचल गामी सूर्य की किरणें पड़ती हैं। पर कोणार्क की मुख्य विशेषता यह है कि मंदिर के चारों ओर स्त्री पुरुष की मिथुन क्रियाओं की अनगिनत मुद्रायें अंकित हैं। उन्हें देखकर किसी नपुंसक व्यक्ति में भी कामोद्रेक हो सकता है। उन मुद्राओं के फोटो भी वहां बिकते हैं।

❑❑

मेरी गोहाटी यात्रा

जीवन में पहले की गयी यात्राओं की स्मृतियां और रोचक तब लगती हैं जब मनुष्य में आगे और यात्रायें करने की सामर्थ्य नहीं रह जाती है। मेरे पास मांट्रियल (कनाडा) में होने वाले एक अर्न्ताष्ट्रीय बाल साहित्यकारों के सम्मेलन में भाग लेने के लिए निमन्त्रण अभी आया था। हृदय रोग और रक्तचाप से दुर्बल हुये, बीमारी से उठे इस शरीर को लेकर इतनी लंबी यात्रा करने का साहस अब नहीं हुआ। यों यात्रा लंबी भी कुछ नहीं थी क्योंकि पहले जो दूरियां दिनों में चल कर तय की जाती थी वह अब घंटों में हो जाती हैं। यात्रा के लिए मार्ग व्यय का भी संकट नहीं था क्योंकि उन्हीं दिनों शैक्षिक अनुसंधान के एक उच्च सरकारी अधिकारी ने, जो मुझसे मिलने के लिए ही एक दिन के लिए यहां आये थे, उन्होंने मुझे बताया कि आपके लिए ऐसी यात्रा का सारा प्रबंध सरकार की ओर से हो सकता था। मैंने सोचा कन्याकुमारी से हिमालय और मेघालय से शिमला तक सारा देश घूम फिर कर देख लिया यही इन आंखों के लिए क्या कम है।

मेरी गोहाटी यात्रा कई दिनों की थी, उसकी कुछ यादें बड़ी मधुर हैं। सन् 75 में इमरजेंसी के दिनों की बात है। केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय ने मुझे गोहाटी में अहिन्दी भाषी क्षेत्रों के हिन्दी लेखकों के लिए लगाये जा रहे एक शिविर मे निर्देशक के रूप में जाने के लिए लिखा। दिल्ली से गोहाटी तक वायुयान यात्रा सुविधा भी देने को कहा। पर मुझे लखनऊ और वाराणसी स्टेशनों पर और कलकत्ता में कुछ मित्रों से मिलने का मोह था। इस लिये मैंने डमडम हवाई अड्डे से गोहाटी तक वायुयान द्वारा जाने का प्रबंध लिख कर करा लिया था। लखनऊ में डाक्टर कृष्ण मोहन और वाराणसी में डा. प्रसाद से अखिल भारतीय बाल साहित्य कार परिषद के लखनऊ में होने वाले अधिवेशन के आयोजन के विषय में बात करते हुए जब हावड़ा स्टेशन पर गाड़ी से उतरा तो नेशनल लाइब्रेरी के विदेश विभाग के अध्यक्ष हरीश गुप्ता मुझे अपने घर ले चलने के लिए स्टेशन पर मिले। वह मुझे नहीं पहचानते थे और न मैं उन्हें। इसलिये वह मेरे एक बंगाली बाल साहित्यकार मित्र रवि चटर्जी को अपने साथ लेकर आये थे। उनकी

पत्नी सरोज गुप्ता मुझे उनसे पहले भुवनेश्वर में एक सम्मेलन में मिल चुकी थीं और वहां से हम कलकत्ता तक साथ ही वापस आये थे। उन्हें मैं पहले भी लिख चुका था। पर गुप्ता जी ने बताया कि सरोज शांति निकेतन गई हुई है। इसलिये मुझे अकेले स्टेशन आना पड़ा। गुप्ता जी ने मुझे नेशनल लाइब्रेरी में सारे विभाग उस दिन दिखाये। आशुतोष मुकर्जी विभाग की विशालता देख कर तो मैं इस बात पर हैरान होकर रह गया कि एक वकील ने जो अपनी सारी पुस्तकें वहां दे रखी थी उनका एक इतना बड़ा भंडार था जिसमें प्रारम्भिक शिक्षा की पुस्तकों से लेकर प्रिवी काउसिंल तक के कानून की पुस्तकों में हर विषय की पुस्तकें मौजूद थीं। पुस्तकों को खरीद कर अपने निजी पुस्तकालय में रखने में कितनी अधिक रुचि रही होगी उस आशुतोष मुकर्जी नाम के व्यस्त हाई कोर्ट के वकील में। नेशनल लाइब्रेरी में प्राचीन दुर्लभ पुस्तकों की पांडुलिपियों को सदियों तक सुरक्षित रखने के आधुनिक यंत्रों से सज्जित एक विशेष कक्ष भी है। जो हरेक के लिए हमेशा खोला भी नहीं जाता। मेरी 30-40 प्रकाशित पुस्तकों में से केवल 8-10 वहां रखी दिखायी दी क्योंकि गुप्ता जी ने बताया ब्रिटिश शासन काल से यह कानून चला आया है कि प्रत्येक प्रकाशक अपनी प्रत्येक प्रकाशित पुस्तक की दो प्रतियां उसे राष्ट्रीय पुस्तकालय में नहीं भेजे तो एक अपराध करेगा। पर स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उस अपराध की प्रवृत्ति प्रकाशकों में बढ़ती चली गयी और स्वदेशी सरकार ने अपने उस राष्ट्रीय पुस्तकालय की गरिमा को बनाये रखने के लिए उनकी उस प्रवृत्ति को रोकने का कभी कोई प्रयास नहीं किया। नेशनल लाइब्रेरी विश्व में 16 वें नम्बर पर सबसे बड़ी लाइब्रेरी है। मास्को न्यूयार्क और लंदन की लाइब्रेरियां पहले दूसरे या तीसरे नम्बर की हैं। बहुत बड़े क्षेत्र में बनी नेशनल लाइब्रेरी परिसर में एक ओर को बने कई किचिन बाथरूम और बरामदे सहित अत्यन्त स्वच्छ और शांत कमरे में जिनमें देश का कोई भी अध्ययन प्रिय छात्र नाम मात्र के किराये पर कितने ही दिनों के लिए रह सकता है लेकिन मुझे ज्ञात हुआ कि वह कमरे हमेशा खाली पड़े रहते हैं। मैंने गुप्ता जी से कहा मैं तो जीवन भर एक कमरे में चुपचाप लिखने पढ़ने में व्यस्त रह सकता हूं।

अगले दिन सबेरे तड़के उठकर मुझे डमडम हवाई अड्डे पहुंच जाना था जो कलकत्ते से बाहर बिल्कुल दूसरे छोर पर था। डमडम के पास सड़क के दोनों ओर कोई आबादी नहीं थी। पर कई वर्ष बाद मैंने जाकर देखा तो आबादी बढ़कर डमडम तक पहुंचती जा रही है। देशबंधु नगर की बेगुई हाटी में मेरे मित्र बंगाली के एक लेखक कवि उत्पल होम राय ने अपनी सुन्दर सी कोठी बनवा ली है जहां चाय पीने के लिए वह मुझे बुला ले गये थे। कलकत्ता नगर में ही स्थित एयर लाइंस कार्यालय तक गुप्ता जी मुझे छोड़ गये थे। मेरे कपड़े

उससे पहले रात में ही उन्होंने अपेक्षाकृत भारी सूटकेस से निकाल कर अपने इस बड़े लेकिन हल्के बी.आई.पी. केस में रख दिये थे जिसे लेकर वह कई बार मास्को यात्रा कर आये थे। यह उन्होंने इसलिए भी किया था कि एक सप्ताह बाद जब मैं गोहाटी से लौटूं तो उनके पास जरुर रूकूं। तब तक मिसेज गुप्ता भी शांति निकेतन से लौट आयी होंगी। कलकत्ता में उनके घर पर आकर खडगपुर की विद्या देवी भी मुझसे आकर मिल गयी थीं। वह हिन्दी और इतिहास में एम.ए. करने के बाद कलकत्ता विश्व विद्यालय में बाल साहित्य पर शोध कार्य कार्य कर रही थीं और मुझे पत्र लिखती रहती थीं। प्रशिक्षणार्थी के रूप में गोहाटी शिविर में वह भी आमंत्रित थीं। पर उन्हें 72 घंटे की रेल यात्रा के बाद वहां पहुंचना था।

डमडम हवाई अड्डे पर प्रतीक्षालय के बड़े से कक्ष में 'चंदा मामा' के हिन्दी सम्पादक बाल शौरि रेड्डी ने मेरा चित्र किसी पत्रिका में प्रकाशित देख चुकने के कारण पहचान लिया। अलीगढ़ विश्व विद्यालय के डा. के.पी. सिंह भी वहीं मिल गये। वह भी उसी शिविर में निर्देशक के रूप में जा रहे थे। हम तीनों खड़े बातें कर रहे थे कि डाक्टर नामवर सिंह दिल्ली से आये विमान से उतरकर आते दिखायी दिये। रेड्डी ने हम दोनों का परिचय कराया। तो वह चौंक कर हर्षित को बोल पड़े-"अरे सेवक जी! हम तो आपकी कविताओं पर पैरोडी लिखा करते थे।" मुझे याद आया सन् 42-43 में जब मैं बनारस में पढ़ता था तो वहां की एक साप्ताहिक हास्य व्यंग्य पत्रिका 'तरंग' में अक्सर मेरी कविता की पैरोडी निकला करती थी जिनके लेखक से साक्षात परिचय शायद कभी नहीं हुआ था। अपनी एक कविता.."यह दुनिया इतनी बड़ी मगर संसार हमारा छोटा सा" की पैरोडी की एक पंक्ति मुझे अभी याद है "हम लड़ने को तो चले मगर हथियार हमारा छोटा सा" इन्हें लिखने वाले नामवर सिंह ही थे और वह तब मुझसे 8-10 वर्ष नीचे किसी कक्षा के छात्र होंगे। आज तो यह हिन्दी के एक प्रभावशाली विद्वान विचारक और जाने क्या क्या हैं।

डमडम से एक ही वायुयान में बैठकर मैं रेड्डी और के.पी. सिंह गोहाटी गये थे। नामवर सिंह को उसमें जगह नहीं मिल सकी थी। मुश्किल से एक घंटे की यात्रा थी। प्राकृतिक दृश्यों को देखने के मेरे अनुभव विचित्र थे। पर लगभग आधी यात्रा के बाद एक ऐसी घटना घटी जिससे मैं इस दिन के बाद इस दुनिया में जीवित नहीं भी हो सकता था। एकाएक पायलेट ने यह सूचना दी कि खतरा है। सब अपनी अपनी पेटियां कस लें। यात्रियों ने ऐसा ही किया और सशंकित हो गये कि पता नहीं इस खतरे का क्या अर्थ हो? मैं समझता हूं कि सभी के दिल धड़कने लगे होंगे कि खतरा प्राण लेवा भी हो सकता है। इसके दो तीन मिनट में ही पायलट ने घोषणा की कि इंजन में कहीं कुछ खराबी मालूम होती

है इसलिए हम फिर डमडम की ओर मुड़कर वायुयान को उतारने की चेष्टा कर रहे हैं।

इंजन में आयी खराबी के परिणाम की कल्पना सहज ही वायुयान के अचानक नीचे गिर पड़ने या उसमे आग लग जाने के रूप में की जा सकती थी। इसलिये पेटियां कसे, सांसों को साधे चुपचाप लगभग 100 यात्रियों वाला यह वायुयान 20-25 मिनट बाद जब डमडम हवाई अड्डे तक जमीन पर उतर नहीं आया सबको कहीं दूर पर मौत दिखाई देती रही हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। सूचना दी गई कि सब यात्री प्रतीक्षालय में चले जायें। उतर आने के बाद मुझे और रेड्डी को यह जानने की उत्सुकता हुई कि इंजन में कहां क्या खराबी आ गयी थी हमने विमान को आगे तक जाकर देखा तो विमान के कर्मचारियों में से भी कुछ खड़े देख रहे थे। विमान की एक संघ में कहीं एक गिद्ध जैसे बड़े आकार का पक्षी फंसा हुआ था उसका कुछ भाग इंजन के अंदर और कुछ बाहर लटक रहा था। लोगों ने बताया कि इस प्रकार पक्षियों के टकरा जाने से ऐसी दुर्घटनायें भी हुई है कि विमान नीचे उतर पाने के बजाय अचानक नीचे गिर कर ध्वस्त हो गए। मैंने रेड्डी से कहा- "यह एक जरा से पक्षी की मनुष्य की वैज्ञानिक बुद्धि को कितनी बड़ी चुनौती है।" पर मन में सोचता रहा-आकाश पहले तो पक्षियों का ही था। आदमी तो जबरदस्ती उसमें घुस पड़ा है। मैंने बाद में इस घटना के आधार पर "गिद्ध और आदमी" शीर्षक एक कहानी भी लिखी थी जो बच्चों की किसी पत्रिका में छपी थी। प्रतीक्षालय में पहुंच कर घोषणा करके हमें बताया गया कि डेढ़ घंटे बाद दूसरे विमान में अब हम जा सकेंगे। और हमें एक एक कूपन दे दिया गया कि हम इस बीच में जाकर नाश्ता ले सकते हैं।

डेढ़ घंटे बाद दूसरे वायुयान में सवार हो गोहाटी पहुंचने पर सीढ़ियों से उतर कर आते ही जाने कैसे मेरा चश्मा कानों को छोड़कर जमीन पर जा गिरा और उसका एक शीशा बिल्कुल चटक गया। बिना चश्मा के वायुसेवा के आरामेदह वाहन में गोहाटी नगर तक पहुंचते हुये दूर से दृश्य देखने के लिए मैं तो अंधा हो गया। इसलिये वहां के नए बने नेशनल स्कूल तक पहुंच अपना सामान एक कमरे में पटकने के बाद मुझे पहला काम यह करना था कि अपना चश्मा ठीक कराऊं। इसके लिए लगभग पूरा नगर पार करके मुख्य बाजार जाते जाते एक तरह से सारी गोहाटी का एक जायजा मैंने ले लिया। अंग्रेजी बाजार वहां का सबसे बड़ा और साफ सुथरा बाजार है। उसी के पास के एक बड़े चौराहे के इधर-उधर दूर-दूर तक सारे नगर का मुख्य व्यावसायिक व्यापारिक केन्द्र। वहीं से एक सड़क सीधी उस सड़क से जा मिलती है जिसके उस पार समुद्र जैसे चौड़े पाट वाली ब्रहमपुत्र नदी बहती है जिसमें एक दिन शाम को हमने नौका विहार भी किया था। मैंने तब विद्या देवी के आग्रह पर अपनी

किनारे-किनारे कविता सस्वर सुनाई थी जो हमारे साथ गाये नेशनल स्कूल के कला शिक्षक एक सरदार अध्यापक के मन में कुछ ऐसी बस गई कि वह उसके कई पद याद करके जब तक मैं गोहाटी में रहा बार-बार मेरी तरह ही गाकर सुनाते रहते थे। बाद में मुझे ज्ञात हुआ कि वह भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के एक होल टाइमर कार्यकर्ता थे और उसी का संगठन करने के उद्देश्य से पंजाब में अपना घर छोड़कर वहां रहते थे।

गोहाटी जिस दिन पहुंचा उसी दिन सायंकाल शाम को एक सुखद आश्चर्य का अनुभव हुआ। मैं खुले मैदान में कुछ अहिन्दी भाषी क्षेत्रों मणिपुर, त्रिपुरा, आसाम, आंध्रप्रदेश, महाराष्ट्र आदि के युवा लेखकों के बीच बैठा बातें कर रहा था कि एक वृद्ध और दुर्बल से दिखने वाले सज्जन मेरे सामने आकर खड़े हो गए- "मुझे पहचाना"? मैंने आज सबेरे समाचार पत्र में तुम्हारा नाम पढ़ा था। मुझे बड़ी खुशी हुई। सूरत शक्ल बिल्कुल बदल गयी होते हुए भी पहचानने में मुझे अधिक देर नहीं लगी कि वह मेरे साथ बरेली कालिज में बी.ए. तक पढ़े मित्र डा. ताराचंद रस्तोगी थे। कालिज छोड़ने के बाद से मैंने उन्हें देखा नहीं था। सुनता था कि नौकरी के सिलसिले में कहीं बाहर चले गये हैं। मैं उठकर उनके गले से लिपट गया। उन्होंने बताया कि उन्होंने डा. मुहम्मद इकबाल प्रसिद्ध शायर पर शोधकार्य करके गोहाटी विश्व विद्यालय से पी.एच.डी. कर लिया था और एक डिग्री कालिज में प्रिंसिपल हैं। पत्नी एक असमिया हैं जो एक अस्पताल में लेडी डाक्टर है। चार बड़े-बड़े पुत्र हैं। दूर की एक पहाड़ी पर उन्होंने अपना एक मकान भी बनवा लिया है। अभी गोहाटी से दूर के एक कालिज में नियुक्ति हैं। बरेली के गली कूंचो से स्कूल कालिज से लेकर अनेक सहपाठी मित्रों और अध्यापकों तक अनेक विषयों पर उनसे देर तक बातें होती रहीं। उर्दू के अखिल भारतीय विद्वान लेखकों में उन्होंने अपना स्थान बना लिया था। अगले ही दिन सबेरे वे गोहाटी से दूर अपने कालिज चले जाने वाले थे पर उसी सप्ताह के प्रवास में एक दिन गोहाटी रेडियो से प्रसारित मेरी 'समय का देवता' आदि कविताओं का पाठ उन्होंने अवश्य सुना होगा। मेरे गोहाटी से लौट आने के बाद उनके लंबे लंबे पत्रों में अपनी जन्म भूमि बरेली की मिट्टी के लिए बड़ी छटपटाहट रहती थी एक पत्र में उन्होंने लिखा था कि वह बरेली आकर ही मरना चाहते हैं जिससे उनके शरीर की राख यहीं की मिट्टी में मिलकर खप जाये। एक बार दिल्ली में होने वाले एक उर्दू सेमीनार से लौटते हुए एक दिन के लिए मेरे पास आये भी थे। अभी साल भर नहीं हुआ होगा एक पत्र में उन्होंने लिखा था- बरसात में पहाड़ी खस जाने से उनका मकान गिर कर नष्ट हो गया और उनकी पत्नी और बड़ा लड़का उसके मलवे के नीचे दब कर मर गये हैं। अब वह रह गये हैं। अवकाश प्राप्त बुढ़ापे में बेघर होकर अपने अन्य बच्चों

की, जिनमें से एक तो पागल है, देखभाल करने के लिए। दो महीने पूर्व उन्होंने लिखा था कि उर्दू अकादमी उत्तर प्रदेश से उन्हें मिलने वाली आर्थिक सहायता इसलिये रोक दी गयी है कि वह फिर प्रमाणित करें कि वह उत्तर प्रदेश के रहने वाले हैं। मैंने इस संबंध में उर्दू अकादमी को लिखा और अपने और उनके सहपाठी मित्र प्रताप चन्द्र आजाद से पत्र भी लिखाया है।

शिविर में मणिपुर आसाम पश्चिम बंगाल आंध्र प्रदेश तमिलनाडु से आये युवा लेखकों और लेखिकाओं में से कई में प्रतिभा के प्रस्फुटित अंकुर मैंने स्पष्ट देखे थे। उनमें से हैदराबाद के बाल कृष्ण, अकोला के कैलाश सेंगर, हावड़ा के के. शंकर राव, इम्फाल के आचार्य राधा गोविन्द कविराज, गौहाटी की श्रीमती भराली, खडगपुर की विद्यादेवी आदि कई लेखक लेखिकाओं के चेहरे मेरी आंखों में सजीव हैं। श्रीमती भराली के पति वहां शिक्षा विभाग में डिप्टी डायरेक्टर हैं एक दिन सायंकाल वे मुझे बुलाकर अपने घर भी ले गये थे। उनके दो पुत्र व एक पुत्री है। उन्होंने उन्हें मेरी बच्चों की कवितायें सुनवाईं और लड़की ने आसाम में चौदहवीं पन्द्रहवीं शताब्दी में हुये एक कवि शंकर देव के कई भजन सुनाये थे। आसामी भाषा में वह भजन ऐसे थे कि उनका भाव समझने में मुझे कोई कठिनाई नहीं हुई। शंकर देव भी सूर और मीरा की तरह एक कृष्ण भक्त कवि थे पर उनकी इतनी चर्चा मैंने और भी कई आसाम के लोगों से सुनी कि मुझे लगा वह वहां यहां के सूरदास से अधिक लोकप्रिय हैं। शंकरदेव के नाम पर बना वह प्राचीन मन्दिर भी मैं देखने गया था जो गोहाटी से लगभग 20 मील दूर जंगल में बना है। बनावट में वह बिल्कुल कलकत्ता के बेलोर मठ जैसा पर उतना पक्का और साफ सुथरा नहीं। भीतर और बाहर कच्ची मिट्टी से पुता दीवारों पर रंगीन पेंट किये हुए कृष्ण की लीलाओं के बड़े सुन्दर चित्र बने हुये थे। बाहर बड़े से एक मैदान में बहुत से कमरे भी बने थे। जो उस समय तो खाली पड़े थे। शायद कोई एक भक्त किसी कमरे में रहता हो पर साल में एक बार यहां एक मेला लगता है तो जंगल में मंगल हो जाता है, और तभी मंदिर की सफाई अंदर से करायी जाती है जिससे जमीन के फर्श पर बैठकर भक्त जन शंकर देव के भजन गाते हैं। यह मंदिर देखने का अवसर मुझे इसलिये मिल गया कि एक शर्मा जी हमारे शिविर में कई बार आये थे। थे तो एक विद्वान प्रिंसिपल पर स्वभाव से बड़े हंसोड़ थे। उन्होंने हम शिविर निर्देशकों को अपने विद्यालय में सम्मानित करने के लिए आमंत्रित किया था। डा. नामवर सिंह और पटना के डा. विमल तो गये नहीं थे पर मैं डा. पी. के. सिंह और रेड्डी तथा 14-15 युवा लेखक लेखिकाओं को वह एक मेटाडोर में बैठाकर ब्रह्मपुत्र नदी का नया बना पुल पार करके 16-17 मील दूर अपने नदी के किनारे पर बने विद्यालय में ले गये थे। रास्ते में मुड़कर जंगल में ले जाकर

उन्होंने शंकर देव का वह मन्दिर हमें दिखाया था। विद्यालय ले जाकर पहले उन्होंने हमें छककर नाश्ता कराने का प्रबंध किया था। हमारे यहां होली पर बनने वाली गुझिया ताजी सेंक कर सबकी प्लेटों में रखी जाने लगीं और प्यालों में चाय लाकर सामने रख दी गयी। आधी गुझिया काट कर मैंने भी अपने मुंह में रख ली। पर वह तो नमकीन थी और कोई मसालेदार लिजलिजी सी चीज उसमे भरी थी। पूछने पर किसी ने बताया कि वह ताजी भुनी मछलियों का मांस था। मैंने उठकर बाहर उसे थूका। पानी लेकर कुल्ला किया और मेरे बताने पर ही सब समझे कि मैं मांस नहीं खाता तो उन्होंने आश्चर्य प्रकट करते हुये कहा कि मछली तो शाकाहारी भोजन है। पंडित ब्राह्मण सभी यहां खाते हैं। नाश्ते के बाद विद्यालय के हाल में सभा का आयोजन हुआ। भाषणों के बाद मुझसे कहा गया तो मैंने कई कवितायें सुनाईं। सम्मान में एक-एक शाल शंकर देव की लंबे ताम्रपत्र जैसे मोटे कागजों की बिना जिल्द की पोथी और एक एक नारियल हमें भेंट में दिया गया। रात के समय मेटाडोर में गाते शोर मचाते लौटने का वह आनन्द अब भी याद आता है।

भराली का वह मकान पतले छोटे खपटों से छाया हुआ था अन्दर से साफ पुती दीवारों को दिखाकर भराली ने बताया यह फटे बांस के टट्रों को बिना नींव के खड़ा कर मिट्टी से लेस कर बनाई हुई दीवारें हैं। ईंट गारे या सीमेंट का उनमें कोई काम नहीं। उन्हीं दीवारों में हल्की लकड़ी की किवाड़ों की खिड़कियां और दरवाजे थे। भराली ने बताया यहां पुराने ढंग से मकान ऐसे ही बनाये जाते हैं। भूकंप यहां बहुत आते थे। अब भी झटके आते रहते हैं। इन पुराने ढंग के मकानों के गिरने से किसी के मरने या चोट आने का कोई भय नहीं रहता। बड़े-बड़े सुन्दर बने खपरैलों वाले दूर से देखे मकान मैं समझता हूं कि ऐसे ही बांस के टट्रों को खड़ा करके बनाये गये होंगे। पर नये बने ईंटों और सीमेंट के लिन्टर वाले मकानों और दुकानों की गोहाटी में कोई कमी नहीं है। हां दुमंजिला मकान शायद अब भी बहुत ही कम हैं। पान की दुकानें मुझे कम ही दिखाई दीं। पर हरी सुपारियों के गुच्छे अक्सर छोटी दुकानों पर लटकते देखे। लोग उन्हीं के चार चार टुकड़े कराकर एक एक मुंह में रख चबाकर रस निगलते रहे हैं। कहते हैं कि हरी सुपारी बचाकर पूरी एक खा लो तो पसीना माथे पर छलक आये। उसके रस में एक नशा होता है। अंडी और सिल्क की चादरें वहां बहुत अच्छी और सस्ती मिलती हैं। मैं वायुयान में अधिक भार पर प्रतिबंध के कारण ला नहीं सका। जो ला सका उनकी बनाई शर्ट मेरे पास अब तक चलीं।

शिविर में विभिन्न विधाओं में हिन्दी साहित्य के विषय में चर्चा होती थी। लोग अपनी-अपनी रचनायें कविता कहानी या लेख सुनाते थे और जो चाहे

उसकी समीक्षा या उस पर विचार विनियम करता था। स्कूल की जिस कक्षा के बहुत बड़े कमरे में रेड्डी और के.पी. सिंह ठहरे थे उसका चित्र सामने आने पर दो घटनायें याद आती हैं। कमरे के सारे कुर्सी डेस्क निकलवा कर बीचों बीच चार बड़े तख्त आपस में सटा कर डाल दिये गये थे। भयंकर मच्छरों से बचने के लिए रात में एक छोटे कमरे जैसे आकार के चारों तख्तों पर एक ही बड़ी मच्छरदानी लगा दी जाती थी जिसे चारों तख्तों पर बिछे एक ही गद्दे और चांदनी से सब ओर से दाब लिया जाता था। डबल बेड वाली मच्छर दानी तो मैंने देखी थी पर एक कमरे के बराबर उतनी बड़ी मच्छरदानी नहीं। उसी में रात को बीच में के.पी. सिंह, एक ओर मैं और दूसरी ओर रेड्डी सोते थे। के.पी. सिंह आकार में हम दोनों से बड़े थे। एक दिन सबेरे के.पी. सिंह बोले- रात सपने में किसी ने मेरे एक लात मारी। उनका संकेत था कि हममें से कोई सपना देख रहा होगा उसी ने लात मार दी होगी। रेड्डी बोले- "रात मच्छरदानी में एक मच्छर घुस आया था। उसे विषयान्तर की बात समझते हुये के.पी. सिंह ने पूछा तो आपने क्या किया? रेड्डी बोले- मैंने लेटे-लेटे उस पर एक लात चला दी थी। के.पी. सिंह ने उसी गंभीरता से धीरे से कह दिया- वाह भाई तुमने तो मुझे ही मच्छर समझ लिया था। इस पर हम तीनों तो देर तक हंसते ही रहे थे। उस दिन जिसे यह बात सुनाई वह हंसी के मारे लोट-पोट हो जाता था। उसी कमरे में एक दिन शाम को देर तक एक कवि सम्मेलन जमा। डाक्टर नामवर सिंह तथा डाक्टर विमल जो कहीं दूर किसी अन्य स्थान पर ठहरे थे वह भी आ गये थे। हमारे तख्त ही काफी बड़े थे। और कुछ ने खीच लाकर कुर्सियां डाल ली थीं। शिविर में आये हुये जितने लोग कवितायें लिखते थे सभी ने अपनी-अपनी कवितायें सुनाईं थीं। डा. नामवर सिंह ने बनारस के कवि सम्मेलनों और गोष्ठियों के बाद मेरी कवितायें सुनी ही नहीं थीं इसलिये मेरी नई पुरानी कई कवितायें सुनाने का आग्रह किया। और मैंने 'ताजमहल', 'समय का देवता', 'किनारे-किनारे' आदि कई कवितायें सुनाईं। उस सम्मेलन में गोहाटी के एक असमिया के प्रसिद्ध युवा कवि (नाम भूल गया) और एक लेखक नवारुण वर्मा जो हिन्दी में पत्र पत्रिकाओं में लेख भी लिखते हैं बैठे हुये थे। उन कवि ने असमिया की कुछ कवितायें सस्वर सुनाईं जो पूरी तरह समझ में न आने पर भी सबको बहुत अच्छी लगीं। नवारुण वर्मा मुझसे पहले से परिचित थे और मुझे कुछ पत्र भी कभी लिखते रहते थे। मैंने उनसे पूछा आप शिविर में क्यों नहीं आते हैं? तो बोले- आमंत्रित तो किया गया हूं पर जिस राष्ट्र भाषा परिषद के प्रेस में मैं काम करता हूं उसके मंत्री ने छुट्टी ही नहीं दी। मैंने कहा- वह मंत्री भारी भरकम शरीर वाले खद्दर धारी श्री चौधरी तो रोज शाम को जीप में यहां आकर हम सबकी सुख सुविधा के बारे में पूछते है। मेरी तो कुछ कवितायें बच्चों

की हिन्दी पाठ्य पुस्तकों में लेने की बात भी कर रहे थे। वर्मा जी ने कहा तो आप उनसे कह दें तो शायद तीन चार दिन ही शिविर में आने के लिए छुट्टी दे दें। अगले दिन जब चौधरी आये तो मैंने नवारुण वर्मा को शिविर में आने के लिए छुट्टी देने को कहा तो उन्होंने साफ इंकार कर दिया। मैं चुप होकर रह गया। फिर किसी दिन चौधरी ने शाम को परिषद भवन में हम पांचों निर्देशकों का अभिनन्दन और भोजन भी वहीं करने के लिए आमंत्रित किया और जीप और एक कार में बैठाकर ले गये। शिविर में आये अन्य सब लेखक रिक्शों से वहां पहुंचे थे। सभा भवन की बड़ी इमारत देख कर तो हम दंग रह गये। दुमंजिला छोटे बड़े अनगिनती कमरे बरामदे और बीच में एक बड़ा खुला आंगन। बरामदे में मेज कुर्सी पर उन्होंने सबको भोजन कराया। फिर घुमा फिराकर सभा का पुस्तकालय, प्रेस तथा अध्यक्ष मंत्रियों आदि के विभिन्न कक्ष दिखाये। वह परीक्षायें लेकर हिन्दी भाषा सीखने वालों को कई श्रेणियों के प्रमाणपत्र देते हैं। एक बड़े से दरी चांदनी कालीन बिछे सभाकक्ष में हमारे अभिनन्दन समारोह का आयोजन था। सब ओर परिचित कुछ हिन्दी साहित्यकारों तथा सभा के अध्यक्षों के बड़े-बड़े चित्र लगे थे। हम पांचों को मसनदों के सहारे एक कालीन पर बैठा दिया गया और सभा भवन आमंत्रित श्रोताओं से भरा हुआ था। बताया गया कि आजादी के बाद असम के पहले मुख्यमंत्री बारदोली ने इस परिषद की स्थापना की थी। बाद में केन्द्रीय सरकार ने हजारों रुपया प्रति वर्ष का अनुदान मिलने लगा जो अब तक मिलता है। हर हिन्दी का प्रचार इस संस्था द्वारा वहां कितना हुआ है इस का अनुमान हमें तब हुआ जब इसके वर्तमान या भूतपूर्व जितने भी पदाधिकारियों ने हमारे स्वागत सम्मान में भाषण दिये वह सब इस असमियां भाषा में थे जिनमें जब हमारा नाम आता था तभी यह पता चलता था कि हमारे विषय में कुछ कहा जा रहा है। एक एक हार गले में पहनाकर हमारा सम्मान कर दिया गया और हम हिन्दी भाषा में धन्यबाद देकर वहां से चले आये। शायद डा. के.पी. सिंह या रेड्डी ने धन्यबाद देते हुये राष्ट्रभाषा हिन्दी प्रचार सभा द्वारा असमियां भाषा में सत्कार किये जाने पर कुछ क्षोभ भी प्रकट किया था। बाद में इस संस्था में सेवारत कुछ कर्मचारियों ने हमें बताया था कि हिन्दी भाषा के ज्ञात होने के प्रमाणपत्र यहां रुपया लेकर बेचे जाते हैं यदि यह सच है तो राष्ट्रभाषा प्रसार के नाम पर भ्रष्टाचार का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है।

एक दिन सवेरे ही निकल चलकर वहां से भारत प्रसिद्ध कामाख्या (कामाक्षा) देवी के मंदिर को देखने जाने का प्रोग्राम बनाया था। पुराणों के अनुसार यह मंदिर उस स्थान पर बना था वहां सती का योनि भाग उस समय कट कर गिरा था जब शिव उसे कंधे पर लादे विछोह में पागल से जंगल-जंगल

भटकते हुये घूम रहे थे। यहीं शिव ने कामदेव को भस्म किया था इसलिये वह स्थान इतिहास में कामरूप कहलाता है। वह मंदिर गोहाटी नगर से 10-15 मील दूर एक छोटी सी पहाड़ी के शिखर पर है। बस चढ़ाई प्रारम्भ होने से पहले ही पहाड़ी की तलहटी में ही यात्रियों को छोड़ देती है। उसके आस-पास एक छोटा सा बाजार और बस्ती भी बस गयी है मंदिर तक पैदल ही चढ़कर जाना पड़ता है। लगभग आधा पौन घंटा लगता होगा मंदिर तक पहुंचने में। मंदिर के पास पहुंचने पर कुछ दुकानें हैं जिनमें हार फूल सुपारी नारियल कुछ लकड़ी के खिलौने और कुछ खाने पीने की चीजे मिलती हैं। उसके आस-पास ही मंदिर के पुजारी पंडों की बस्ती है जिसमें वह सपरिवार रहते हैं। यह मंदिर इतना पुराना बताया जाता जितना देश भर में शायद ही कोई दूसरा मंदिर हो। यह इस काल का है जब मानव समाज मातृ सत्ता प्रधान था। कबीले की सबसे बलिष्ठ नारी सारे स्त्री पुरुषों का नेतृत्व करती हुई शिकार की खोज में जंगल जंगल घूमती और किसी पशु को मार लेने पर उसका मांस सबको खाने के लिए बांट देती थी। कबीले के प्रत्येक व्यक्ति को उसका आदेश मानना पड़ता था और कबीले के किसी भी युवा पुरुष से संभोग के लिए स्वतंत्र होती थी।

कामाख्या देवी का मंदिर बना हुआ भी ऐसे स्थान पर है कि लगता है कि कभी उसके चारों ओर दूर-दूर तक जंगल ही जंगल होगा। मंदिर में देवी के पटद्वार बंद थे क्योंकि उस दिन वह मासिक धर्म में थी। प्रत्येक मास में तीन दिन यह नाटक वहां किया जाता है। हमारे साथ गये सरदार जी ने बताया कि उसमें एक मूर्ति तो देवी की है ही, बिल्कुल योनि के आकार का भी कुछ बना हुआ है जिसकी भी भक्तजन पूजा करते हैं। आगे एक पत्थरों के फर्श का बड़ा सा आंगन है उसमें प्रति दिन पशु बलि दी जाती है। श्रद्धालु अपनी श्रद्धा या क्रय शक्ति के अनुसार कबूतर से लेकर बकरे को या मेढ़े को लेकर आंगन में आते हैं। पंडे छुरे गड़ासे से उसकी गरदन धड़ से अलग कर देते हैं। सिर देवी को चढ़ा दिया जाता है। और धड़ का मांस वह भक्त या कोई भी प्रसाद के रूप में ले जा सकता है। मेले के दिन तो मंदिर के आगे के बरामदे में कबूतर बकरे या मेढ़े के कटे हुये सिरों का ऐसा ढेर लग जाता है कि लोगों को उसके बीच से जाकर देवी के दर्शन करना मुश्किल हो जाता है। बलि देने का यह क्रम प्रतिदिन चलता रहता है। इसीलिये उस पहाड़ी के तलहटी के बाजार में हमें कबूतर बकरे और मेढ़े बिकते हुये बहुत देखे थे। मंदिर के आस-पास पंडों की बस्ती के सारे परिवार पशुओं के कटे हुये सिरों या भक्तों के स्वयं ले जाने से बचे हुये धड़ों का मांस खाने या पकाने या बेंच कर धन कमाने से पलते हैं। और हर परिवार में अपनी खुद की बनाई मंदिरा का सेवन भी खूब किया जाता है। स्त्रियां भी पीती हैं। यात्रियों में जो चाहें वह इन पंड़ों के घरों में आराम से

ठहर सकते हैं और वह अपने घर की कुमारी लड़कियों को भी उनकी सेवा के लिए अर्पित कर देते हैं।

सरकार ने मदिरा निषेध या परस्त्रीगमन निरोध संबंधी कानून यहां लागू नहीं किये जाते क्योंकि वह एक धार्मिक स्थान है। और वहां की पुरानी चली आई धार्मिक प्रथाओं से अधिक हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता। प्रत्येक धर्म का आदर करना हमारे देश में धर्म निरपेक्षता समझी जाती है। इसलिये धर्म के नाम पर कितना ही अनाचार या सरकारी नियमों का उल्लंघन होता रहे बड़े बड़े शासनाधिकारी उसे रोकने से डरते हैं।

मंदिर के आस पास की इन बातों के बारे में जानकारी गोहाटी के लोगों से प्राप्त कर मुझे याद आया आसाम का यही भाग जो कामरुप कहलता है उसके विषय में हमारे यहां कहा जाता है कि वहां कि स्त्रियां अपनी शक्ति से पुरुष को मेढ़ा बनाकर अपने घर में बांध लेती हैं। यह इस अर्थ में आज भी सच है कि पंडे जिसे अपना मेहमान बना लें उसे खूब मांस मंदिरा खिलायें पिलायें और अपने घर की स्त्रियों को संभोग के लिए अर्पित कर दें, वह वहां से बिना जेब खाली कर दिये लौट ही नहीं सकता है।

मंदिर के पास से थोड़ी ऊंचाई पर चढ़कर हम एक साधु के दर्शन करने गये। वह हमारे साथ जाने वाले नेशनल स्कूल के टीचर सरदार जी के पूर्व परिचित थे क्योंकि वह भी पंजाब के रहने वाले थे। उनकी कुटिया के आगे खड़े होकर दूर-दूर तक पहाड़ी जंगलों के दृश्य बड़े मनोरम दिखाई देते थे। नंगे बदन लंबी सफेद टैगोर जैसी दाढ़ी वाले गौरवर्ण वह वृद्ध साधु महाराज बड़े भव्य और प्रभावशाली व्यक्तित्व के धनी मालूम होते थे। उनके दो एक चेले भी उसी कुटिया में रहते थे। सरदार जी ने परिचय कराया तो उन्होंने हम 10-15 व्यक्तियों को बैठाकर अपनी कुटिया में पड़ी तिपाई, तख्त आदि पर बैठा दिया। हमारे साथ एक मात्र महिला विद्या देवी भी सबके बीच बैठ गयीं। मुझे उन्होंने वय में सबसे अधिक समझकर अपने पास अपने ही तख्त पर बैठा लिया। मैं बरेली का निवासी हूं यह सुनकर बोले- सन् 25-26 में मैं एक बार बरेली गया था और वहां के डा. श्याम स्वरूप के घर पर ठहरा था। मैंने कहा- मैं तो तब 6-7 वर्ष का बालक रहा होऊंगा। पर डा. श्याम स्वरूप तो हमारे संबंधी और पिताजी के घनिष्ठ मित्र थे। फिर वह अपने योग, तप और दर्शन ज्ञान की बड़ी ऊंची-ऊंची दैवी शक्ति की बातें करने लगे। और तो सब गंभीर होकर ध्यान से सुनते रहे। कुछ देर बाद सरदार जी ने बीच में खिल्ली सी उड़ाती हुयी हंसी की बात कह दी। इस पर एकदम साधु महाराज के तेवर बदल गये। शिव की तरह कामदेव पर क्रोधित होकर वह गरज कर बोले-'तू समझता क्या है। मैं

तुझे अभी बकरा बनाकर नीचे भेज सकता हूं।' कुटिया में सन्नाटा छा गया। उसे भंग करने का उपाय मुझे यह सूझा- 'महाराज' और जो यह विद्या देवी बैठी हैं, इन्हें आप क्या बनाकर नीचे भेजेंगे? वह उसी ऐंठ में बोले-इन्हें भी बकरी बना सकता हूं। इस पर सबको हंसी आ गयी। इतने में उनका एक चेला जिससे उन्होंने शायद पहले ही कह दिया होगा, सबके लिए चाय ले आया। फिर साधारण बातचीत के बीच चाय पीकर हम सब उन्हें प्रणाम करके वहां से चले आये।

देवी के मंदिर के आगे रोज कबूतर, भेड़ या बकरों के सिर धर्म के नाम पर काटे जाने की कल्पना से मेरा मन कुछ विचलित और उद्विग्न सा था। साथ ही उन दिनों देश में एमरजेंसी लगी हुयी थी। जय प्रकाश नारायण जैसे सत्य और अहिंसा के प्रचारक गांधी के साथी नेता पंडित नेहरु की बेटी इंदिरा देवी द्वारा पकड़कर जेल में बंद कर दिये गये थे। प्रेस पर प्रतिबंध लगाकर अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता छीन ली गयी थी। और सर्वत्र इंदिरा गांधी की बड़ाई करके उन्हें देवी बनाकर सबको भेड़ बकरा जैसा परवश और मूक बनाने के लिए मिथ्या का प्रचार किया जा रहा था। बस से गोहाटी लौटने तक रास्ते में ही कविता की यह पंक्तियां मन पर स्वयं रचकर अंकित हो गयीं -

सत्य जो प्रत्यक्ष मेरे सामने था
भेड़, बकरा या कबूतर
सिर उसी का काटे,
मंदिर में प्रतिष्ठित
एक देवी को चढ़ाकर
तुम बड़े धर्मात्मा
बनने चले हो?
आज गांधी भी नहीं जो
मौन सत्याग्रह करे
सिर सत्य का कटने न पाये।

लौटकर भी यह किसी को सुनाई नहीं। पर बरेली आकर इन्हें 'नवनीत' में छपने भेज दिया और वह 'कामाख्या देवी का मंदिर देखकर' टिप्पणी के साथ छपी भी। प्रतिक्रिया मुझे जानने को नहीं मिली। हां, उन्हीं दिनों बरेली के संभ्रांत नागरिकों के एक क्लब में मुझे आमंत्रित किया गया। उसमें मैंने अन्य रचनाओं के साथ यह पंक्तियां भी सुना दी। उसके कई दिन बाद क्लब के एक सदस्य पंडित मथुरा प्रसाद ने मुझे बताया सी.आई.डी. वाले तुम्हारे पीछे लग गये हैं। तुम्हारे बारे में कुछ पूछ रहे थे। मैंने सोचा व्यंगार्थ समझने वाले कोई तो मिले।

पर बाद में उन्होंने क्या किया मुझे ज्ञात नहीं।

गोहाटी के जिन्दा और मुर्दा अजायब घर तो दर्शनीय हैं ही जो हम देखने गये थे। एक दिन मेघालय की राजधानी शिलांग देखने भी बस से गये थे। इतना सुन्दर पहाड़ी नगर मुझे नैनीताल, मसूरी या शिमला भी नहीं लगा। दूर तक दिखाई देने वाली पहाड़ियों के बीच वह 60-65 मील का रास्ता भी बड़ा सुन्दर है। नैनीताल और मसूरी के ऊंचे पहाड़ों और गहरे खड्डों के बीच के घुमावदार रास्ते की तरह नहीं। एक बहुत पुराने सफेद पत्थर के बने गिरजाघर के अलावा वह छोटी सी झील जिसके चारों ओर ढालू जमीन पर हरी मुलायम घास के लान और बीच बीच में गुलदस्तों जैसी फूलों की क्यारियां तो देखते ही बनती हैं। एक किनारे पर एक लोहे का लकड़ी का पुल भी है जिसे रंग-बिरंगा पेंट करके बहुत ही सुन्दर बना दिया है। शिलांग से 8-10 मील दूर जंगल में एक झरने को देखने भी हम गये थे। उसी के पास एक टीले के ऊपर चढ़ जाने पर सामने ही एक पहाड़ी के किनारे जाती हुयी वह सड़क दिखाई देती थी जिसके उस पार बंगला देश की सीमा शुरु हो जाती हैं और पिछले युद्ध में गोलाबारी हुयी थी। चेरापूंजी जहां दुनियां में सबसे अधिक वर्षा होती है और जिसके बारे में बचपन के पाठ्य पुस्तकों में पढ़ते आये थे शिलांग से लगभग 60 मील दूर थी। मन में बड़ा कौतूहल भी उसे देखने को था पर लोगों ने कहा वहां देखने को है ही क्या बस प्रतिदिन हर समय वर्षा होती रहती है।

शिलांग जाते समय और आते समय भी विद्यादेवी मेरे पास उसी सीट पर बैठीं थीं जिस पर केवल दो व्यक्ति बैठ सकते थे। मैं उनसे इतना ही परिचित था कि कलकत्ता विश्वविद्यालय में बाल साहित्य पर शोध कार्य कर रही हैं और मुझसे कुछ सहयोग चाहती हैं। उनके जो पत्र मेरे पास आये थे उनसे लगता था कि कुमारी हैं और जिज्ञासु भी। रास्ते में उनसे घर परिवार की बातें हुयी तो ज्ञात हुआ कि विवाह के कुछ दिनों बाद ही पति से संबंध विच्छेद हो गया था और वह खड्गपुर के रेलवे से अवकाश प्राप्त पिता और माता के साथ रहतीं और वहीं रेलवे के एक स्कूल में टीचर हैं। बीतचीत में मैंने उन्हें दूसरा विवाह कर लेने की सलाह दी। इस पर वह भावुक भी बहुत हो उठीं थीं। मैं उन्हें यही समझता रहा था कि वृद्ध माता-पिता के सहारे तुम्हारा लंबा जीवन कैसे कटेगा वह अधिकतर चुप ही रहीं पर सहानुभूति प्रकट करने वाले के प्रति जैसा एक आदर का भाव बन जाता है वैसा उनका भी बन गया। और दूसरी अभिव्यक्ति तब हुयी जब गोहाटी से विदा होते समय शिविर के अन्य कई लोगों के साथ मुझे डा. के.पी. सिंह, रेड्डी और शिविर संयोजक हिन्दी निदेशालय के उप निदेशक कृष्ण गोपाल को हवाई अड्डे तक ले जाने वाली बस तक छोड़ने

के लिए एअरवेज स्टेशन तक आईं। बस छूटने के अंतिम क्षण तक वह और सबके साथ सड़क पर खड़ी बातें करती रही थीं। विदा के वक्त बिछुड़ने का दुख सबको होता है पर मैं जब बस पर चढ़ने को मुड़ा तो वह पैर छूकर आंखों में आंसू भरकर सचमुच रो पड़ी थी। डा. के.पी. कृष्ण गोपाल और रेड्डी बस में बैठे यह देख रहे थे। जब बस चल दी तो के.पी. ने जो हैं ही विनोदी स्वभाव के, कहा-'सेवक जी, यह विद्या जी रो क्यों रही थीं?' मैंने केवल दो शब्द कहकर-'पागलपन भावुकता' बात टाल दी। पर जो व्यंग्य वह कर चुके थे। उसका भरपूर आनन्द उन तीनों ने लिया।

विद्या जी स्वभाव से सरल और भावुक पर अपने अंदर से बड़ी दृढ़ निश्चयी महिला हैं। अपने शोध कार्य के दौरान वह कई बार मेरे घर बरेली आयीं। और चार-चार पांच पांच दिन रहीं। मुझसे भाई साहब कहती हैं और घर में सबसे वही संबंध अब तक मानती हैं। मुझे हर रक्षाबन्धन पर राखी भेजना कभी नहीं भूलती हैं। मेरा बेटा और बहू उन्हें बुआ जी कहते हैं और वह हर बार उनके लिए कलकत्ते के बंद डिब्बों में रसगुल्ले, साड़ी या सजावट की कोई चीज लेकर आई। मेरे लेख या पुस्तकें जो मेरे पास हैं उनका अध्ययन करतीं और मुझसे हुयी बातचीत का टेप रिकार्ड करके ले जाती थीं। मेरी एक कविता 'लाल टमाटर' को उन्होंने खड्गपुर में छोटे बच्चों से मंच पर अभिनीत भी कराया था। एक बार बरेली आने पर उन्होंने बड़े विश्वास से मुझसे सलाह ली-'एक इंजीनियर हैं। विवाह का प्रस्ताव रखा है। अच्छे आदमी हैं। विदेश सेवा में भी जा सकते हैं। आपकी क्या राय है।' मैंने उनसे कहा- 'आदमी ठीक हों तो तुम अवश्य विवाह कर लो। पर मां का कुछ प्रबन्ध तो तुम्हें करना ही पड़ेगा। क्योंकि पिताजी तो अब रहे नहीं। पर सर्विस करते हुए स्वतंत्र रहने की शायद वह अभ्यस्त हो गयीं हैं, इसलिये विवाह के बंधन में बंधना उन्होंने पसंद नहीं किया। एक बार जब मैं बाल साहित्य सेमिनार में कलकत्ता गया हुआ था तो वह खड्गपुर से आकर मुझे अपने घर ले भी गयीं थीं और उनके माता-पिता ने मुझसे बड़े स्नेह का व्यवहार किया था।

□□

स्वतंत्रता संग्राम में एम.एन. राय

शब्दों के जो अर्थ होते हैं अक्सर हम उनसे भिन्न समझते हैं और वही हमें बताये जाते हैं। अपने देश की स्वतंत्रता को ही ले लो तो हम केवल यह जानते हैं कि अंग्रेजों का शासन समाप्त होने के बाद अपने देशवासियों का शासन स्थापित हो जाना ही नागरिकों की स्वतंत्रता का अर्थ है और यदि कांग्रेस और उनके नेता न होते, उन्होंने संग्राम न छेड़ा होता तो कदाचित यह स्वतंत्रता हमें प्राप्त नहीं हो सकती थी। पर यह हमें नहीं बताया जाता, न हम उसे मानने को तैयार हो पाते हैं कि द्वितीय विश्व युद्ध लगभग 6 वर्ष तक लड़ने के बाद ब्रिटिश शासन अपने आप में इतना कमजोर हो गया था। कि हर एक अंडे और एक एक रोटी के टुकड़े के लिए इंगलैड में लंबी कतारे लगती थीं। वह भारत को अपने अधीन रखने का खर्चा उठाने के लिए भारत का शोषण करते रहने में भी असमर्थ था। यह भी एक कारण था जिससे देश को स्वतंत्रता मिल गयी। ब्रिटेन ही क्या दुनिया के और भी कई साम्राज्यवादी देश यदि द्वितीय विश्व युद्ध में लड़ते-लड़ते कमजोर न हो गये होते और फिर जिस संयुक्त राष्ट्र परिषद का गठन हुआ उसने भी औपनिवेशिक देशों को स्वतंत्रता दिलाने का निश्चय न किया होता तो एशिया अफ्रीका और दक्षिण अमरीका के और भी कई देश स्वतंत्र न हो पाते। फिर भी कांग्रेस के सन् 1885 में अपने जन्म से लेकर स्वतंत्रता प्राप्ति तक स्वतंत्रता के लिए किए गये प्रयासों को नकारना भी एक कृतघ्नता होगी। तात्पर्य केवल यह है कि किसी सत्य को सम्पूर्ण तथ्यों को दृष्टि में रखकर ही निर्धारित किया जाना चाहिए।

भारत में जो स्वाधीनता संग्राम कांग्रेस की ओर से देश में प्रथम विश्व युद्ध के बाद या इससे पहले से चलाया जा रहा था उससे एम.एन. राय की मतभिन्नता सन् 1919 के अंत में मास्को पहुंचने के बाद उस समय और भी स्पष्ट सामने आयी जब उन्हें लेनिन का राष्ट्रीय और औपनिवेशक समस्या पर लिखा हुआ वह थीसिस पढ़ने को दिया गया। इस पर लेनिन ने खुद अपने हाथ से लिख रखा था- कामरेड राय को उनके सुझावों के लिए। यह थीसिस लेनिन ने कम्यूनिस्ट इन्टरनेशनल में प्रस्तुत करने के लिए तैयार किया था। लेनिन से

पहली भेंट में ही राय ने उसकी आलोचना करते हुये यह विचार रखा था कि औपनिवेशक राज्य में चलने वाले स्वतंत्रता संग्राम का नेतृत्व करने वाले क्रांतिकारी ही नहीं होते, वह लोग घोर प्रतिक्रियावादी भी हो सकते हैं। इसलिये मजदूर और किसानों को संगठित करके तैयार करना चाहिये जिससे स्वतंत्रता संग्राम के आंदोलनों का नेतृत्व कर सकें। लेनिन के थीसिस में इसके विपरीत तत्कालीन आंदोलनों के उन नेताओं का ही समर्थन करने की बात कही गयी थी जो उस वर्ग से निकले हुये थे जो शोषित और दलित वर्ग का नेतृत्व कर ही नहीं सकते थे। लेकिन राय के उन विचारों से असहमत नहीं हो सके और कम्यूनिस्ट इंटरनेशनल में एक साथ दोनों के थीसिस स्वीकार किये गये।

इसके बाद ही राय को रूस की दक्षिणी सीमा के क्षेत्र में जागरूकता पैदा करने और विद्रोहियों पर काबू पाने के लिए ताशकंद भेजा गया था। मास्को से वहां तक कई हजार मील की यात्रा राय ने जिन दो रेलों में की उनके कई डिब्बों में रूबल (रुपये) और शेष डिब्बों में हथियार भरे हुये थे। वहां पहुंच कर राय ने भारत में चल रहे खिलाफत आंदोलन की ओर से टर्की गये हुये बहुत से मुजाहिरों से सम्पर्क स्थापित किया जिससे उन्हें साम्यवादी सिद्धान्तों में दीक्षित करके भारत लौटने पर किसानों मजदूरों को संगठित करने के लिए तैयार किया जा सके। ताशकंद में उन्होंने प्रशिक्षण के लिए एक विद्यालय भी खोला था उसमें शिक्षित कई लोगों ने बाद में भारत लौट कर चोरी छुपे कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना की।

महात्मा गांधी ने सन् 1929–30 में जो असहयोग आंदोलन चलाया था उसे राय देश की आजादी के लिए कोई क्रांतिकारी आंदोलन नहीं समझते थे। वह केवल् नौकरशाही के विरूद्ध एक आंदोलन था जिसमें एक संत के कहने पर देश के धार्मिक भावना प्रधान बहुत से लोग आ जुड़े थे और धनी मानी वर्ग के जो लोग उसका नेतृत्व करने के लिए निकल आये थे वह अंग्रेज शासकों से कोई समझौता ही कर सकते थे। इसलिये उन्होंने उस आंदोलन को कोई अर्थ देने के उद्देश्य से एक मैनिफैस्टो तैयार किया था और उसकी प्रतियां बड़ी संख्या में छपवाकर अपने एक सहयोगी नलिनी गुप्ता के हाथों अहमदाबाद में होने वाले कांग्रेस आन्दोलन के अध्यक्ष चितरंजन दास और कांग्रेस के बहुत से नेताओं के पास भेजी गयी थी। उसमें कांग्रेस को यह सलाह दी गयी थी कि आन्दोलनों में किसानों मजदूरों को अपने साथ लेना चाहिये जिससे वह सही अर्थों में जन आन्दोलन बन सके और उन्हें खाली आजादी का सपना दिखाने की वजाय यह बताना चाहिये कि उससे उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार होगा। उसमें यह भी बताया गया था कि भारतीय समाज को उर्द्धाधर विभाजित देख कर हिन्दू मुस्लिम एकता का नारा देने से कोई लाभ नहीं होगा। इससे तो समाज धर्म और

जाति बिरादरी की सीमाओं में ही और विभाजित होगा। समाज को समस्तर विभाजित करके देखना चाहिये। इससे मजदूर किसानों का बहुत बड़ा वर्ग आंदोलन में शामिल होकर देश को अंग्रेजों की दासता से मुक्त ही नहीं समाज में कल्याणकारी परिवर्तन कर सकेगा। राय की यह सलाह यदि सन् 20 में ही कांग्रेस द्वारा मान ली गयी होती तो देश में गरीब अमीर में जो एक और बीस हजार का अंतर है वह न होता और यहां के निवासी विभिन्न धर्मों और जातियों में इतने बटे हुये न होते। राय के उस मैनिफेस्टो के आधार पर ही मौलाना हसरत मोहानी ने कांग्रेस के अधिवेशन में पहली बार पूर्ण राज्य का प्रस्ताव रखा था जो अस्वीकृत कर दिया गया और उसके बाद ही मोहानी को गिरफ्तार कर लिया गया।

राय ने ताशकंद और बुखारा में रहकर जिन भारतीयों को स्वतंत्रता संग्राम में काम करने के लिए तैयार किया था वही बाद में भारत आकर काम करने के बाद लाहौर, पेशावर, मेरठ और कानपुर के उन केसों में अभियुक्त बनाये गये जिनमें उन पर राजद्रोह के षड्यंत्र का आरोप लगाया गया था। राय के कोसों दूर होते हुये भी सन् 24 और सन् 29 में चलने वाले कानपुर और मेरठ षड्यंत्र केसों में राय भी अभियुक्त बनाये गये थे। एस.ए. डांगे, मुजफ्फर अहमद, शौकत उस्मानी और नलिनी गुप्ता भी उनमें सह अभियुक्त थे। राय ने इन वर्षों में देश से बहुत दूर बाहर रहते हुये भी कितना काम देश की आजादी के लिए किया था यह भारत सरकार के गुप्तचर विभाग की उस रिपोर्ट से ज्ञात होता है जिसमें कहा गया है- "राय में ब्रिटिश विरोधी देश भक्ति की की जलती हुई भावना है। उसने बड़े ढंग से देश में क्रांतिकारियों का एक दल संगठित करके तैयार कर दिया है जिसका प्रमाण मेरठ षड्यंत्र केस है। श्रमिक वर्ग पर इस दल का प्रभाव बड़ी तेजी से बढ़ता जा रहा है।"

लेनिन की मृत्यु के बाद रूस की कम्युनिस्ट पार्टी की कम्युनिस्ट इंटर नेशनल पर, और रूस के शासन पर स्टालिन और उसके गुट की एकाधिकार वादी प्रवृत्ति पूरी तरह से हावी हो जाने के कारण जब राय को निष्कासित कर दिया गया उसके बाद भी वह भारत की स्वतंत्रता को कुछ अर्थ देने का प्रयत्न करते रहे। स्वतंत्रता प्राप्त कर लेने के बाद देश के बहुसंख्यक गरीब और दुर्बल आय लोग कितने सुखी और स्वतंत्र होंगे और उसके लिए क्या व्यवस्था होगी इसकी कोई निशिचित रूप रेखा भी स्वतंत्रता का संग्राम लड़ने वालों के सामने होना चाहिये थी। केवल सत्ता परिवर्तन से किसी देश के लोग सुखी सम्पन्न नहीं हो सकते। सन् 1921 में लाहौर कांग्रेस ने जब पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव पारित कर दिया तो राय को बहुत प्रसन्नता हुई। उन्होंने "लाहौर कांग्रेस से सबक" नाम से उस प्रस्ताव को अर्थ पूर्ण बनाने के उद्देश्य से एक प्रपत्र तैयार किया

जिसमें कांग्रेस से कुछ इस प्रकार का कार्यक्रम अपनाने का आग्रह किया गया था- भारतीय गणराज्य का एक ऐसा जनतांत्रिक संविधान बनाया जाये जिसमें सरकार वयस्क मताधिकार के आधार पर जनता द्वारा चुनी गयी संसद के प्रति उत्तरदायी हो और जिसमें राज्यों को स्थानीय मामलों में पूर्ण स्वायत्ता प्राप्त हो। किसी भी रूप में पायी जाने वाली जमींदारी प्रथा और रजवाड़ों को समाप्त किया जाये। भूमि का राष्ट्रीयकारण करके खेती करने वालों को भूमि का स्वामी बनाया जाये और उन्हें कोई राजस्व न देना पड़े। किसानों की कर्जदारी और बंधुआ मजदूरी समाप्त की जाये। सस्ता ऋण देने के लिए भूमि बैंकों की स्थापना की जाये। श्रमिकों के लिए काम के घंटे और मजदूरी कानून से निश्चित की जाये। श्रमिक संगठन बनाये जायें और शिक्षा निशुल्क हो इत्यादि। यह प्रपत्र श्री राय ने कांग्रेस के सभी नेताओं के पास रूस से जर्मनी पहुंच कर भिजवाया था पर इसे भी कार्यान्वित करने के लिए स्वीकार नहीं किया गया क्योंकि उस समय कांग्रेस गांधी के नेतृत्व में विदेशी कपड़ों की होली जलाने, शराब की दुकानों पर पिकेटिंग करने, नमक कानून तोड़ने, चर्खा चलाने, खादी अपनाने और अछूतोद्धार आदि के कार्यों में व्यस्त थी। राय के कार्यक्रमों को यदि उसी समय अपना लिया गया होता तो स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उनमें से जिन्हें संवैधानिक रूप से स्वीकार कर लिया गया उन बातों के प्रति देश की जनता में ऐसी जागरूकता उत्पन्न हो गयी होती कि उन्हें लागू करने में जो कठिनाईयां आती रही हैं वह न आई होतीं।

सन् 30 में सोशलिस्ट इंटरनेशनल की कार्यकारिणी की एक बैठक बर्लिन में हुई थी। ब्रिटिश लेबर पार्टी के कई बुजुर्ग नेता उसमें आये थे। राय ने उनके नाम एक खुला हुआ पत्र लिख कर उनका ध्यान ब्रिटिश शासन द्वारा स्वाधीनता संग्राम सेनानियों पर किये जा रहे अत्याचारों की ओर आकर्षित किया था और उसी समय उन्होंने कुछ भारतीयों को साथ लेकर एक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना भी की थी। 'वैनगार्ड' नाम का एक पत्र भी निकाला था जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं की समीक्षा के साथ-साथ भारतीय स्वाधीनता की वकालत भी की जाती थी।

15 अगस्त से पहले सशक्त क्रांति करके भारत को अंग्रेजों की दासता से मुक्त कराने के उद्देश्य से विदेशी सहायता के लिए नरेन्द्र नाथ से सी. मार्टिन नाम बदल कर गये एम.एन. राय का मन अब अपने देश भारत लौट आने के लिए छटपटाने लगा था। जर्मनी में जनता के मानवीय अधिकारों का बेरहमी से अपहरण करने वाले नाजीवाद या फासिज्म का अभ्युदय उन्होंने खुद अपनी आंखों से देखा था इसलिये जनतंत्र में उनका विश्वास और भी दृढ़ हो गया था। ब्रिटिश शासन की दृष्टि में वह अब भी एक सशक्त साम्यवादी क्रांतिकारी थे।

वह जानते थे कि जर्मनी से भारत आते आते रास्ते में ही कहीं पकड़े ही न गये तो भी वह भारत में तो गिरफ्तार कर ही लिये जायेंगे। उसके बाद उन्हें कितनी ही यातनाएं दी जा सकेंगी। भारत में अपनी सुरक्षा की व्यवस्था करने के लिए उन्होंने अपने तीन साथियों तैयब शेख, सुन्दर कबाड़ी और ब्रजेश सिंह को पहले से ही भारत में अपनी सुरक्षा की व्यवस्था करने के लिए भारत भेज दिया था। और ब्रिटिश साम्राज्य और भारत सरकार की पुलिस की आंखों में धूल झोककर दिसम्बर सन् 30 में वह करांची और वहां से डा. महमूद के रूप में बंबई आ गये। आते ही उनके पूर्व परिचित कामरेड चोरी छिपा आकर उनसे मिलने और उनके निर्देशन में श्रमिकों को संगठित करते हुये भारतीय स्वाधीनता संग्राम में योगदान करने लगे। अखिल भारतीय कांग्रेस के कराची अधिवेशन में वह छद्म नाम से मौजूद थे। पंडित नेहरू और सुभाष चन्द्र बोस से उनका वहां काफी विचार विनिमय हुआ। और उस अधिवेशन के प्रस्तावों में सम्पूर्ण स्वराज्य की घोषणा को सामाजिक और आर्थिक उद्देश्यों का आधार दिलाने में उनका बड़ा हाथ था। पंडित नेहरू ने उन्हें भारत की स्थिति से अवगत कराने के लिए उनके दौरे का प्रबन्ध किया और उन्होंने विशेष रूप से उत्तर प्रदेश के गांवों तक का दौरा बंगाल के एक राष्ट्रीय नेता डाक्टर भट्टाचार्य के नाम से किया। लगभग सात महीने इस प्रकार चोरी छिपा व्यापक जन संपर्क बना लेने और अपने से सहमत लोगों का एक बहुत बड़ा दल कांग्रेस में काम करने के लिए खड़ा कर देने के बाद डा. महमूद बंबई में पुलिस द्वारा गिरफ्तार कर लिये गये। कई वर्ष पहले समाप्त हो चुका कानपुर षड़यंत्र केस फिर से उखाड़ कर उनके विरुद्ध चलाया गया। सत्र न्यायालय में उन्होंने अपना बचाव स्वयं किया और बहस यह की कि जिस ब्रिटिश शासन को भारत में होने का कोई कानूनी अधिकार ही नहीं है वह अपने किसी कानून से किसी को कोई दंड दे ही कैसे सकता है? एक बहुत लंबा लिखित वक्तव्य उन्होंने जज को दिया था जो बाद में 'माई डिफेंस' से प्रकाशित भी किया गया था। जज ने उनके इस तर्क से नाराज होकर जितना दंड पहली बार के केस में अभियुक्तों को दिया था उससे कहीं अधिक बारह वर्ष का कठोर कारावास उन्हें सुनाया। के.एन. काटजू ने उच्च न्यायालय में अपील की पैरवी करके यदि कारावास दंड आधा न करा दिया होता तो आगे के छह के बजाय बारह वर्ष उनके उस अपराध के लिए जेल में बीतते, जिससे लगातार विदेशों में रहने के कारण उनका सीधे कोई संबंध नहीं था। उनका अधिकांश जेल जीवन बरेली सेंट्रल जेल में बीता। अपने व्यवहार से जेल अधिकारियों को खुश रख कर वह इस काल में भी अपना संपर्क अपने अनुयायियों से बनाये रहते थे जिससे वह बंद होते हुये भी देश के लिए बहुत कुछ करने में सफल हुये।

इसका प्रमाण साम्यवादियों के विषय में तत्कालीन भारत सरकार की वह रिपोर्ट है जिसमें लिखा है कि राय के एजेंटों ने सन् 34 तक देश में अद्भुत काम किया है। उन्होंने अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस में अपनी स्थिति मजबूत बना ली है। 40 श्रमिक संगठनों को उससे सम्बद्ध करा दिया है और अपना एक स्थायी कार्यालय कलकत्ता में खोल दिया है। कांग्रेस के कई नेताओं को वह जेल से पत्र भी लिखते रहे थे जिनके आधार पर कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी बनी। वह सब पत्र कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के नाम से बाद में प्रकाशित भी हुये थे।

नवम्बर सन् 1935 में जब राय देहरादून जेल से छूटे तो उसके तुरन्त बाद बरेली में उत्तर प्रदेश कांग्रेस कांफ्रेस हो रही थी। पं. नेहरू के निमंत्रण पर वह उसमें आये। अखिल भारतीय कांग्रेस समिति तथा कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्य चुन लिये गये। फैजपुर कांग्रेस में तो वह सबके आकर्षण का केन्द्र बन गये थे। वहां उन्होंने निम्नतम स्तर तक कांग्रेस समितियों को गठित करके संगठित रूप से आंदोलन में जनता को अपने साथ लेकर चलने का विचार रखा और श्रमिकों से अधिक संघर्षशील होने का आवाहन किया। इससे दक्षिण पंथी कांग्रेस जन सशंकित हुये लेकिन वामपंथी विचारधारा के सभी कांग्रेस जन उनसे आ जुड़े। उसी समय उन्होंने बंबई से 'इन्डिपेंडेंस इंडिया' नाम का एक साप्ताहिक पत्र निकालना प्रारम्भ किया तो एक मासिक 'रेडिकल हयूमनिस्ट' के रूप में अब तक निकल रहा है। राय का विचार था कि राष्ट्रीयतावादी राजनीतिक आंदोलन के साथ एक बौद्धिक क्रांति का आंदोलन भी देश में चलता रहना चाहिये। जिससे एक सामाजिक क्रांति संभव हो सके। यदि पंडित नेहरू आदि और भी नेताओं ने उसमें राय का साथ दिया होता तो स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद समाज में जो अविश्वास और दकियानूसीपन हम अब तक देख रहे हैं वह शायद देखने को न मिलता।

राय के विचारों से प्रभावित होने वालों में जय प्रकाश नारायण भी थे। पर उन्होंने कांग्रेस में जिस सोशलिस्ट पार्टी का गठन किया था उसके प्रति राष्ट्रीयतावादी और गांधी की आध्यात्मिक विचारधारा से प्रभावित होने के कारण राय सहमत न हो सके। इसलिये उन्होंने कांग्रेस में अपना एक अलग दल 'लीग आफ रेडिकल कांग्रेस मेन' नाम से बना लिया था।

योरुप में 1 सितम्बर सन् 1939 को जब द्वितीय विश्व महायुद्ध प्रारम्भ हुआ तो कांग्रेस के नेताओं का विचार था कि उसका लाभ ब्रिटिश शासन पर दबाव डाल कर उससे आजादी का समझौता करने के रूप में उठाना चाहिये। प्रारम्भ में गांधी इसके पक्ष में नहीं थे पर बाद में उसी विचार से सहमत हो गये। लेकिन राय का शुरु से ही यह विचार था कि वह युद्ध एक जन युद्ध है। अंग्रेज

जनता की आजादी के दुश्मन फासिज्म के विरुद्ध लड़ रहे हैं इसलिये हमें अंग्रेजों की मदद करना चाहिये। कांग्रेस ने फिर भी जब अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष जारी रखने का निर्णय लिया तो राय के सामने कांग्रेस से अलग हो जाने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं था। उन्होंने अपनी एक अलग रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी बना ली। उस समय जब कोई राय से पूछता था- अंग्रेजों की मदद करने से देश को आजादी कैसे मिलेगी। तो उनका उत्तर था- द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त होते-होते ब्रिटिश साम्राज्यवाद दिवालिया होकर अपने आप छिन्न भिन्न हो जायेगा। पर यदि फासिज्द ताकतें विजयीं हो गयी तो भारत पर जर्मनी या जापान का राज्य होगा। द्वितीय विश्व युद्ध के उस काल में राय और उनके साथ देश भर में फासिज्म विरोधी प्रचार करते रहे और कांग्रेस ब्रिटिश शासन और साम्राज्यवाद के विरुद्ध आंदोलन चलाती रही।

युद्ध की समाप्ति के बाद देश को आजादी मिलने की बात अंग्रेजों से होने लगी तो राय ने एक पीपुल्स प्लान तैयार कराया जिसके आधार पर देश को आर्थिक विकास के पथ पर ले जाना था। उनका यह प्लान उस समय तैयार कराये गये गांधियन प्लान, बिरला प्लान से सर्वथा भिन्न था। राय ने स्वायत्त भारत को दिये जाने वाले संविधान का मसविदा भी तैयार किया जिसकी जनतंत्र को निम्नतर गांव और मुहल्ला से संसद तक समितियों के रूप में गठित करने की केवल एक बार यदि मान ली जाती तो देश में जनतंत्र का ढांचा ही दूसरा होता और किसी भी रूप में एकाधिकारवादी शासन की आशंका कभी पैदा हो ही नहीं सकती थी।

स्वतंत्रता मिलने के बाद महात्मा गांधी ने कहा था कि अब कांग्रेस को विघटित कर देना चाहिये क्योंकि उसका उद्देश्य पूरा हो गया है। ठीक उसी समय एन.एम. राय अपने राजनीतिक चिन्तन से इस परिणाम पर पहुंचे थे कि राजनीतिक दल के संगठन की प्रवृत्ति हमेशा अधिनायकवाद की ओर ले जाने वाली साबित होती है। इसलिये उन्होंने रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी को विघटित कर दिया था। इसका यह अर्थ नहीं था कि गांधी और राय दोनों देश के लिए राजनीति को अनावश्यक समझते थे। वह उसे नैतिकता का आधार देना चाहते थे। नैतिक व्यक्ति मनुष्य ही हो सकता है। समाज के नैतिक होने की कल्पना तभी की जा सकती है जब व्यक्ति नैतिक हो। भीड़ या समूह (दल) में किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कुछ लोग अनैतिक भी हो जा सकते हैं। पर व्यक्ति अपने आचरण के लिये स्वयं उत्तरदायी होता है। उसकी कथनी और करनी में कोई अंतर नहीं हो सकता। देश के दोनों महान नेताओं की निर्दलीय राजनीति की यह एक ही बात यदि कांग्रेस के नेताओं ने मान ली होती और राय के कहने के अनुसार जनता को छोटी-छोटी जन समितियों के रूप में संगठित कर लिया



गया होता तो समाज के हर व्यक्ति की सार्वजनिक हित को ठुकरा कर व्यक्तिगत लाभ के लिए की गयी चेष्टाओं को पहचानने और उन्हें रोकने का उपाय किया जा सकता था। इससे स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जिस नये समाज का निर्माण होता वह अद्वितीय और अनुकरणीय होता।

यह दलीय राजनीति का ही दुष्परिणाम था कि राय के जीवन के अन्तिम कुछ वर्षों में मतभेद हो जाने के कारण कांग्रेस ने राय की उपेक्षा करके उन्हें ऐसा भुला दिया कि स्वतंत्रता संग्राम के किसी इतिहास में कहीं कोई उल्लेख नहीं किया जाता। राय ने विदेशों में भी भारत का मुख उज्जवल करने और भारतीय स्वाधीनता संग्राम को गति देने के साथ -साथ भारत में आकर जन सभाओं को संबोधित करना गांव-गांव का दौरा करके जन् चेतना उत्पन्न करना स्वतंत्रता की कल्पना को कुछ ठोस आधार देना आदि वही सब तो किया जो देश के अन्य राजनीतिक नेता करते आये थे। फिर भी उन्हें भुला क्यों दिया गया? इसका उत्तर देश में यदि कभी स्वतंत्रता संग्राम का सच्चा इतिहास लिखा गया तो उसमें अवश्य दिया जायेगा।

❑❑

गाँधी और राय

एम.एन. राय को देशवासी आम तौर से अधिकतर भूल चुके हैं पर उनका देश में राजनीतिक चेतना लाने में बहुत बड़ा योगदान रहा है। रूसी क्रान्ति के नेता लेनिन के वह एक समय दाहिने हाथ रहे थे और कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल के नेताओं में ट्राटस्की, बोल्डबिन आदि के साथ उनका भी नाम लिया जाता था। एक पूरी रेलगाड़ी के आधे डिब्बों में अस्त्र-शस्त्र और आधे डिब्बों में धन-दौलत भरकर उन्हें मध्य एशिया में साम्यवाद का प्रचार करने के लिये भेजा गया था। वहीं तुर्किस्तान में एक स्कूल खोलकर उन्होंने कुछ भारतीयों को मार्क्सवादी विचारधारा का प्रशिक्षण दिया था जिन्होंने बाद में भारत लौटकर साम्यवादी दल के संगठन के लिये पृष्ठभूमि तैयार की थी और इस तरह वह देश में साम्यवादी आन्दोलन के जन्मदाता कहे जा सकते हैं। स्टालिन में सत्ता में आने के बाद रूस छोड़कर जर्मनी चले आने के बाद वह तत्कालीन भारतीय कांग्रेस के नेताओं के पास अपने सुझाव और प्रस्ताव लिखकर भेजते रहते थे जो कांग्रेस के अधिवेशनों में दूसरे के द्वारा रखे जाते और स्वीकार भी किये जाते थे। सन् 30 में ब्रिटिश सरकार की आंखों में धूल झोंककर जब वह डा. मुहम्मद के रूप में आकर लगभग एक साल छिपे-छिपे रहे तभी वह पंडित नेहरू के निकट सम्पर्क में आ गये थे और कांग्रेस के अधिवेशन में अज्ञात व्यक्ति के रूप में सम्मिलित होकर उसमें पास होने वाले प्रस्ताव भी तैयार किये थे। उन्हीं दिनों कांग्रेस के एक कार्यकर्ता डा. बनर्जी बनकर उन्होंने उत्तर भारत का दौरा भी किया था।

गांधी दक्षिण अफ्रिका में किये गये अपने आन्दोलनों और प्रयोगों के अनुभवों के आधार पर सत्य अहिंसा का जीवन दर्शन और सत्याग्रह की राजनीति लेकर भारत आये थे। चम्पारण आन्दोलन के सिलसिले में जब वह भी अन्य सहयोगियों के साथ पकड़े गये तो उन्होंने अपने साथियों को न्यायालय में जाकर लगाये गये आरोपों को इन्कार करके दंड भोगने की सलाह दी थी। उनका ब्रिटिश न्यायकारियों से यह भी कहना था कि तुम्हें भारत पर शासन करने का कोई अधिकार नहीं है पर जो कानून तुमने बनाया है उसका उल्लंघन

तो हम कर ही रहे हैं। इसलिये हम अपराध स्वीकार करते हैं और दंड भोगने के लिये तैयार हैं। राय जब पकड़े गये और कानपुर षड़यंत्र केस में उन्हें 12 वर्ष कठोर कारावास का दंड सुनाया गया था तो उसके विरुद्ध दायर अपील में उन्होंने यह बहस की थी कि जब ब्रिटेन को भारत पर शासन करने का कोई अधिकार ही नहीं है तो उसके बनाये हुए कानून की कोई वैधता नहीं है और उनके अन्तर्गत उन्हें दंडित नहीं किया जा सकता। छह वर्ष कारावास दंड भोग लेने के बाद वह देहरादून से छूटकर पंडित नेहरू के निमंत्रण पर बरेली आये थे और यहां होने वाले प्रान्तीय कांग्रेस अधिवेशन में उन्हें दाखिल भारतीय कांग्रेस का सदस्य चुन दिया गया था। लेकिन सन् 1939 में द्वितीय विश्व महायुद्ध छिड़ने पर उन्होंने जनतांत्रिक शक्तियों की पक्षधरता करते हुए ब्रिटेन को फासिस्ट शक्तियों से लड़ने वाला बताकर उसे युद्ध में सहायता देने की वकालत की थी। इसीलिये वह कांग्रेस और गांधी से अलग दिशा में चले गये थे। उस समय किसी के पूछने पर उन्होंने कहा था कि इस युद्ध के बाद ब्रिटिश साम्राज्यवाद अपने आप समाप्त हो जायेगा और देश को स्वतंत्रता तो मिल ही जायेगी। उनका तर्क था कि युद्ध में जीतने के बाद भी ब्रिटेन की आर्थिक स्थिति ही इतनी कमजोर हो जायेगी कि वह फिर भारत को अपने अधीन रख ही नहीं सकेगा।

लेकिन युद्ध के बाद राय और गांधी एक बात पर सहमत थे कि अब दलगत राजनीति की कोई उपादेयता नहीं है। गांधी का कहना था कि कांग्रेस ने देश को आजादी दिलाने का अपना काम पूरा कर लिया इसलिये अब उसे विघटित कर देना चाहिये और देश में एक सर्वोदय आन्दोलन चलाना चाहिये, जिसका उद्देश्य दल के भेदभाव के बिना सबको साथ लेकर सबका विकास करना होना चाहिये। राय भी अपने दार्शनिक चिन्तन में इस परिणाम पर पहुंचे थे कि दलगत राजनीति अन्ततः देश को अधिनायकवाद या फासिज्म की ओर ले जाने वाली होती है इसलिये जनता को नीचे से छोटी-छोटी ग्राम या मुहल्ला समितियों के रूप में संगठित होकर स्वयं अपने पैरों पर खड़े होना चाहिये और देश में सर्वोच्च सत्ता शक्ति विकेन्द्रित होकर जनसमितियों के माध्यम से जनता के हाथ में रहनी चाहिये। देश में गांधी और राय के अलावा और कोई नेता राजनीतिक दलों को विघटित करके निर्दलीय राजनीति के पक्ष में नहीं था। जयप्रकाश नारायण ने भी एक समाजवादी पार्टी सुसंगठित करने की बहुत चेष्टा की और बाद में बिनोवा भावे के साथ सर्वोदय के कार्यों में लग गये थे, लेकिन जब एमरजेन्सी लगने से पहले उन्होंने देश की राजनीति में अधिनायकवादी प्रवृत्तियां पनपती हुई देखी तो सत्ता शक्ति के विकेन्द्रीकरण का प्रचार करते हुए छोटी-छोटी ग्राम व मुहल्ला समितियों के गठन पर बल देने लगे थे। तब फिर

गांधीजी की सर्वोदयी और राय की निर्दलीय राजनीति की विचारधाराएं एक दूसरे के बहुत पास आ गई थीं। दोनों में भिन्नताओं के होते हुए भी अनेक समानताएं थीं। दोनों सबके विकास की संभावनाओं को लिये हुए एक नये समाज की रचना करना चाहते थे। दोनों की दृष्टि में व्यक्ति मनुष्य का अधिक महत्व था क्योंकि वह समझते थे कि व्यक्ति के नैतिक होने से ही समाज में नैतिकता कायम रह सकती है। अचछे लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अच्छे साधनों की बात दोनों मानते थे। राय का कहना था कि डकैती और हत्याओं से की हुई क्रान्ति अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल नहीं हो पाती जैसे कि रूस में क्रान्ति एक राज्यविहीन समाज के बजाय सर्वहारा वर्ग के नाम पर एक दल के भीतर के एक गुट की डिक्टेटरशिप कायम करके रह गई। दोनों मनुष्य को समाज का निर्माता मानते थे और संघर्ष के बजाय सहयोग से उसके विकसित होने की कल्पना करते थे। दोनों मनुष्य को समाज का निर्माता मानते थे और संघर्ष के बजाय सहयोग से उसके विकसित होने की कल्पना करते थे। दोनों मनुष्य के आत्मानुशासन या स्वशासनकी बात कहते थे। गांधी की यह कल्पना भावुकता की इस सीमा तक पहुंच गई थी कि वह अपने रामराज्य में भेड़ और सिंह के एक घाट पर पानी पीने को एक सत्य हो सकने वाला आदर्श मानते थे। वह कहते थे पूंजीपति समाज में गरीब श्रमिकों के ट्रस्ट बनकर रह सकते हैं। बिनोवा भावे ने स्वेच्छा से भूदान ग्रामदान और जीवनदान करने का आन्दोलन इसी आधार पर चलाया था। राय किसी भी सामाजिक परिवर्तन से पहले एक बौद्धिक या वैचारिक क्रान्ति को आवश्यक मानते थे। नैतिकता को गांधी और राय दोनों समाज और राज्य दोनों के संगठन के लिये अनिवार्य रूप से आवश्यक मानते थे। दोनों का विचार था कि मनुष्य अपने आचरण में नैतिक हों तभी समाज भी नैतिक हो सकता है, पर राय नैतिकता को मनुष्य के विवेक से प्रेरित और उसी पर आधारित मानते थे। विवेक मनुष्य में जन्मजात होता है और मानव जाति के अर्जित अनुभव ज्ञान से उसका निरन्तर विकास होता रहा है। वैज्ञानिक आविष्कार और उनसे प्राप्त ज्ञान भी उसी अनुभव ज्ञान के एक अंग रहे हैं। यह क्रम मनुष्यों में आधिभौतिक शक्ति के अस्तित्व में विश्वास- उसकी भक्ति या ध्यान के साथ अनादि काल में चलता आया है। गांधी भी उसी में विश्वास करके कहा करते थे "सबको सन्मति दे भगवान"। पर राय का यह कहना था कि सन्मति जो मनुष्य को नैतिक बनाने वाली होती है वह उसे अपने विवेक से ही मिल सकती है। आत्मिक बल या आत्मविश्वास मनुष्य में अपने से बाहर की किसी शक्ति पर विश्वास करने से नहीं अपने विवेक पर विश्वास करने से ही आ सकती है। भक्ति और ध्यान से मनुष्य मानसिक शान्ति तो पा सकता है, पारस्परिक भेदभावों को भुलाकर सबसे प्रेम पूर्ण व्यवहार करने में समर्थ हो सकता है, शत्रु



से भी मित्रवत व्यवहार करने या मनुष्य से नहीं उसकी बुराई से घृणा करने में सफल हो सकता है पर समाज और राज्य संगठनों के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नैतिकता बिना विवेक के मनुष्य में आ ही नहीं सकती। ऊपर से थोपी गई नैतिकता वह चाहे ईश्वर के डर के कारण हो या सेना या पुलिस के भय के कारण किसी सीमा तक ही उसे नैतिक बनाये रखने में सहायक हो सकती है। सारे मनुष्य सदैव नैतिक आचरण करने वाले तभी बन सकते हैं जब वह समाज या राज्य नामक संगठनों के उद्देश्यों के सामने रखते हुए चलने वाले हों और प्रत्येक मनुष्य अपने विवेक से काम लेने वाला हो। समाज से अलग होकर कोई मनुष्य रह नहीं सकता और न नैतिकता की कल्पना समाज में अलग होकर की जा सकती है। प्रत्येक समाज संगठन का एक उद्देश्य होता है और आपसी सहयोग के द्वारा ही उसे प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिए राय और गांधी दोनों को वर्ग संघर्ष के आधार पर किसी नये समाज के संगठन की कल्पना निरर्थक मालूम होती थी। गांधी ने मार्क्सवाद को भौतिकतावादी जीवनदर्शन बताकर सदा उसकी उपेक्षा की। पर राय उसके अन्तर्विरोध को उजागर करके उसके वर्ग संघर्ष के अतिरिक्त इतिहास के भौतिकतावादी अध्ययन सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद आदि कई सिद्धान्तों से सहमत नहीं थे। इस दृष्टि से गांधी और राय दोनों ही मार्क्सवाद या साम्यवाद विरोधी कहे जा सकते हैं। लेकिन राय वैज्ञानिक दृष्टिकोण और भौतिकतावाद के समर्थक होने के नाते गांधी के बजाये मार्क्स के अधिक निकट थे।

भारतीय जनता की वीरपूजा की भावभूमि पर गांधी मनुष्य से महात्मा और फिर एक देवता बनते चले गये। वह स्वयं उसके विरुद्ध थे। उन्होंने यह कहा भी था कि मेरा यदि वश चले तो ऐसा कानून बनाऊं कि मुझे महात्मा कहना एक अपराध हो। लेकिन लोगों ने उन्हें एक अवतार नहीं तो राम, कृष्ण या ईसा की तरह एक महापुरुष के रूप में अपनाया। राय कुछ लोगों के प्रेरक नेता होते हुए भी एक साधारण मनुष्य की तरह जिये और मर गये। दोनों ही मानवतावादी थे और इन्सान इन्सान में कोई भेद नहीं मानते थे, पर गांधी का मानवतावाद जहां भावनात्मक था वहीं राय का मानवतावाद वैज्ञानिक। गांधी कथनी की अपेक्षा करनी पर अधिक जोर देते थे। इसीलिये उन्होंने कहा था कि मैंने जो कुछ लिखा है वह मेरे साथ चिता पर जला दिया जाये जिससे मेरे किये हुए कामों को ही लोग याद करते रहें। पर राय विचारों के महत्व को मनुष्य के किये हुए से इतिहास को कम गति देने वाला नहीं मानते थे। इसीलिये गांधी के अनुयायी ही उनके जीवनादर्शों और सिद्धान्तों से विमुख होते गये। उन्हें राष्ट्रपिता मानने वालों का देश उनके चर्खा, खादी और कुटीर उद्योगों से विमुख होकर आधुनिक वैज्ञानिक तकनीकी कम्प्यूटर युग की ओर तेजी से बढ़ता जा रहा है, जो राय के विचारों के अधिक अनुरूप हैं और राय के विचार जिन्होंने पढ़े, वह स्वयं



अपने विवेक से उन्हीं की तरह सोच-समझकर आगे बढ़ते जा रहे हैं और उनकी तरह वैज्ञानिक मानवतावादी व बन पाने के कारण कुछ ऐसी गलतियां भी करते जा रहे हैं जिनका निराकरण इतिहास ही करेगा। राय और गांधी को बहुत से लोग राजनीतिक ध्रुवीकरण के दो अलग-अलग स्तम्भ भी मानते हैं पर यह इसलिये भी ठीक नहीं है कि उनके मौलिक चिन्तन से बहुत सी बातें एक समान हैं।

मेरे राजनीतिक स्वप्न

राजनीतिक सपने उन सपनों को कहते हैं जो सक्रिय राजनीति में फंसे हुए लोग जागते में देखा करते हैं। कोई अध्यक्ष बनने का स्वप्न देखता है तो कोई मंत्री, मुख्यमंत्री, प्रधानमंत्री, या राष्ट्रपति। स्वप्न यदि पूरा हो जाए तो वह स्वप्न नहीं कहलाता। पर मैं यहां जिन सपनों का जिक्र कर रहा हूं वह जागते में नहीं सोते में देखे गये थे और वह राजनीतिक इसलिए कहे जा सकते हैं कि उनका संबंध कुछ सर्वोच्च सत्ता में बैठे राजनीतिक नेताओं से था। सन् 1945 में बरेली, बदायूं, पीलीभीत और शाहजहाँपुर चार नगरों के क्षेत्र से उत्तर प्रदेश विधान परिषद् का एक चुनाव लड़ने के अतिरिक्त मैं कभी राजनीति में सक्रिय नहीं रहा। यों मैं कभी उससे अलग भी नहीं रहा और कोई रह भी नहीं सकता है क्योंकि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से हमारे देश पर राजनीति ऐसी छाई है कि सामाजिक और सांस्कृतिक तो क्या हमारे पारिवारिक जीवन तक उससे अप्रभावित नहीं रह सके हैं।

स्वप्नों का एक मनोविज्ञान होता है। फ्राइड और दूसरे मनोवैज्ञानिकों ने उसकी विशद व्याख्या की है। पर मेरा विचार है कि स्वप्न देखने वाला खुद अपने किसी सपने की जितनी अच्छी व्याख्या कर सकता है उतनी कोई दूसरा व्यक्ति नहीं, क्योंकि वह अपने विषय में जितनी जानकारी रखता है कोई दूसरा नहीं। सब जानते हैं कि मनुष्य के मस्तिष्क का केवल एक चौथाई भाग चेतन और तीन चौथाई अवचेतन होता है। उस अवचेतन से ही मनुष्य की दमित इच्छा, आकांक्षाएं और भावनाएं सुषुप्त अवस्था में पड़ी रहती हैं और वही उसे सोते में सपने दिखाती है।

अभी दो दिन पहले एक सपना मैंने देखा। राजीव गांधी मेरे घर मेरे पास आये हैं। रात को खा पी चुकने के बाद जब वह मेरे पास बैठे बात कर रहे हैं तो उन्होंने एक बैग में से निकालकर एक किताब मुझे दिखाई। यह किताब वह है जो अब देश भर के सब स्कूलों में बच्चों को पढ़ाई जायेगी। वह बहुत खुश हैं कि उस पुस्तक में एक कविता उन्हीं के विषय में लिखी हुयी है। उस पर उनका चित्र भी छपा है। उन्होंने पुस्तक खोलकर वह कविता मुझे दिखाई।

मैंने उसे आदि से अन्त तक पढ़ा और प्रसन्नता व्यक्त की कि ऐसी कविताएं अब देश के बच्चों को पढ़ने के लिये देना ही चाहिए। पर तुरन्त ही गंभीर होकर मैंने उन्हें उस कविता की त्रुटियां बताना शुरू कर दिया। और यह भी कहा कि ऐसी कविताओं से बच्चों के मन में व्यक्ति पूजा की एक भावना उत्पन्न होती है। पूजा का भाव आत्महीनता उत्पन्न करता है जिसकी ग्रंथि मनुष्य को अपना विकास कभी स्वतंत्र होकर करने नहीं देती। राजीव गांधी अवाक् हुए उदास से होकर मेरी ओर देखते रह गये हैं। उसके बाद अलग होकर दूसरे कमरे में सोने के लिए चले गये हैं।

यह सपना मैंने क्यों देखा इसकी व्याख्या मेरे लिए कुछ कठिन नहीं है। पच्चीस तीस वर्ष पहले मैंने राजीव गांधी को अमिताभ और अजिताभ के साथ बच्चन जी के घर पर बच्चों की तरह खेलते हुए देखा था। वह अब देश के सर्वेसर्वा बने हुए हैं इसलिए उनका यशोगान होना स्वाभाविक ही है। और तभी कुछ दिन पूर्व मेरे ही कृत्रित्व और व्यक्तित्व पर शोध करने की इच्छा लिए एक छात्र मेरे पास आये थे जो रात को मेरे घर पर रहे भी थे। मेरा यह सपना नहीं तीन बातों का सम्मिश्रण था। और यह मेरा कुछ स्वभाव ही है कि मैं दूसरे की बात ध्यान से सुनता और उसकी खुशी में खुश होता हूं। पर आवश्यक होने पर अपनी बात भी कह अवश्य देता हूं वह फिर चाहे कितनी भी कटु क्यों न हो।

दूसरा सपना अब से लगभग 10 वर्ष पूर्व देखा था। उसमें इंदिरा गांधी मुझे दिखाई दी थीं। वह अपने घर के आगे एक खूब खुले और फूलों से सजे हुए बरामदे में एक लान चेयर पर बैठी हैं। उनके सचिव आदि कोई उनके पास खड़े हैं। सामने मेज पर कोई कागज है जिसे आंखों पर चश्मा लगाये वह देख रही हैं। बरामदे से लगे मैदान में कुछ दूर पर मैं खड़ा हूं। कुछ और लोग भी इधर-उधर खड़े हैं। एक सज्जन मुझसे यह आग्रह कर रहे हैं कि आप इतना हठ करते हैं तो मैं अर्जी लेकर इंदिरा गांधी के पास जाता हूं। वह चौंक कर देखतीं और कहती हैं- अच्छा आप हैं। और अर्जी मेरे हाथ से लेकर जो मैं चाहता था वह आदेश लिखकर मुझे दे देती हैं।

यह स्वप्न मुझे क्यों दिखाई दिया इसका पूरा विश्लेषण कर सकना अब कठिन है पर इंदिरा गांधी के शासनकाल में जो तानाशाही प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी उसका मैं विरोधी था। जर्मनी में हिटलर, इटली में मुसोलिनी और रूस में स्तालिन की तानाशाही से मैं अध्ययन के द्वारा परिचित था। इंदिरा गांधी को एक बार निकट से देखा था जब वह तेजी भाभी के जन्म दिन पर एक गुलदस्ता भेंट करने सबेरे सबेरे उनके घर पर आईं थीं। पंडित नेहरू उन दिनों बीमार थे

इससे वह कुछ उदास भी थीं। शायद और कुछ कारण भी मेरे अवचेतन में रहे हों जिनसे मैंने उन्हें सपने में देखा।

एक और सपने में पंडित नेहरू मेरे घर पर आये थे। यह शायद सन् 54-55 की बात है। तब मैं बकालत में खूब सक्रिय था। सवेरे ही तैयार होकर अपने ड्राइंग रूम या दफ्तर में आ बैठता था और मुविक्कल आना शुरू हो जाते थे। मेरा ड्राइंग रूम तब खूब सजा-सजाया रहता था। उस दिन बाहर निकलने से पहले कमरे के द्वार पर लटक रहे पर्दे के पीछे से मैंने देखा कोई तेजी से चल कर आये हुए सज्जन मेरे ड्राइंग रूम में आकर धम से सोफे पर बैठ गये हैं। मैं बाहर निकला तो देखकर चकित रह गया कि पंडित नेहरू बैठे हैं। 'अरे, आपने कैसे कष्ट किया?' मेरे यह कहते ही पंडित जी बोले- मैंने अब यह निश्चय किया है कि देश में प्रत्येक व्यक्ति से खुद जाकर मिलूंगा। अब तुम मेरे साथ चलो और सबसे मिलवा दो।' और मैं पंडित जी के साथ अपने घर से निकल कर चल दिया। पैदल ही हम दोनों चलते-चलते मोहल्ला गंगापुर में अपने मित्र शंकर लाल के घर पर पहुंचे। द्वार पर आवाज दी तो बराबर की बैठक में उनके बच्चे बाहर निकल आये और मुझे स्नेहवश खींचते हुए बैठक में ले गये। पंडित नेहरू बच्चों को देखकर मुस्कुराते जा रहे थे। हम दोनों जाकर सोफे पर बैठ गये तो देखा बच्चों की कुछ किताबें फैली पड़ी हैं। पंडित जी उठाकर वह किताबें देखने और बच्चों से बातें करने लगे। इतने में ही शंकर लाल घर के भीतर से बैठक में आये और आश्चर्य से बोले- 'अरे पंडित जी।' और फिर मुझसे बोले कि तुम पंडित जी को लेकर अंदर ही क्यों नहीं चले आये?

अपने इस सपने की व्याख्या मैंने अपने एक लेख में तभी की थी जो शायद 'विश्व ज्योति' में प्रकाशित हुआ था। मेरा विचार था व्यक्ति ही समाज का निर्माता होता है। उसके ही विकास से देश के विकास को मापा जा सकता है। जनसभाएं करके भीड़ें जुटा लेने और भाषण झाड़ कर चल देने से देश का कोई कल्याण नहीं हो सकता था। जनतंत्र को नीचे से संगठित करने की बात पंडित नेहरू समझते होंगे- इस दबी हुयी आशा ने ही यह सपना मुझे दिखाया होगा।

एक सपना और है जिसे देखे भी 8-10 वर्ष हो गये। मैं किसी जहाज में एम.एन.राय के साथ सवार हूँ। सारे जहाज पर सवार लोगों में हड़बड़ी मच गयी कि स्टालिन आ रहा है। राय मुझसे कह रहे हैं- उतरो और नीचे उतरो और कहीं जाकर छिपो। मैं तार की रस्सियों और जहाज के पुर्जों के बीच इधर-उधर छिपने की चेष्टा कर रहा हूं। और कुछ पकड़ कर कहीं दुबक कर

छिप जाता हूं। राय कहीं और छिपने के लिए चले जाते हैं तभी किसी भारी भरकरम व्यक्ति के आने और उसके बूटों की धमधम आहट सुनाई देती है। दिल बैठने सा लगता है। आहट की आवाज धीरे-धीरे हल्की होती जाती है। तब हम लोग बाहर निकल कर आते हैं तो राय मुझसे कहते हैं- 'अच्छा हुआ हम समुद्र में कूद कर डूब जाने से बच गये।'

एम.एन. राय की जीवनी शायद उन दिनों पढ़ी होगी। वह जब चीन से छिपकर अमरीका भागे थे तो ब्रिटिश पुलिस जहाज में उन्हें खोजती रही थी। राय तब एक तख्ते के नीचे सांस खींचकर लेट गये थे और ऊपर से ब्रिटिश सैनिक धम्-धम् करते निकल गये थे। शायद वही मुझे सपने में दिखाई दिया होगा। और उनके साथ होने का कारण वह सामिप्य होगा जो थोड़ा बहुत मेरा उनके साथ रहा था।

मेरे इन सपनों के पीछे शायद कहीं मेरी छिपी हुयी कोई राजनीतिक महत्वाकांक्षा भी रही हो। पर जागते में तो मैंने कोई इच्छा अपने मन में की नहीं। सन् 50 में एक बार बरेली के प्रमुख राजनीतिक नेता सेठ दामोदर स्वरूप और ब्रज मोहन लाल शास्त्री एक बार मेरे पास आये थे और मुझसे कहने लगे- 'देश आजाद हो चुका है अब तुम भी कांग्रेस के सदस्य क्यों नहीं बन जाते।' मैंने उनसे कहा था- 'मैं भी तो आजाद हो गया हूं। अब किसी दल के बंधन में भी क्यों पड़ूं।' सक्रिय राजनीति के लिए मुझे दल की आवश्यकता का अनुभव कहीं नहीं हुआ। दल का सदस्य बन जाने के बाद कोई कभी अनुचित को उचित और अनैतिक को नैतिक कहने से बच ही नहीं सकता। दलों का अस्तित्व केवल सत्ता प्राप्त करने के लिए होता है और उनसे ही मिलते-जुलते दल डकैतों से भी हुआ करते हैं। महात्मा गांधी और एम.एन. राय दोनों का वह विचार मुझे बहुत अच्छा लगा था कि देश में राजनीतिक दलों के संगठन को समाप्त कर देना चाहिए। राय ने एक बार नैनीताल में कुछ मित्रों से बातचीत में मेरे सामने ही यह कहा था- 'जब हमारी पार्टी थी तो हम मुश्किल से 4-5 प्रतिशत जनता का प्रतिनिधित्व करते थे। अब तो हम शत-प्रतिशत जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं।' व्यक्ति मनुष्य भी यदि चाहे तो सक्रिय होकर राजनीति में प्रभावी बन सकता है। स्थानीय स्तर पर छोटी-छोटी जनसेवी समितियों के गठन से ही राजधानियों में केन्द्रित राज्य सत्ता खिंचकर जन-जन के हाथों तक आ सकती है।

□□

कहां है धर्मनिरपेक्ष?

देश में बहुत तेजी से बनते जा रहे धार्मिक कट्टरपन और उन्माद के वातावरण में चिन्ता की बात तो यह है कि उस नैतिकता का सर्वथा लोप होता जा रहा है जिसके बिना कोई समाज संगठित रूप से चल ही नहीं सकता। धार्मिक कट्टरता और उन्माद के बावजूद मनुष्य में नैतिकता बना रहना तभी संभव था जब नैतिकता को धर्म से अलग करके देखा और समझा जाता। नैतिकता का उदय मनुष्य से समाज में संगठन के साथ हुआ था। जब मनुष्य ने दुनिया से पहली बार अपने भौतिक अस्तित्व के लिए मिलकर संघर्ष करना प्रारम्भ किया तो समाज के कुछ विषय बनाये। समाज का संगठन का प्रारम्भ हुआ तो यह आवश्यक था कि वह एक दूसरे के साथ सद्भाव रक्खे, सहयोग करते हुये चले। धर्म के उद्भव और विकास के समय ऐसा नहीं था। मनुष्य जब आंधी तूफान वर्षा आदि को समझ नहीं सका तो उसने उनमें अपने से अधिक महान किसी शक्ति की कल्पना की जो उसके अज्ञान और भय से उत्पन्न हुई थी। उन्हें उसने देवता मान लिया और फिर उनमें से एक को सर्वाधिक शक्तिशाली मानकर ईश्वर की प्रतिष्ठा की गई। इस प्रकार मूल रूप से धर्म और नैतिकता अभिन्न हो ऐसा नहीं है। पर समझा यही जाता है कि धर्म के बिना नैतिकता हो ही नहीं सकती। इसीलिये होता यह है कि एक धर्म को मानने वाले मनुष्य आपस में एक दूसरे के प्रति अपने को नैतिक समझते हैं और वैसा ही व्यवहार करते हैं जैसा प्रेम और सद्भावपूर्ण व्यवहार आपस में होना चाहिए। या दूसरे धर्मों के लोगों के प्रति भी वैसा ही व्यवहार करने के लिए अपने को उत्तरदायी नहीं समझते। इसलिये वह किसी छोटी सी बात पर भी असहिष्णु होने में संकोच नहीं करते। उन्हें तर्क और विवेक से समझाकर रोका नहीं जा सकता क्योंकि धर्म आस्था और विश्वास का विषय समझा जाता है। नैतिकता भौतिक अस्तित्व के लिए किए गये प्रयास के कारण मुनष्य की वैज्ञानिक वृद्धि पर आधारित होती है। उसे धर्म से बाहर न जाने देने का परिणाम यह होता है कि मनुष्य में सामाजिक भावना का ह्रास होने लगता है। वह केवल अपने धर्म के लिए उपयोगी और बाकी सबके लिये अनुपयोगी मनुष्य बन जाता है।

धर्म विज्ञान और वैज्ञानिक बुद्धि को नकारता नहीं। इसलिये हर धर्म में मानव मात्र से प्रेम करने उसके कल्याण की कामना करने की बात कही जाती है। विज्ञान की उपलब्धियों से वह लाभ उठाता हुआ चलता है इसीलिए मन्दिर में प्रतिमाओं के कक्ष में भी कूलर और पंखे लगा दिये जाते हैं। पर किसी धार्मिक भाव या मान्यता में तर्क विज्ञान का दखल हो इसे धर्म स्वीकार नहीं करता। जहां ऐसा होता है वहां कुतर्क होने लगता है और मतभेद पैदा होकर अनेक मतमतान्तरों को जन्म दे देते हैं। इसीलिए धर्म में धार्मिक कट्टरता का बड़ा महत्व होता है। यह कोई बुरी बात भी नहीं। मनुष्य का स्वभाव ही है कि जिसमें विश्वास करे उसमें दृढ़ता से विश्वास करे जब तक कि उसका विश्वास निराधार साबित न हो जाये। कट्टर लोगों को धर्म में ऊंचा दर्जा दिया जाता है और उनके धार्मिक कट्टरपन से यदि किसी दूसरे धर्म के लोगों को कोई कष्ट न पहुंचे तो किसी को क्या आपत्ति हो सकती है। पर जब वह कट्टरपन दूसरे धर्म वालों को हिकारत और घृणा की दृष्टि से देखने लगे तो उस विवाद का कारण भी बन सकता है जिसका परिणाम दंगे होते हैं। कट्टर धार्मिक लोग किसी सम्प्रदाय में कम ही होते हैं क्योंकि दृढ़ता और समझदारी से अपने धर्म के सिद्धान्तों पर चलना हर एक के बस की बात नहीं होती। सम्प्रदाय में अधिकतर लोग ऐसे होते हैं जो अपने धर्म की सुनी सुनाई बातों पर विश्वास करके अपने को धर्मानुयायी कहते हैं। उनमें से अधिकतर धर्म के उस तत्व को जानते ही नहीं जिसके विषय में कहा है- ''धर्मस्थ तत्वं निहितं गुहायां' पर अपने अधकचरे ज्ञान के बावजूद यह लोग अपने को किसी से कम धार्मिक नहीं समझते। अधकचरा ज्ञान हमेशा खतरनाक होता है। इनका वह ज्ञान जब तक अपने ही धर्म के लोगों के घेरे में रहता है अधिक खतरनाक नहीं होता। पर जब वह उस घेरे से बाहर दूसरे धर्म के घेरे वालों की ओर उन्मुख होता है तो वह स्वयं तो बहुत जल्दी उत्तेजित हो ही सकते हैं, उन्हें कोई चाहे तो बहुत जल्दी उत्तेजित कर सकता है। समाज में अपराधी प्रवृत्ति के लोगों को अपने किसी स्वार्थ के लिए उन्हें भड़काने में बड़ा आनन्द आता है। लोग कभी कभी तो पैसा खर्च करके या दूसरे उपायों से उनके धर्मोन्माद को भड़काने का प्रयत्न करते हैं। और जब वह उन्माद किसी दूसरे धर्म वालों की ओर भड़का दिया जाता है तो अधकचरे ज्ञान के साथ धार्मिक बनने वाले लोग यह भी भूल जाते हैं कि वह किसी संगठित समाज के सदस्य मनुष्य है। और तब वह ऐसा आचरण करने लगते हैं जैसा पशु भी नहीं करते। उनका वह धार्मिक उन्माद ही अक्सर साम्प्रदायिक दंगों का कारण बन जाता है। दंगों में फिर सामाजिक व्यवस्था का कोई महत्व नहीं रहता और मनुष्यों की पाशविक या अपराधी प्रवृत्ति खुलकर अपना रूप दिखाने लगती है।

आजादी मिलने के बाद बढ़ते हुए धार्मिक उन्माद को रोकने के लिए देश का नया संविधान बनाने वाले नेताओं ने कुछ उपाय न किये हों ऐसी बात नहीं है। उससे पहले जो स्वतंत्रता संग्राम देश में चलता रहा था उसमें एकता का आधार वह ब्रिटिश विरोधी भावना थी जो ब्रिटिश शासन समाप्त हो जाने के बाद कायम नहीं रह सकती थी। आजादी से पहले एकता का कोई और आधार जैसे आर्थिक विषमता दूर करना प्रत्येक नागरिक को समान रूप से सामाजिक न्याय देना आदि स्वतंत्रता संग्राम के नेताओं ने दिये ही नहीं थे। इसलिये वह आधार उस जनता के लिये प्रेरणादायक हो ही नहीं सकते थे जो सदियों पहले से आर्थिक विषमता और सामाजिक अन्याय में जीने की आदी चली आई थी। संविधान निर्माताओं ने धार्मिक भेदभाव मिटाने के लिये धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्त पर आधारित एक नया संविधान देश को दिया जिससे देश में आजादी से पहले ही एकता की भावना बनी रह सके। धर्म निरपेक्षता का अर्थ धर्मों से तटस्थता और सब धर्मों से समान दूरी लगा लिया गया। इस धर्म निरपेक्षता का कोई संबंध व्यक्ति मनुष्य से कायम करते हुये नहीं चला गया। किसी धर्म को मानने वाला कोई मनुष्य धर्मों से तटस्थ कैसे रह सकता था। तटस्थता का अर्थ है निर्लिप्त होना। पर जो स्वयं लिप्त हो वह अपने को निर्लिप्त कैसे रख सकता था?

यदि राज्य और शासन पूरी तरह धर्म निरपेक्ष बने रहते तो सम्भव है कभी जनता को भी धर्म निरपेक्ष बना लिया जा सकता। पर इसकी सम्भावना बहुत ही कम थी क्योंकि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बना देने के बाद भी देश में जन-जन की भाषा हिन्दी बन गई हो ऐसी बात नहीं है। राज्य कोई ढेर सारे कल पुर्जों को जोड़कर बना दी गई मशीन नहीं होता। वह मनुष्यों द्वारा मिलकर बनाया हुआ एक संगठन है। उसे चलाने का उत्तरदायित्व उन लोगों पर होता है जो जनता द्वारा चुने जाते हैं। उन राज्य चलाने वालों में सब पंडित नेहरू जैसे धर्म निरपेक्ष हों यह समव हो ही नहीं सकता था। इस प्रकार धर्म निरपेक्षता का जो सिद्धान्त संविधान में अपनाया गया वह न तो व्यक्ति मनुष्यों के लिये हो सकता था न राज्य नामक मनुष्यों की संस्था के लिये। वह राष्ट्रीय एकता आदि और बहुत से शब्दों की तरह आदर्श बनकर अधर में लटके हुए कुछ लोगों को आकर्षित करता रहा, किसी के द्वारा अपनाया कभी नहीं गया।

अपने देश में जिस धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्त को लेकर सब धर्मों में तटस्थता और समान दूरी लाने की जो चेष्टा की गई थी वह अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में इसलिये भी पूरी नहो पाई कि उस सिद्धान्त के अनुसार राज्य व्यवस्था चलाने वाले लोगों में पंडित नेहरू जैसे धर्म निरपेक्ष को समझने वाले लोग बहुत कम थे। उनके निकटतम साथियों में जहां एक ओर मौलाना आजाद थे जो राष्ट्रप्रेमी तो बहुत बड़े थे पर अपने धर्म के इतने पक्के कि विदेशों से

लोग धामिक मामलों में उनकी राय लेने आते थे और दूसरी ओर राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद थे जिन्हें धार्मिक परम्परा का निर्वाह करते हुए ब्राह्मण के चरण धोने में भी कोई संकोच नहीं था। सुप्रसिद्ध दर्शनिक विद्वान राष्ट्रपति राधा कृष्णन ने तो बहुत सोच समझकर धर्म निरपेक्षता की परिभाषा को बदल कर 'सर्व धर्म समभाव' कर दिया जिसमें धर्मों से तटस्थता या समान दूरी रखने की बात ही समाप्त हो गई। उस समय के सत्तारूढ़ राजनीतिक नेताओं ने इस नई परिभाषा को हाथों हाथ लिया क्योंकि वह उन्हें स्थायी रूप से सत्ता में बनाये रखने के लिये बहुत अनुकूल पड़ती थी। उन्होंने उसे अनेक धर्मों में बंटे हुए भारतीय समाज के लोगों का मत अपने पक्ष में करने के लिये एक अस्त्र के रूप में उनका प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया। सब धर्मों के प्रति समान आदर की बात कहकर वह जिस धर्म के अनुयायियों का चाहें समर्थन प्राप्त कर सकते थे। वह धार्मिक समारोहों में जाकर जिस धर्म की जो मान्यतायें थीं उनके प्रति आदर का भाव प्रकट करने लगे। स्वयं घर में ठाकुर जी के सिंहासन के आगे घंटी बजाने वाला और सनातन धर्म में अडिग विश्वास रखने वाला होते हुए भी उन्हें ईद की नमाज या मेलाद शरीफ में जाने में कोई संकोच न था क्योंकि इससे उन्हें मुस्लिम धर्म को मानने वालों के भी वोट मिल सकते थे। यह राजाश्रय प्राप्त करके या राजनीतिक नेताओं से प्रोत्साहन प्राप्त करके सब धर्मों के लोगों में धार्मिक कट्टरता व उनके अनुयायियों में धार्मिक उन्माद खुलकर बढ़ने लगा। और अब स्थिति यह है कि जहां भी दो धर्मों का अधकचरा ज्ञान रखने वाले अनुयायी रहते हैं वह सब स्थान उनके आपस में कभी टकरा जाने के लिये पहले से कहीं अधिक संवेदनशील क्षेत्र होकर रह गये हैं। ऐसी स्थिति में सरकार को बल पूर्वक उन्हें टकराने से रोकने के उपाय करना पड़ते हैं जिससे उन्हीं सत्तारूढ़ दल के लोगों को अपने हाथ निरन्तर मजबूत करते जाने का अवसर मिलता है।

धर्म निरपेक्षता को सर्वधर्म समभाव मान लेने से राज्य के लिये दो खतरे भी दिखाई देते हैं। एक तो यह कि राज्य के सब धर्मों से अनभिज्ञ नेता जब किसी दूसरे धर्म विशेष के प्रति आदर भाव का प्रदर्शन करने चले तो उनसे कभी यह भूल भी हो सकती है कि उनका वह आदर प्रदर्शन उस धर्म के पक्के लोगों को अनादर प्रदर्शन करने लगे। इससे उनके लिये कभी लेने के देने भी पड़ सकते हैं क्योंकि धार्मिक भावना को अक्सर ठेस भी बहुत जल्दी लग जाती है। और वह कभी किसी सदाशयता के आवेश में आकर कोई सुझाव भी दे दें तो वह धार्मिक मामले में राज्य का अनुचित हस्तक्षेप भी समझा जा सकता है जिससे धार्मिक लोग प्रसन्न होने के बजाय नाराज हो सकते हैं। दूसरा एक खतरा यह भी है कि अल्प संख्यकों के धर्म के लोग यह अनुभव करते रह सकते हैं कि देश पर राज्य तो हमेशा बहुत संख्या के लोग ही करेंगे इसलिये राज्य उनका

तो कभी हो ही नहीं सकेगा। राज्य में किसी तरह से यदि सब धर्मों के मानने वालों की संख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व दे भी दिया जाये, जिसकी अनुमति संविधान नहीं देता है, तो राज्य में होने वाले प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर ही विवाद खड़े हो सकते हैं कि किसी धर्म के अनुयायी तो संख्या में इतने हैं और उनके प्रतिनिधियों की संख्या केवल इतनी है। लेवनान में सरकार में प्रतिनिधित्व धर्मों के अनुयायियों की संख्या के आधार पर मांगा गया था और वहां यह तय करना पड़ा कि राष्ट्रपति अगर एक धर्म का होगा तो प्रधानमंत्री दूसरे धर्म का बनाया जायेगा। ऐसा करना अपने देश में उस वर्षों से चली आई पुरानी राजनीतिक परम्परा की जड़ काटना होगा जिसके कारण किसी धर्म का अनुयायी कोई व्यक्ति राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री चुना जा सकता है। चुनाव में किसी क्षेत्र से कोई हिन्दू या या मुसलमान ही चुना जा सकेगा ऐसी कोई पाबन्दी अभी नहीं। पर यदि कुछ क्षेत्र हिन्दू और कुछ मुस्लिम बना दिये जायें तो विभाजन या विघटन की जिस प्रवृत्ति को रोकने के लिये या राष्ट्रीय एकता को बनाये रखने के लिये धर्म निरपेक्षता की नई परिभाषा निश्चित की गई है, उसे कैसे रोका जा सकेगा।

संसार में घोषित करके एक ही धर्म का राज्य अपने को कहने वाले राज्य तो कई हैं। इजरायल और ईरान के नाम उदाहरण के लिए जा सकते हैं। उनमें किसी दूसरे धर्म को मानने वालों को द्वितीय श्रेणी का नागरिक भी माना जाता है। और यदि वह प्रथम श्रेणी के बनने के लिये सिर उठाते हैं तो कुचल दिया जाता है। पर सब धर्मों को समानता देकर चलाना भारत में राज करने का एक नया प्रयोग है। वह सफल होकर दुनिया को एक नया रास्ता दिखा सकता है। पर वह सफल तभी हो सकता है जब धार्मिक विश्वासों से पैदा होने वाली सारी कुंठायें सारे देशवासियों के मन में से बिल्कुल निकल जायें। यह एक अच्छी कल्पना तो हो सकती है पर वह कभी यथार्थ में परिणित हो सकेगी इसमें सन्देह ही है।

तब फिर प्रश्न यह उठता है कि धर्म निरपेक्षता की वह कौन सी परिभाषा अपनाई जाये, जिससे समाज को धार्मिक या साम्प्रदायिक आधार पर विघटित करके उपद्रव और दंगे कराने वाली प्रवृत्तियां पैदा ही न हो पायें। ईसाई धर्म के प्रवर्तक ईसा से जब उनके अनुयायियों ने पूछा कि सीजर तो हमसे भी कर मांगता है तो उन्होंने उनसे कहा था-'जो ईश्वर का देय है वह उसे दो और जो सीजर का देय है वह उसे'। इसका अर्थ है कि मनुष्य धर्म और राज्य दोनों के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुये समाज में रह सकता है। धर्म के बिना समाज चल सकता है पर राज्य के बिना नहीं। इसलिए राज्य को समाज में यदि धर्म हो तो उसके प्रति कोई दृष्टिकोण रखकर चलना होगा। अपने देश में राज्य चलाने वालों की यही कठिनाई है कि क्या दृष्टिकोण अपनाया जाये? इसीलिये

धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्त पर चलने का संकल्प संविधान बनाते समय किया गया था। पंडित नेहरू ने बहुत कुछ उस पर चलकर दिखाया। वह राजकाज चाहते हुये धर्म को कहीं अपने पास नहीं आने देते थे। राज्य बुद्धि और विवेक से चलता है और धर्म भावना तथा विश्वास से। दोनों को एकाकार करके चलाना वहां तो संभव हो सकता है जहां एक ही धर्म के माने वाले रहते हों। पर जहां अनेक धर्मों के मानने वाले रहते हों वहां राज्य को धर्म से मिलाकर चलने से समस्यायें बढ़ ही सकती हैं। व्यक्तिगत रूप से मनुष्य किसी धर्म को मानने वाला हो, पर राज में लगा हुआ हर व्यक्ति जब तक किसी भी प्रकार की धार्मिक भावना से ऊपर उठकर अपना काम बुद्धि और विवेक से करने वाला न हो, पंडित नेहरू व्यक्तिगत रूप से किसी धर्म विशेष के मानने वाले हों या न हों, पर जैसे धर्म अपने मामलों में राज्य का कोई हस्तक्षेप नहीं चाहता, वैसे ही वह भी राज्य के मामलों में धर्म का कोई हस्तक्षेप नहीं चाहते थे।

राज्य और धर्म दोनों के कार्य क्षेत्र ही एक दूसरे से सर्वथा अलग हैं। राज्य मनुष्य के भौतिक सुख साधनों की चिंता करता है और धर्म आध्यात्मिक और पारलौकिक सुख साधनों की। धर्म आपस में प्रेम सद्भाव और भ्रातृभाव बनाये रखने की शिक्षा देता हो पर उसका उद्भव ही नैतिकता से प्रेरित होकर नहीं हुआ था। जिसे केवल समाज के परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। समाज का संगठन समान उद्देश्य से मिलकर काम करने के लिए हुआ था। और जब समाज में कुछ कामचोर या सामूहिक प्रयत्न से अर्जित सुख साधनों में से छिपकर ले जाने वाले लोग पैदा हुए तो राज्य नामक संगठन की आवश्यकता का अनुभव हुआ। इस दृष्टि से राज्य को मनुष्यों को एक बलपूर्वक नैतिक बनाये रखने वाला संगठन कहा जा सकता है। इसीलिये कोई भी राज्य हो, उसका मुख्य काम अपराध न होने देना या अपराधियों को दंड देना होता है। यह वह तभी कर सकता है जब राज्य के उस संगठन को चलाने वाले स्वय भी नैतिक आचरण वाले हों। किसी धर्म की सहायता लेकर कोई राज्य मनुष्यों को नैतिक बना ले जाये यह इसलिये संभव नहीं है क्योंकि नैतिकता का किसी अध्यात्म ज्ञान से कोई संबंध नहीं है। नैतिकता उत्पन्न होती है मनुष्य के उस भौतिक अस्तित्व से, जिसका एक अंग उसकी बुद्धि होती है। बुद्धि से वह आत्मरक्षा कर अपने अस्तित्व के लिये संघर्ष करता है और उसके लिये उसे और सबके साथ मिलजुल कर काम करने की आवश्यकता होती है। इसलिये समाज में धर्म निरपेक्ष मनुष्य खोजने या बनाने की कोशिश करने के बजाय नैतिक आचरण करने वाले मनुष्य खोजे या बनाये जायें तो राज्य भी सही रास्ते पर चल सकता है और धर्म भी। धर्म एकान्त में भजन करते रहने से चल सकता है, राज्य और समाज मिल-जुलकर काम करने से ही चलते हैं। इसलिये तर्क ज्ञान सम्मत



विवेक की अवहेलना करके न धर्म चलाया जा सकता है, न राज्य और न समाज। मनुष्यों को संसार में पहला मानव समाज बनाते समय बुद्धि और विवेक से जो नैतिकता मिली थी उसे बनाये रखना ही सब धर्मों का धर्म और राज्य समाजों का कर्त्तव्य कहा जा सकता है।

□□

प्राचीन भारतीय संस्कृति की प्रासंगिकता

समाज, सभ्यता और संस्कृति गतिशील है इसलिए मनुष्यों को अपनी सभ्यता-संस्कृति को बदलने का अधिकार है। यदि ऐसा न होता तो अपने ही देश से सिंधु घाटी कालीन सभ्यता में रहने वाले लोग, विकसित होकर आज के युग की सभ्यता-संस्कृति तक न आ पाते। मनुष्य अपने समाज का निर्माता है, यह विश्वास बनाये रखने वाली संस्कृति को ही उसके लिए उपयोगी और विकासशील संस्कृति कह सकते हैं। हमारे समाज में यदि विवाह अब से तीन हजार वर्ष पहले रचे गये मन्त्रों से ही कराया जाता है मैरिज रजिस्ट्रेशन एक्ट के अन्तर्गत नहीं, तो इसे समाज की सांस्कृतिक जड़ता की पहचान तो कहा जा सकता है, उसकी विकासशीलता की पहचान नहीं। समाज का निर्माता होने के कारण मनुष्य समाज को बदल सकता है, यह विश्वास ही मनुष्य को अपनी प्राचीन संस्कृति के बहुत से मूल्यों को त्यागने और बहुत से नये मूल्य अपनाने के लिए प्रेरित करता है।

यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि कुछ मूल्य शाश्वत होते हैं- जैसे सत्य और अहिंसा। ऐसा है तो बड़ी-बड़ी सेनायें पुलिस और सुरक्षा बल रहकर हमारा देश सांस्कृतिक पतन की दिशा में आगे बढ़ा है, विकास की दिशा में नहीं। पर हम कहते हैं कि जिस काल में संस्कृति के ये शाश्वत मूल्य स्थिर किये गये थे उस काल से हम बहुत आगे बढ़ आये हैं और 'सत्य', हमारी प्राचीन संस्कृति के अनुसार ही, समय सापेक्ष होता है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंस्टीन ने तो उसे सापेक्ष कहा ही है। उसका तर्क है कि कोई वस्तु जैसी तुम्हें दिखाई देती है सम्भव है वैसी मुझे न दिखाई दे। तब फिर वह सत्य कौन सा है जिसे हम प्राचीन भारतीय संस्कृति का शाश्वत मूल्य कह सकते हैं।

गीता का सारा उपदेश अर्जुन को देने के बाद कृष्ण ने कहा था- 'मैंने कहा इसलिए तुम इसे मत मान लो। अपने विवेक से काम लो और जैसा समझ में आये वैसा करो।' महात्मा बुद्ध ने भी यही कहा था कि अपना दीपक तुम अपने आप बनो। इसका अर्थ है कि मनुष्य के विवेक की कसौटी पर कसा हुआ सत्य ही सत्य हो सकता है। सत्य न अपौरूषेय होता है न अलौकिक। वह

ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अर्जित और लौकिक हो सकता है। अलौकिक सत्यों को हम इसलिए भले ही मान लें कि अमुक धर्म गुरू ने उसे बताया था, या अमुक धर्म ग्रंथ में वह लिखा है। यह उन पर हमारे आस्था विश्वास और आदर भाव के कारण हो सकता है। इसे विवेक की कसौटी पर कसाना नहीं कहा जा सकता। परम्परा से चला आया होने के कारण भी कोई असत्य सत्य नहीं हो जाता।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राचीन भारतीय संस्कृति की एक महान उपलब्धि कहा जाता है। इनमें से धर्म, अर्थ, काम को तो समझा जा सकता है पर मोक्ष की कल्पना किसी बंधन के बिना नहीं की जा सकती। वह बंधन क्या है जिससे मनुष्य को मोक्ष की प्राप्त होती है या वह मुक्ति प्राप्त कर सकता है? मनुष्य का शरीर और संसार ही वह बंधन हो सकता है जिससे वह मरकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। जीते जी किसी ने मोक्ष प्राप्त कर लिया ऐसा कहने वाला कहीं कोई नहीं मिलता। मृत्यु के बाद मोक्ष की कल्पना भी सार्थक तभी कहीं जा सकती है जब बन्धन मुक्त मनुष्य 'कहीं रहता' हो। इसीलिए मोक्ष के साथ स्वर्ग या परलोक की कल्पना भी आवश्यक हो गई थी। ऐसी कल्पना की उद्भावना ही जिस संस्कृति की महानतम उपलब्धि बताई जाती हो उसे दिवा-स्वप्न दृष्टाओं की संस्कृति नहीं तो और क्या कहा जा सकता है।

मनुष्य का शरीर क्या है और सृष्टि क्या है इसे जितना हम आज विज्ञान की विभिन्न शाखाओं रासायनिक शास्त्र, भौतिक विज्ञान, जीव विज्ञान, वनस्पति विज्ञान में उन्नति के कारण जितना अब जानते हैं उतना पहले नहीं जानते थे। इस विज्ञान से उपलब्ध सुविधाओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती। आज हर डाक्टर यह बता सकता है कि मनुष्य की उत्पत्ति कैसे होती है। हर स्त्री और पुरुष के शरीर में विद्यमान सैकड़ों और वीर्य कणों में से जब कोई दो संयुक्त हो जाते हैं तो मनुष्य के शरीर के बनने का क्रम रासायनिक क्रिया प्रतिक्रिया से प्रारम्भ हो जाता है। गर्भ में उस क्रम को लगातार देखते रहा जा सकता है। मां के शरीर से अलग होकर एक स्वतंत्र मनुष्य अस्तित्व में आ जाता है। जीव विज्ञान अब इतना उन्नत हो गया बताया जाता है कि जैसे दो गुलाबों की कलम लगाकर एक नये तरह का गुलाब खिलाया जा सकता हे वैसे ही अब नये प्रकार के मनुष्य बनाये जा सकते हैं। ऐसे ही हर डाक्टर मनुष्य के शरीर की जांच के आधार पर उसकी मृत्यु के कारणों के विषय में विश्वसनीय रूप से बता सकता है। पर हजारों वर्ष पूर्व मनुष्य का जन्म और मृत्यु और उसका शरीर और सृष्टि बड़े-बड़े समझदार मनुष्यों के लिए कौतूहल का विषय थे।

उपनिषद काल के ऋषियों ने पृथ्वी, अग्नि, जल-वायु-आकाश को सृष्टि और मनुष्य के निर्माण का कारण बताया। बाद में इन पांच तत्वों में एक तत्व 'ब्रह्म' और

जोड़कर यह माना जाने लगा कि उस अभौतिक अप्रत्यक्ष तत्व से ही सृष्टि की उत्पत्ति हुई है। कण-कण में व्याप्त होने का कारण ब्रह्म मनुष्य के शरीर में भी व्याप्त है। इसे मनुष्य का यह कौतूहल भी समाप्त हो गया कि मनुष्य मर क्यों जाता है। साधारण उत्तर था कि ब्रह्म का छोटा रूप आत्मा निकल कर परब्रह्म या परमात्मा में लीन हो जाता है। मनुष्य के शरीर में आत्मा के अस्तित्व की कल्पना उपनिषद् काल में ऋषियों से भी बहुत पहले से चली आई थी क्योंकि कई पुरानी सभ्यता संस्कृति से दूर रहती चली आई जन जातियों में यह विश्वास अब भी पाया जाता है कि प्रत्येक जीवधारी के शरीर में एक मटर के दाने या अंगूठे के अग्र भाग के बराबर अभौतिक आत्मा होती है इसीलिए वह चलता फिरता बोलता चलता है। आदि कालीन असभ्य जन जातियों की यह अवधारणा कब और कैसे बनी यह एक अलग खोज का विषय है पर उपनिषद कालीन ऋषियों ने जो सृष्टि और जीव के ब्रह्म (परमात्मा) से उत्पन्न होने की बात कही वह आदि कालीन जन जातियों की आत्मा, भूत, पिशाच आदि की कल्पना में विश्वास की कल्पना के अनुरूप कही जा सकती है। प्राचीन भारतीय संस्कृति में इस विश्वास की परम्परा की देन स्वर्ग, नर्क पुनर्जन्म और कार्य फल की कल्पनायें हैं।

आत्मा को गीता में ऐसा बताया गया है जिसे न शस्त्र काट सकते हैं न अग्नि जला सकती है। आत्मा एक शरीर को त्यागकर दूसरा शरीर इस प्रकार धारण कर लेती है जैसे मनुष्य पुराने वस्त्र उतारकर नये वस्त्र धारण कर लेता है। आत्मा अजर-अमर है। इससे अहिंसा के बजाय हिंसा को बल मिलता है। आतंकवादी यदि किसी की हत्या कर देते हैं या सरकार किसी को फांसी दे देती है तो वह मरते नहीं क्योंकि उनकी आत्मा किसी दूसरे शरीर में प्रवेश करके फिर जीवित मनुष्य बनकर खड़ी हो सकती है। आत्मा मृत्यु के समय शरीर से निकलती है फिर वह कहां रहती है, और कब किस शरीर में प्रवेश करती है, इसका कोई प्रमाण नहीं है। डाक्टरों ने अस्पतालों में हजारों लाखों मनुष्यों का जीवन बचाने का प्रयत्न अन्तिम समय तक करते हुए मृत्यु के क्षण तक देखा है पर कोई यह प्रमाणित नहीं करता कि आत्मा नाम का कोई सूक्ष्म तत्व शरीर से निकल जाता है। वह जन्म के समय किस क्षण किसी दूसरे मनुष्य के शरीर में प्रवेश करता है इसके विषय में भी कोई शरीर विज्ञान, आयुर्विज्ञान, जीव विज्ञान ने परख प्रणाली के आधार पर जितनी उन्नति की है, वह गलत है या किसी अशरीरी, अदृश्य आत्मा का अस्तित्व। यहां एक प्रश्न यह भी उठता है कि एक शरीर से निकल जाने के बाद आत्मा दूसरे मानव शरीर में तब प्रवेश करती है जब सैकड़ों में से कोई एक रजकण और वीर्यकण एक दूसरे से मिलते हैं, या तब जब मानव गर्भ में 9 मास तक बड़ा हो जाने के बाद शिशु के रूप में मां के शरीर से अलग होता है? एक दूसरा प्रश्न यह भी है कि वैज्ञानिकों के अनसार जब रज और नीचे भी जीव हैं, जड़ पदार्थ नहीं, तो उसमें भी कोई

आत्मा होती होगी। तो उनके मिलते समय कोई तीसरी आत्मा उन दो में से किसकी आत्मा के साथ मिलकर गर्भ स्थित मानव शरीर में प्रवेश करती है तब क्या वह उन दोनों जीवों की आत्माओं को धक्कों देकर बाहर धकेल देती और उनकी जगह आसन जमा कर बैठ जाती है? या तीन आत्मायें एक साथ मिलकर एक मानव शरीर की उत्पत्ति का कारण होती है।

आत्मा नाम के इस अपरिचित तत्व के सृष्टि और मनुष्य की उत्पत्ति का कारण मान लिया जाने से उस पुनर्जन्म, कर्म और परलोक के सिद्धान्त का जन्म हुआ जिसे प्राचीन भारतीय संस्कृति संस्कृति की एक महत्वपूर्ण देन माना जाता है। कुछ लोग अभी कहीं कुछ बच्चों के पूर्व जन्म की बातें बता देने से उसे सत्य सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। यदि वह सत्य है तो फिर हर मनुष्य को अपने पूर्व जन्म की बातें याद क्यों नहीं रहतीं? मनुष्य के सतर्क विवेक के अनुसार अपवादों से कोई नियम सिद्ध नहीं होता और फिर स्मृति मनुष्य के मस्तिष्क की विशेषता या गुण है जो इसी प्रकार हाड़ मास मज्जा से बना हुआ होता है जैसे उसका सारा शरीर। मस्तिष्क की सारी सूक्ष्मतम रासायनिक क्रिया प्रतिक्रियाओं को देखा जा सकता है। एक छोटे से आपरेशन से मस्तिष्क को अधिक स्मृति शक्तिधारी बनाया जा सकता है।

पुर्नजन्म के इस सिद्धान्त ने प्राचीन भारतीय संस्कृति के अन्धानुयायियों से क्या कुछ नहीं कराया। इससे ही वह धर्म का सिद्धान्त निकला-'कर्मण्ये वाधिकारस्ते मां फलेषु कदाचनः' जिसका अर्थ है मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र पर फल भोगने में परतन्त्र है। इसका अर्थ है कि हम श्रम से जो उत्पादन करें उस पर यदि कुछ लोग चालाकी से अपना अधिकार कर लें तो उन्हें रोकने का हमें कोई अधिकार नहीं। वह जो जो हमारे पास छोड़ दें उसे ही भोगना हमारी नियति या भाग्य है। इस भाग्य वाद के भ्रम में सारी जनता भरम पाकर रह गई। आज भी किसी अज्ञानी गरीब से उसकी गरीबी का कारण पूछा जाये तो कहेगा- 'यह मेरा भाग्य है या मैं वह पूर्व जन्म के कार्यों के फल भोग रहा हूं, इससे सारे देश की जनता भाग्यवादी और अपने के फल के लिए दूसरे के अधीन बनकर रह गई। सरकार की ओर से कानून बनाकर व्यवस्था बदलने के लिए जो प्रयास किये गये वह जनता के भाग्यवादी होने, अगले जन्म में इस जन्म से सत्कर्मों के फल पाने की आशा और परलोक में विश्वास के कारण सफल नहीं पाये और पूरी जनता के एक जुटता से सहयोग के अभाव में न तो आर्थिक विकास उतनी तेजी से हो पाया जितना हो सकता था और मनुष्यों में अपने समाज का निर्माता स्वयं होने का आत्म विश्वास ही नष्ट हो जाने से वह सामाजिक परिवर्तन भी नहीं हो पाये जिनका निरन्तर होते रहना सभ्यता और संस्कृति की गतिशीलता के लिए आवश्यक कहा जा सकता है।

आत्मा से ही सृष्टि और मनुष्य की उत्पत्ति में विश्वास और आत्मा क्या है यह किसी को ज्ञात न होने का ही यह परिणाम है कि लोग भूत, प्रेत, पिशाच आदि में विश्वास और आत्मा के छोटे, बड़े होने में विश्वास करके यह आशा करने लगे कि कोई महान आत्मा या अवतारी निवारण करेगा। गीता के इस श्लोक ने कि 'जब जब धर्म की ग्लानि होती है तब उसके अभ्युत्थान के लिए मैं जन्म लेता हूं' लोगों को किसी एक महान आत्मा या महापुरुष पर निर्भर रहकर अपने उत्थान और कल्याण या विकास की कामना करने वाला बना दिया। यही कारण है कि अपने प्रतिनिधि चुनकर सरकार बनाने वाली जनता सरकार से सब कुछ करने की आशा करती है। उसे केवल एक राजीव गांधी या उनका विकल्प चाहिए जो देश का यानी उसका उद्धार कर सके। समाज का निर्माता स्वयं होने का आत्मविश्वास उसमें से तिरोहित होता जाता है।

सृष्टि और मनुष्य की उत्पत्ति कब और कैसे हुई? इसे जानने के प्रयास भारत में प्राचीन काल से किये जाते रहे हैं, इसका साक्षी भारतीय सभ्यता संस्कृति का इतिहास है। ऐसे अनेक ऋषि, विचारक, चिन्तक या दार्शनिकों की एक पूरी श्रृंखला है जो न आत्मा से उत्पत्ति में विश्वास करते थे न पुर्नजन्म में। बाल्मीकि रामायण में जावालि ऋषि एक स्थान पर राम से कहते हैं 'हे राम न कहीं परलोक है न पुर्नजन्म? मैने वेदान्त दर्शन समझने के लिए गीता प्रेस से प्रकाशित एक पुस्तक 'वेदान्त दर्शन' पढ़ी थी। उसमें कपिल के सांख्य दर्शन, कणाद के परमाणु वाद, आदि के विचारों को लेकर जगह-जगह उनका खंडन किया है। चार्वाक भी उन्हीं में से एक है। इससे ज्ञात होता है 'ब्रह्म सत्य है जगत मिथ्या'। इसका प्रतिपादन करने के लिए अनेक मत मतान्तरों का खंडन करना आवश्यक था। चार्वाक, पूरक, सुश्रुत, वाराह, मिहिर, आर्य भट्ट आदि के नाम भी उपरोक्त श्रृंखला में लिए जा सकते हैं। गणित की दशमलव प्रणाली और वैदिक काल में वेदी बनाने की प्रक्रिया से उत्पन्न ज्यामिति ज्ञान और ज्योतिष ज्ञान भारतीय संस्कति की देन कहे जा सकते हैं। इन सब का एक क्रमबद्ध इतिहास लिखा जाने की आवश्यकता है। तभी आज के इस युग में जब ज्ञान विज्ञान इतना विकसित है कि मनुष्य ब्रह्मांड के अनेक क्षेत्रों में नया नया ज्ञान प्राप्त करता जा रहा है, कण के न्यूट्रान प्रोटान आदि को भी तोड़कर सत्य का ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा की जा रही है, प्राचीन भारतीय संस्कृति को कुछ अर्थों में प्रासंगिक और कुछ अर्थों में अप्रासंगिक कहा जा सकता है।

— —

बच्चों के लिए फिल्में

बच्चों के लिए कोई फिल्म तभी बनाई जा सकती है जब उसमें जो कुछ चित्रित किया जाये वह बच्चों की दृष्टि से देखकर चित्रित किया गया हो। बच्चों की दुनिया बड़ों की दुनिया से सर्वथा भिन्न होती है। उसकी सड़कें, मकान, गांव, नहरें, खेत सब बड़ों की दुनिया से भिन्न होते हैं। बड़े समझते हैं कि यह सब बच्चों के लिए भी वैसे ही हैं जैसे बड़ों के लिए। इसलिए वह जो चित्र उनके लिए बनाते हैं वह बच्चों को भी उतने ही आकर्षक नहीं लग पाते। टैगोर की 'काबुली वाला' कहानी बच्चों को इसलिए रोचक लगती है कि उसमें काबुली वाला अपने बड़प्पन को भुलाकर स्वयं एक बच्चा बन जाता है। ऐसे काबुली वाले न सही ठेले वाले, रिक्शे वाले, भिखारी, कुली, मास्टर साहब और न जाने कौन-कौन बच्चों के लिए जगह जगह मिल सकते हैं। काबुली वाला की आंखों में देखकर ही बच्चों की दुनिया को देखा और समझा जा सकता है। उनके लिए कहानियाँ और नाटक लिखे और चित्र बनाये जा सकते हैं। बच्चों की उस दुनिया में कौतूहल जिज्ञासायें हैं, कल्पनायें और इच्छा आकांक्षायें भी। उन सभी को बच्चों के लिए चित्रित किया जा सकता है।

5 से 11 वर्ष तक की आयु वर्ग के बच्चे जहां एक ओर अपने शरीर को हर समय हिलाना, डुलाना, दौड़ना, भागना, खेलना, कूदना पसन्द करते हैं वहीं दूसरी ओर उसमें जिज्ञासा तेज होती है। किसी ने ठीक ही कहा है कि विश्व के आधुनिकतम ज्ञान कोष और विज्ञान की पुस्तकें उनकी सम्पूर्ण जिज्ञासा को तृप्त नहीं कर सकतीं। हम बच्चों के शरीर और मस्तिष्क की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति को नहीं बदल सकते। पर हमें उनके लिए चित्र बनाने में भारतीय बच्चों के सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश की सीमाओं में रहकर ही चलना है। भारतीय कह देने से बच्चे अपने प्राकृतिक स्वभाव से अलग नहीं हो सकते? उनके सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश को हम उनके स्वभाव से देखकर ही समझ सकते हैं।

इस प्रसंग में मुझे एक आपबीती याद आती है। मेरी एक ममेरी बहिन है। नगर से बीस किलोमीटर दूर एक गांव में ब्याही हैं। एक दिन अपने 8 वर्षीय

नाती को लिए मेरे घर आई। नाती कहने लगा-बाबा कोई किताब दो पढ़ने को। मैंने उसे निराला जी की लिखी 'महाभारत की कहानियां' किताब दे दी। उसमें भीम अर्जुन आदि की छोटी-छोटी कहानियां थीं। वह दूसरे कमरे में से जाकर पढ़ने लगा। थोड़ी ही देर में वह लौट कर आया- 'बाबा! इसमें राक्षसों की कहानियां हैं। कोई और किताब दो। मैंने देखा तो उसमें बड़ी मूंछों वाले, भुजबंदा बांधे नंग धड़ंग व्यक्तियों के चित्र थे। वह उसे मनुष्यों के जैसे चित्र नहीं लगे। मुझे लगा कि आज के गांवों के बच्चे भी मनुष्यों के चित्र देखना चाहते हैं। प्राचीन भारतीय संस्कृति के महापुरुषों को भी उनके देखे भाले मनुष्यों के रूप में प्रस्तुत किया किय जाये, तो वह उन्हें अधिक अपना समझेंगे। उनकी अद्भुत अलौकिक या चमत्कारिक बातों को यदि साधारण तथा उनके लिए ग्राह्य बनाकर प्रस्तुत किया जाये तो उनकी बुद्धि कठिन होने के बजाय स्वाभाविक विकास के मार्ग पर अधिक तेजी से चल सकती है।

पौराणिक कहानियों को यदि अलौकिक तत्व हटाकर प्रस्तुत किया जाये तो वह उनके लिए अधिक ग्राह्य हो सकती है और उन्हें वह सन्देश दे सकती है जो उन्हें विवेकशील बनाने के लिए आवश्यक है।

बच्चों की स्वाभाविक जिज्ञासा सत्य का ज्ञान प्राप्त करने की होती है। हर बच्चा यह जानना चाह सकता है कि विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों, मौसमों और तापमानों से मनुष्य कैसे रहते हैं। उनके सुख-दुःख को कहानी के रूप में प्रस्तुत करके उसमें आत्म विश्वास पैदा किया जा सकता है। हमारे देश में तरह-तरह की वेशभूषा, रहन-सहन, आदतों, कलाओं और कार्य कलापों वाले मनुष्य रहते हैं उनसे परिचित कराकर हम उन्हें देश का बोध करा सकते हैं। अपनी सामाजिक परिस्थितियों को बदलने के लिए लोगों ने कैसे-कैसे संघर्ष किये हैं, उन्हीं संघर्षों में से एक स्वतन्त्रता संग्राम भी था, उन्हें यथार्थ रूप में प्रस्तुत करके बच्चों को समाज का निर्माता होने का विश्वास पैदा किया जा सकता है।

नैतिकता की शिक्षा इस आयु वर्ग के बच्चों के लिए आवश्यक कही जा सकती है। वह धर्म पर आधारित हो यह आवश्यक नहीं है। समाज में बुराई और भलाई में अन्तर करने और स्वयं अपने विवेक से भलाई की दिशा में चलने को प्रेरित करने से ही कोई बालक स्थायी रूप से नैतिक आचरण करने वाला बन सकता है। इसका अर्थ यह नहीं कि धर्म या धर्मों से बच्चो को अनभिज्ञ रक्खा जाये। उन्हें धर्मों का आदर करना न सिखाया जाये। उन्हें किसका आदर करना है किसका नहीं इसका निर्णय वह अपनी बुद्धि से ही कर सकते हैं। किसी चमत्कार या अलौकिक का भय दिखाकर नहीं। बुद्धि के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। और ज्ञान अथाह है। इसलिए बच्चों के लिए दिये जाने

वाले ज्ञान को बच्चों की दृष्टि से देखकर चुनना होगा। यह चयन काबुली वाला जैसे ही लोग कर सकते हैं।

एक अर्थशास्त्री के अनुसार देश के सबसे गरीब और सबसे धनवान व्यक्ति की आय में एक और बीस हजार रुपये का अन्तर है। तो वह सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश क्या हो सकता है जिसमें रहने वाले बच्चों के लिए हम कोई चित्र बनाने की कल्पना करें। इससे हमारे चित्र बनाने, उन्हें कुछ इमेज देने और उन तक कुछ ऐसा पहुंचाने जो उनकी शिक्षा के लिए अर्थवान हो, कैनवस बहुत व्यापक हो सकता है। पर हम चित्र बनाने का काम बच्चों की उन मूल प्राकृतिक प्रवृत्तियों के आधार पर ही कर सकते हैं जो सभी बच्चों में समान रूप से पाई जाती है।

5 से 11 वर्ष तक के बच्चों के जीवन में कल्पना का भी बड़ा महत्व होता है। कल्पना से वह अपने ज्ञान की कमी को पूरा करते हैं। उनकी बहुत सी इच्छा आकांक्षायें भी उससे पूरी होती हैं। राजा रानी, परियां, राक्षस और देवता उसी कमी को पूरा करने की कोशिश हैं। पर अब जब ट्रेक्टर और बिजली का प्रकाश, रेडियो ट्रांजिस्टर, दूरदर्शन और इलैक्ट्रानिक के अनेक सामान गांव-गांव तक पहुंच रहे हैं तो बच्चों को वैज्ञानिक सत्यों पर आधारित वैसी ही कहानियां रचकर दी जा सकती हैं जो परी कथाओं जैसी ही मनोरंजक हों। देश भर में सर्वत्र बिखरी हुई लोक कथाओं में से अनेक को लेकर ऐसा बनाया जा सकता है जो बच्चों की मूल प्रवृत्तियों के अनुसार मनोरंजक होने के साथ-साथ अर्थवान शिक्षा देने वाली हों।

नैतिकता जीवन मूल्यों और सामाजिक जीवन के कुछ आदर्शों की शिक्षा देना भी बच्चों के लिए आवश्यक समझा जा सकता है। सच्चाई और ईमानदारी के कुछ मूल्य उनके पास बिना शिक्षा के भी होते हैं। यह मूल्य उनमें कहां से आ जाते हैं? हम उसी स्त्रोत को पकड़ें तो उन्हें आसानी से शिक्षित कर सके हैं। यह स्त्रोत उनका अपना विवेक है जो उन्हें प्रकृति से मिला हुआ होता है। इसी के कारण वह दुनिया में किसी से कोई भेदभाव नहीं मानते। उनके स्वाभाविक विवेक को विकसित करने वाली शिक्षा ही उनकी वास्तविक शिक्षा हो सकती है।

□□

पौराणिक कथाएं :

ध्रुव

राजा उत्तानपाद की दो रानियां थीं। एक का नाम सुमति और दूसरी का नाम सुरुचि था। सुमति बड़ी थी। उसका एक पुत्र था जिसका नाम ध्रुव था। सुरुचि का भी एक पुत्र था जिसका नाम उत्तम था। राजा छोटी रानी सुरुचि को बहुत प्यार करता था। उसकी हर बात मानता और वह जैसा कहती करने को तैयार हो जाता था। सुमति बेचारी मन मारे महल में पड़ी रहती थीं और सुरुचि उसका जो अपमान करती उसे सहन करती थी। सुरुचि ने राजा से यह वचन ले लिया था कि उसके बाद गद्दी का अधिकारी ध्रुव नहीं उत्तम ही होगा।

सुरुचि ने राजा उत्तानपाद से सुमति की इतनी बुराई की कि उसे महल से निकलवा दिया। राजा ने उसके लिए एक अलग निवास बनवा दिया और वह अपने पुत्र के साथ अकेली उसमें रहने लगी। ध्रुव जब पांच वर्ष का हुआ तो एक दिन उसने अपनी मां से पूछा-''मेरे पिता कौन हैं?'' सुमति ने उसे राजा उत्तानपाद का नाम बता दिया। ध्रुव ने कहा-''मैं अपने पिता से मिलने जाउंगा।'' सुमति ने उसे नौकर के साथ महल में भेज दिया। नौकर को द्वार पर छोड़कर ध्रुव महल में बेरोक घुसता चला गया। वह राजा के कमरे में पहुंच गया। राजा अचानक उसे देखकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उसे बुलाकर अपने पास ही पलंग पर बैठा लिया। उसी समय सुरुचि कमरे में आ गई। उसने राजा से कहा-'तुम्हें अपना वचन याद नहीं है क्या? तुमने इस गंदे लड़के को अपने पास कैसे बैठा लिया। उतारो इसे नीचे और भगाओ यहां से।''

राजा मुख से कुछ भी न बोल सके। ध्रुव खुद पलंग से नीचे उतर कर उसी क्षण वहां से चला आया। उसके मन पर गहरी चोट लगी थी। घर आकर उसने सब बातें अपनी मां को बताई। सुमति उसे सुनकर बिस्तर पर जा लेटी और सिसक -सिसक कर रोने लगी। ध्रुव से मां का यह दुख देखा न गया। उसका दुख दूर करने का विचार उसके मस्तिष्क में घूमने लगा।

कुद दिनों बाद एक दिन ध्रुव ने अपनी मां से पूछा-''मां। दुनियां में मेरे पिता से भी बड़ा क्या कोई और है?'' सुमति ने कहा-''भगवान तेरे पिता से भी बड़े हैं। सुनते हैं वह सबके दुख दूर करते हैं। पर पता नहीं वह कहां रहते हैं। उन्हें किसी ने अपनी आंखों से तो देखा नहीं।''

ध्रुव ने मन में सोचा, 'भगवान कहीं भी हों मैं उनसे मिलूंगा जरुर।' उसी रात जब उसकी मां बिस्तर पर पड़ी रही थी वह चुपचाप उठा और घर से निकल कर चल दिया।

चलते-चलते वह अपने घर से बहुत दूर निकल गया। उसे बच्चा समझ कर जो कुछ खाने को दे देता उसे खा लेता और आगे चल देता। सवेरे से शाम तक वह हर समय घूमता ही रहता था और रात को जहां जगह मिलती वहीं सो जाता था। सवेरे उठकर फिर चल देता था। उसके मन में एक ही इच्छा थी। कि भगवान उसे कहीं मिल जाएं। वह अपने पिता से भी बड़े किसी राजा की मन में कल्पना करता पर वैसा कोई उसे मिलता ही नहीं था। एक के बाद एक अनेक नगरों में वह अकेला घूमता फिरा। इस प्रकार कई वर्ष बीत गए पर उसे भगवान के दर्शन कहीं नहीं हुए।

घूमते-घूमते एक बार वह जंगल में पहुंचा। जंगल के उस पार परलोक की सीमा शुरु होती थी। इस जंगल पर पृथ्वी और परलोक दोनों के निवासियों का अधिकार था। इसलिए मनुष्य और देवता दोनों ही जंगल में आया-जाया करते थे। बालक ध्रुव उस जंगल में और उसके पार भी घूमा फिरा, पर उसको भगवान कहीं नहीं मिले। आखिर थक हार कर वह एक दिन आंखे मींचकर एक पेड़ के नीचे बैठ गया। उसने मन में यह निश्चय कर लिया था 'कि जब तक भगवान आकर खुद नहीं कहेंगे कि मैं भगवान हूं, वह आंखे नहीं खोलेगा।' पृथ्वी के मनुष्य उसे बाल योगी समझकर उसके पास आते और उसे खाने-पीने की चीजें पकड़ा जाते थे। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र और कई देवता भी परलोक से उसे देखने आये और अपना-अपना परिचय देकर उससे आंखे खोलने को कहा, परन्तु उसने आंखे नहीं खोलीं। इस प्रकार उसे अकेले जंगल में आंख बंद किए बैठे-बैठे कई वर्ष बीत गए। उसने इस बीच में एक बार भी सूर्य का प्रकाश नहीं देखा था और मन में यह सोच लिया था कि भगवान यदि उसके पास न आए तो वह कभी आंखे नहीं खोलेगा।

एक दिन वह रोज की तरह आंखे बंद किए बैठा था, तभी किसी ने उसके पास आकर कहा-''मैं भगवान हूं, आंखे खोलों।'' ध्रुव ने खुश होकर आंखे खोल दी। उसने देखा कि उसके जैसा ही एक मामूली सा आदमी उसके सामने खड़ा है। उसने ध्रुव से कहा-'तुम मनुष्य में भी भगवान को देख सकते हो। भगवान वहीं बसते हैं जहां मेहनत करने वाले मनुष्य अपना खून पसीना एक करते हैं।'' ध्रुव की

समझ में बात आ गई। उसने उसी समय से उठकर गरीब मेहनत करने वालों की सेवा का काम शुरु कर दिया। वह उनकी बस्ती में जाकर उन्हें सुख पहुंचाने का काम करता। उनके घरों की सफाई करता। उनके बच्चों को नहला-धुला देता। कोई बीमार हो तो रात-दिन उसके पास बैठकर उसकी सेवा करता था। इस प्रकार वर्ष पर वर्ष बीतते गए। वह राज्य भर के गरीब लोगों की बस्तियों में बहुत लोकप्रिय हो गया था।

उधर उत्तानपाद काफी बूढ़े हो गए थे। राज्य में शासन का काम उनसे संभालता नहीं था। उनका पुत्र उत्तम अब बड़ा हो गया था। उन्होंने सोचा कि अब उत्तम को राजा बना देना चाहिए। सुरुचि यह सोचकर बहुत खुश थी कि वह अब राजमाता कहलाएगी। जब यह खबर राज्य की जनता में पहुंची तो लोग सोचने लगे कि हमारा चुना हुआ कोई व्यक्ति राजा क्यों न बने। राज्य में जगह-जगह से यह आवाज उठने लगी कि हम नहीं चाहते हमारे ऊपर कोई राजा थोप दिया जाए। हम अपना राजा खुद चुनेंगे। जनता अपनी इस मांग को लेकर विद्रोह करने को तैयार हो गई। राजा को ही नहीं सुरुचि को भी जनता की मांग के आगे झुकना पड़ा। उत्तम और ध्रुव में चुनाव हुआ। अधिकतर लोगों ने ध्रुव के पक्ष में मत दिया। ध्रुव राजा चुन लिया गया। सुमति राजमाता बन गई। पर राजा चुने जाने के बाद भी ध्रुव ने सुरुचि और उत्तम से कोई बदला नहीं लिया।

❑❑

[2]

प्रहलाद

बहुत पुराने समय की बात है। अपने देश में हिरण्यकश्यप नाम का राजा राज्य करता था। उसे अपने बल का बड़ा अभिमान था। वह अपने से अधिक शक्तिशाली किसी को नहीं समझता था। वह कहा करता था कि दुनिया की कोई ताकत मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकती। दुनिया से बाहर भी कहीं कोई शक्ति है इस पर उसका विश्वास नहीं था। मौत से भी वह नहीं डरता था। उसका कहना था, 'मुझे न कोई घर के अंदर मार सकता है न घर के बाहर, न धरती पर न आसमान में, न दिन में न रात में।" प्रजा में सब उससे डरते थे। उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई कुछ कह भी नहीं सकता था।

हिरण्यकश्यप का एक पुत्र था। उसका नाम प्रहलाद था। जब प्रहलाद बड़ा हुआ तो उसने उसे पढ़ने के लिए गुरु के पास भेजा। प्रहलाद बड़ा होनहार और बुद्धिमान बालक था। इसलिए गुरु उसे बड़े प्यार से पढ़ाते थे। पढ़ते-पढ़ते जब कुछ दिन बीत गए तो हिरण्यकश्यप ने सोचा देखना चाहिए प्रहलाद की पढ़ाई कैसी चल रही है। उसने उसे गुरू के साथ अपने पास बुलाया। और प्रहलाद से पूछा "दुनिया में सबसे अधिक बलवान कौन है?" उसे आशा थी कि वह कहेगा-'आप।' पर प्रहलाद ने उत्तर दिया-'ईश्वर जो सबको बनाता है।"

हिरण्यकश्यप यह सुनते ही आग बबूला हो गया। उसने गुरू से कहा-'यही तुमने इसे पढ़ाया है?"

गुरू बोले-"मैंनें तो इसे यह नहीं पढ़ाया है। यह तो स्वयं अपनी बुद्धि से कह रहा है।"

हिरणयकश्यप ने कहा-'ले जाओ और इसे ठीक-ठीक शिक्षा दो। इसकी यह मूर्खता की बातें मुझे पसन्द नहीं।'

गुरुजी बेचारे प्रहलाद को लेकर चले आए और उसे सारी विद्याएं पढ़ाने लगे। वह उसे पढ़ाने में कहीं ईश्वर का नाम भी नहीं आने देते थे। इस प्रकार

पढ़ाते-पढ़ाते जब काफी दिन बीत गए तो फिर हिरण्यकश्यप ने प्रहलाद को अपने पास बुलाया और उससे प्रश्न किया-'दुनिया में सबसे अधिक बलवान कौन है?"

प्रहलाद ने फिर वही उत्तर दिया-'ईश्वर।'

हिरण्यकश्यप के तन बदन में आग लग गई। उसने क्रोध में भरकर कहा-'ईश्वर? ईश्वर किस चिड़िया का नाम है? तू मेरे बल को नहीं जानता?"

प्रहलाद ने कहा-'जानता हूं आप बहुत बलवान हैं। पर आपसे भी बलवान एक शक्ति और है। उसी का नाम ईश्वर है।'

हिरण्यकश्यप ने कहा-'यह ढीठ बालक ऐसे ठीक नहीं होगा। जब अभी से यह हाल है तो आगे चल कर क्या करेगा। इससे तो बिना संतान के होना अच्छा। इसे अपना बल दिखा ही दूं।" उसने अपने दो मोटे-तगड़े नौकरों को एक साथ आवाज दी। दोनों उसके सामने आकर खड़े हो गए। हिरण्यकश्यप ने बिजली की तरह कड़क कर कहा-'इसे ले जाओ अभी। दूर ले जाकर किसी गहरे समुद्र में फेंक देना और पत्थर मार-मार कर डुबा देना। तब यह मेरे बल को समझ पायेगा।"

नौकरों ने बढ़ कर प्रहलाद को अपने दोनों हाथों में पकड़ कर उठा लिया। उन्होंने उसे ले जाकर गहरे समुद्र में फेंक दिया और किनारे पर खड़े दूर से पत्थर फेंक कर मारते रहे। जब प्रहलाद उन्हें समुद्र में दिखाई नहीं दिया तब उन्होंने समझ लिया कि वह मर गया है। वह लौट आए और राजा को यह समाचार सुना दिया।

पर प्रहलाद, जब नौकर पत्थर फेंक कर मारते थे, पानी में डूब जाता था, इसलिए एक भी पत्थर उसे नहीं लगा। हाथ पैर मार कर तैरना वह अपने आप जान बचाने की कोशिश करते हुए सीख गया था। वह बार-बार डूबते और तैरते हुए कुछ दूर जाकर समुद्र के किनारे पर बाहर निकल आया।

एक दिन शाम के समय हिरण्यकश्यप अपने घर के बाहर बरामदे में बैठा हुआ था कि प्रहलाद उसके सामने आकर नीचे आंगन में खड़ा हो गया। हिरण्यकश्यप को बड़ा आश्चर्य हुआ उसने पूछा-'तू बच कैसे गया?'

प्रहलाद ने कहा-'ईश्वर की दया से।'

हिरण्यकश्यप मुंह बिगाड़ कर बोला-'फिर वही ईश्वर! ईश्वर! कहां है तेरा ईश्वर! क्या तूने उसे देखा है?'

प्रहलाद ने कहा-'देखा तो नहीं। पर ऐसी कोई जगह नहीं जहां वह मौजूद न हो।'

हिरण्यकश्यप ने कहा-'तो क्या वह यहां भी इस समय मौजूद है?'

प्रहलाद ने कहा-'हां। वह दुनिया की हर चीज में हर समय मौजूद रहता है।'

हिरण्यकश्यप ने और कोई चीज सामने न पाकर बरामदे के खम्भे की ओर इशारा करके पूछा-'तो क्या वह इस खम्भे में भी है?'

प्रहलाद ने जोर देकर कहा -'हां...।'

हिरण्यकश्यप प्रहलाद की इस 'हां' को सुनते ही क्रोधित होकर आपे से बाहर हो गया। उसने खड़े होकर अपनी पूरी ताकत से दोनों हाथों से खम्भें में धक्का मारा कि दिखा कहां है ईश्वर? खम्भा बीच से आधा टूट कर दूर जा गिरा और हिरण्यकश्यप उस बीच में टूटे हुए खम्भे पर धड़ाम से औंधे मुंह गिरा। इतने में टूटे हुए खम्भे का आधा ऊपर का भाग उसके ऊपर आ गिरा। उसका सिर चकनाचूर और सारा शरीर लहूलुहान हो गया। वह वहीं दब कर मर गया।

उस समय सूरज डूब रहा था। न दिन था न रात। वह न घर के बाहर था, न अन्दर था, न बाहर आंगन' में था और न धरती पर था, न आकाश में।

□□

[3]

गोवर्धन गिरधारी

प्राचीन काल में उत्तरी भारत में यमुना किनारे ब्रज नाम का एक छोटा सा गांव था। उसमें रहने वाले लोग पशु पालते और खेती किया करते थे। गौ को वह धन मानते थे और उसकी बड़ी सेवा किया करते थे। वह उन्हें दूध-दही और मक्खन देती थी। कहते हैं उन दिनों ब्रज में दूध-दही की नदियां बहा करती थीं।

ब्रज में रहने वाले में एक पुरानी प्रथा चली आई थी। वह इन्द्र देवता की पूजा किया करते थे। उनका विश्वास था कि इन्द्र ही पृथ्वी पर वर्षा करते हैं जिससे उनके गाय बछड़ों के लिए चारा और अनाज पैदा होता है। पूजा करते हुए वह कहा करते थे-"हे इन्द्र देवता! इतनी अधिक वर्षा मत करना जिससे बाढ़ आ जाए और इतनी कम वर्षा भी मत करना कि सूखा पड़ जाए।"

कृष्ण भी उसी गांव में रहने वाली यशोदा के पुत्र थे। वह कहा करते थे-'इन्द्र की पूजा करने से कुछ नहीं होता। बाढ़ और सूखे से तो अपने आप उपाय करने से ही बचा जा सकता है।" गांव के और बहुत से लड़के कृष्ण के साथी थे। वह भी इन्द्र की पूजा को बेकार समझते थे।

इन्द्र की पूजा के लिए घर-घर पकवान बनाए जाते थे पर वह लड़के उन पकवानों को पूजा होने से पहले ही खाना शुरु कर देते थे। उनके माता-पिता उन्हें समझाते और डांटते थे कि ऐसा मत करो इससे देवता नाराज हो जायेंगे। पर वह मानते ही न थे और चुरा-चुरा कर पकवान खा जाया करते थे।

एक बार ब्रज में घनघोर वर्षा हुई। कई दिन तक लगातार सूर्य के दर्शन नहीं हुए। ब्रज के चारो ओर जल ही जल भर गया। यमुना में भी बाढ़ आने लगी। इससे खतरा पैदा हो गया कि कहीं ब्रज गांव पानी में डूब न जाए। ब्रज के लोग कहने लगे-'यह मुसीबत कृष्ण के कारण आई है। इसने इन्द्र देवता को नाराज कर दिया। घरों में पानी भरने लगा तो हम कहां रहेंगे और कहां अपने गाय बछड़े बांधेंगे।

कृष्ण ने अपने सारे साथियों की एक सभा की और कहा-" हमारे गांव में ही एक टीला है। हमें सारे गांव वालों को उसी टीले पर पहुंचा देना चाहिए। उनका सामान भी वहीं पहुंचा देना चाहिए जिससे गांव में बाढ़ आए तो सब बचकर रह सकें।"

कृष्ण और उनके साथी उसी समय इस काम में लग गए। वह घरों से सारा सामान निकाल-निकाल कर टीले के ऊपर पहुंचाने लगे। खटिया, बिस्तर, कपड़े, अनाज, मटका सब आनन फानन में टीले के ऊपर पहुंचा आए और जो छप्पर आसानी से उतर सकते थे उन्हें भी ले जाकर टीले पर छा दिया। सारे जानवर गाय, बैल, बछड़े भी ले जाकर वहीं बांध दिए और फिर सारे बच्चों और बूढ़ों को भी टीले पर पहुंचा दिया और उनसे कहा-' जब तक बाढ़ का पानी कम न होने लगे हमें यहीं रहना है।'

गांव के सारे लोग टीले पर रहने लगे। वहां एक नया गांव ही बस गया था। उन्होंने उस टीले का नाम गोवर्धन रख दिया था। कुछ दिनों के बाद जब बाढ़ का पानी कम हुआ तो फिर ब्रज के सब लोग टीले से उतरकर अपने गांव में आकर रहने लगे।

इसके बहुत दिनों बाद तक गांव के बड़े-बूढ़े लोग उस बार की भयंकर बाढ़ की मुसीबत की याद करके कहा करते थे-" उस समय तो कृष्ण ने ऐसी फुर्ती दिखाई थी मानों गोवर्धन को अपने हाथ पर उठा लिया हो।"

आगे भी यह बात फैलती गई और लोगों ने कृष्ण का नाम गोवर्धन गिरधारी रख दिया।

□□

कविताएं :

विहग कुमार

चला जाता वह विहग कुमार
शून्य नीले नभ में निश्चिन्त हिलाता पंखों के पतवार।
तपस्वी सन्यासी-साधीर, हृदयगत भावों में तल्लीन
विरत वैरागी-सा विद्वान, कल्पना-सा कवि की स्वाधीन।
अखिल भव चिन्ताओं से दूर, चहकता एकाकी चुपचाप
हृदय का ओस-बिन्दु सा स्वच्छ, विचारों में निर्भय निष्पाप।
क्षितिज पर कहीं जमाये दृष्टि, सरलता की प्रतिमा साकार
चला जाता वह विहग कुमार।

अनेकों ग्राम नगर पुर प्रान्त विजन वन वीथि खेत खलिहान
सरित सर नद निर्झर गिरि श्रृंग पहाड़ी रेतीले मैदान।
गगन गत महलों के प्राचीर नृपों के स्वप्नों के आधार
चर्च मन्दिर मस्जिद के बुर्ज मठों के गुंबद गोलाकार।
कुतुब औ ताजों के मीनार न जाने कितने करता पार
चला जाता वह विहग कुमार।

लड़ें बनकर प्राणों के शत्रु कहीं हिन्दू मुस्लिम क्रिस्तान
कहीं पर पंथ मतों का भेद करा दे लाखों को कुर्बान।
पुजारी पंडित मोमिन शेख बना धर्मध्वज-धर का वेश
पुराणों वेदों की ले ओट सिखायें जग को करना द्वेष।
समझता है वह धर्म-अधर्म मनुज बंदी गृह की दीवार
चला जाता वह विहग कुमार।

सताये उसे न योग वियोग न वह सुख सुन्दरता का भक्त
न सुकुमारी की मृदु मुस्कान और मधु चितवन पर अनुरक्त।
किसी रति रमणी से सुकुमारि सुमन की शैया पर अभिसार
किसी सुन्दर युवती के गोल गुलाबी मधु अधरों का प्यार।
उसे पथ-विचलित कर पाये न कभी जग के शोभा श्रृंगार
चला जाता वह विहग कुमार।

न उस पर शासन-न्याय-विधान रिवाजों नियमों का प्रतिबंध
न उसका नीतिज्ञों के नाम न उसका अग जग से संबंध।
अपरिचित है उड़ने का क्षेत्र अमित उसकी गति का विस्तार
उसे बंधन में रख पाये न मनुज के से संकुचित विचार।
हृदय उसका उज्जवल अविकार ध्येय उसका है उच्च अपार
चला जाता वह विहग कुमार।

विहग! ओ विहग! ठहर पल एक जरा सुन ले मेरी भी बात
चला जाता है तू इस ओर कहां? ले ले मुझको भी साथ।
कुटिलताओं से है परिपूर्ण यहां मानव जीवन व्यापार
नहीं मेरे रहने के योग्य कहीं पृथ्वी पग भी दो चार।

जहां भाई-भाई में फूट और घर-घर में बैर विरोध
जहां संयम से सुख को आग लगाकर रोया करता क्रोध।
जहां पग-पग पर मानव पंगु बना देखो करता उत्क्रांति
जहां के कोलाहल के बीच न मिल पाती पल भर को शांति।

जहां पर जाति देश औ' धर्म करें मर मिटने का आदेश
समझ सकते हो तुम खुद खूब वहां की मानवता के क्लेश।
सरल मन-मृग करने को मुग्ध सजाकर शुचि श्रृंगार अनूप
जगत में है अगणित सुकुमारि लुटाने वाली यौवन रूप।
सरल अधरों में भर-भर प्यार अनेकों देने को तैयार
किन्तु मैं सोच रहा दिन रात करूं कैसे किससे अभिसार।

बनेंगे निश्चय ही कल क्षार आज के गर्वीले छविमान
हुआ करता है क्षण-क्षण बाद मनुज के सुख दुख का अवसान।
करूं मैं कैसे उसको प्यार कि जिसकी केवल दो दिन बाद
सताने दुख देने के हेतु हृदय में रह जायेगी याद।

समझता हूं मैं भली प्रकार कि है कितने पानी में विश्व
स्वप्न-वत् निराधार निस्सार किसी कवि की वाणी में विश्व।
चलूंगा विहग! तुम्हारे साथ त्याग मैं यह नश्वर संसार
बनाऊंगा निज प्रेम कुटीर कहां इस ओर क्षितिज के पार।

करूं उड़ने की इच्छा किन्तु, यहां इच्छा करना भी पाप
मनुज की आशाओं पर उच्च अमिट है असफलता की छाप।
विधाता ने हैं दिये न पंख, रहूं तो क्या मैं निज मन मार
मुझे भी उड़ना किसी प्रकार सिखा दो तुम, हे विहग कुमार!

❑❑

हमारा धर्म

जीना धर्म हमारा।
अगर पेट भरने को भोजन दो कण हमें नहीं मिल पाये
रक्त देह का सूख रहा हो प्राण उफन होंठो पर आये
उर की प्यास बुझा लेने को आंखों में भी नीर नहीं हो
मौत सामने मुस्काती हो लेकिन हृदय अधीर नहीं हो
ऐसे समय न सोचे समझे, छीन झपटकर
लूट और चोरी वध करके
भोग देवताओं के खाना-पीना धर्म हमारा।
जीना धर्म हमारा।

पड़े शीत की ठण्डी रातों में यदि हम पाकड़ के नीचे
सिकुड़े सिमटे आंखे मीचे
सिसक-सिसक कर छोड़ रहे हों दर्द भरे निःश्वास
और हवायें शीतल आकार देह गलाये डाल रही हों
तन ढकने को वस्त्र नहीं हो
रात बिताने को ईंधन के लिए न पैसा पास
तो ऊंचे-ऊंचे महलों का सभी साज सामान जमाकर
आग लगाकर, ज्वाल जगाकर
उसकी लपटों से अपना तन ताप-ताप कर
जग में जीवित रहना धर्म हमारा।
जीना धर्म हमारा।

किसी देवता के चरणों की रज पर बिना मोल बिक जाना
आत्म-समर्पण करना अपने प्राणों का बलिदान चढ़ाना
आंखों में आंसू भर लाना, नहीं हमारा धर्म



नहीं हमारा धर्म जगत से भीख दया की मांग-मांग कर
जन-जीवन का मोह त्याग कर
बिना मौत मर जाना, मर कर फिर दुनिया में आना
धर्म हमारा है जीने का जन्म सिद्ध अधिकार
और प्राण देकर भी करना जीवन का उद्धार।

(जून, 1941)

❏❏

बिरला मंदिर

यह ऊंचे मंदिर बनवाकर
नभ-चुंबी दीवार उठाकर
बड़े-बड़े पत्थर खुदवाकर
बड़ी-बड़ी बहुमूल्य मूर्तियों में मणि रत्न स्वर्ण जड़वाकर
आज तुम्हारे उर में जागी युग-युग जीने की अभिलाषा?
अमर रहेगा नाम तुम्हारा
कहा करेंगे लोग कभी था कोई बिरला सेठ!
और मृत्यु के बाद मिलेगा स्वर्गों में सम्मान!
सम्भव है इस धर्म दान से हिल जाये इन्द्रासन।
तुम युग-युग जीने के इच्छुक अमर देव पद के अभिलाषी
जग के सुख वैभव से भरे पुरे, सुख-स्वर्गों के विश्वासी।
और हमें पल-प्रति-पल जीवन
एक भयंकर भार रहा बन।
देखो यह विकराल, खड़ा है हम भूखों का काल
नहीं शिराओं में बाकी है दो बूंदे भी रक्त
नहीं यत्न कर भी हम सकते गिरा नयन से नीर
खाल हड्डियों पर है सूखी काई सी मुरदार।
ऐसे में तुम हमें बनाने आये ईश्वर-भक्त?
हमें सिखाने आये हो तुम दया धर्म का ज्ञान?
हमें दिलाते कला और संस्कृति-रक्षा का ध्यान?
हमें एक पल जीना दूभर
तुम जीना चाहो वर्षों तक बनकर अमर-अजर?
निज धन बल पर आज तुम्हें है इतना गर्व गुमान?



दया?
दया शोभिती है महलों में ही रहने वालों को
जो पल भर भी दया-दृष्टि कर
किसी जगह भी दिखला सकते सुख वैभव की अमर सृष्टि कर।
हमसे दीन दया के पात्र
पर अनुकंपा पर अवलंबित जिनका जीवन-गात्र
दिखलायेंगे दया किसी पर क्या?

कला?
कला उन्हीं की है जो हैं अति सुखी और सम्पन्न।
हम-से दीन विपन्न
दुर्बलतावश जिनके मुख से नहीं निकलते बोल
क्या समझेंगे भला
मधुर कल्पना और सत्य या शिव सुन्दर का मोल।
कला हमें तो है धनिकों की क्रीड़ा रास बिलास
कला हमें तो है दुखियों की पीड़ा का उपहास।

धर्म?
धर्म के रक्षक हैं वे जो हैं भूप महान
जिनके धन का दान
कायम रखता है दुनिया में देवों का अस्तित्व
और धर्म-ध्वज-धारी ब्राह्मण का करता कल्याण।
हमने देखें हैं वे मंदिर
जिनके दीन पुजारी पाते नहीं कहीं से दान
खंड-खंड होकर जाते गिर।
और देवता शंकर हों या ब्रह्मा, विष्णु, महेश
धनिकों का धन दान न पाकर
मिट्टी में मिल जाते हैं मर।
धन पर निर्भर है जो धर्म, उसका मर्म
समझ न पायेंगे हम निर्धन भूखे दीन गंवार
गीता-वेद-पुराण
दर्शन-उपनिषदों का ज्ञान
वही विचार सकेगा जो है भोजन से निश्चिन्त।

❏❏

बाबा तुलसीदास!

बाबा तुलसीदास!
अगर ले सको तो लो जग में तुम फिर से अवतार
अपने इन भोले भक्तों की
पलकों से यह राम राज्य का सुखमय मादक स्वप्न हटा लो।
जिन तक नहीं पहुंच हो सकती
इनकी आंखों के आगे से ये ऊंचे आदर्श उठा लो।
भोजन और वस्त्र के ऊपर, जीवन भर भरकस प्रयत्न कर
आज नहीं उठ सकता मानव।
भक्त तुम्हारे आज जगत में भटक रहे हैं ऐसे
भेड़ बकरियों जैसे,
छोड़ गया हो जिन्हें अंधेरे रस्ते में चरवाहा।
रामराज्य है केवल अच्छी कहने भर की बात
राम भरत के उच्च चरित्र, उज्जवल और पवित्र
लगते हैं कमरे में लटके प्राण हीन से चित्र।

राम नाम का आज विश्व में होता है व्यापार
दुनिया में है दया धर्म के लाखों ठेकेदार।
राम वहीं आदर पाते हैं
जिनके नीचे गड़ी हुई हो अरबों को सम्पत्ति
जिनके नाम लगी होती है लाखों की जागीर।
बात मानते हैं जिनके महन्त की वायसराय
बनकर सदा सहाय।
उन पुजारियों का चल पाता किन्तु नहीं व्यवसाय
जिनके मंदिर और देवता होते हैं धनहीन
दीन और प्राचीन।
भक्तों को ठगने का साधन बने हुए हैं राम
पापों को ढकने का साधन है सीता का नाम।

(अगस्त, 1941)

❑❑

ताजमहल

बीसियों बार तुझे दूर से देखा मैंने
बीसियों बार तुझे पास से देखा मैंने
पर हमेशा तू मुझे एक खिलौना-सा लगा
देखने आते हैं जो दुनिया के बच्चे सारे
केनेडी टीटो एलिजेबिथ या ख्रुश्चेव सभी
कैसे अचरज से तुझे देख के ललचाते हैं
दिल को बहलाने को तस्वीर ही ले जाते हैं।

देखकर तुझको हर इक बार मुझे ऐसा लगा
प्यार इन्सान के बचपन की सरलता तो नहीं?
जिस जमाने के शंहशाह ने बनवाया तुझे
किस कदर उसके बुढ़ापे में भी बचपन होगा।

देखकर तुझको हर इक बार मुझे ऐसा लगा
लाखों मजदूर झुकाये हुए गरदन अपनी
पीठ पर लादे हुए भारी से भारी पत्थर
अपनी मुमताजों के सुख-दुख की न चिंता करके
जोध, जयपुर से चले आते हैं यमुना की तरफ

मैं अगर आज तुझे देख के विद्रोह करूं
तेरे गुंबद पै चढ़ूं और हथौड़े मारूं
तेरी मीनारें गिरा दूं तेरी नींवे खोदूं
तो क्या उस प्यार का अस्तित्व ही उठ जायेगा
जो किसी एक में होता है दूसरे के लिए।

फिर भी इतना तो मैं विश्वास दिलाता हूं तुझे
अब किसी एक को अभिमान में अंधा होकर
दूसरा ताज नहीं और बनाने दूंगा।
प्यार करने के लिए सबको बराबर हक है
प्यार पाने के लिए सबको बराबर हक है।
अब तो कोई भी मेरे देश की रहने वाली
तेरी मुमताज से कम प्यार की हकदार नहीं।
प्यार अब कैद किसी एक की नजरों में नहीं।
प्यार अब कोई किसी ताज का मुहताज नहीं।
(सन, 1964)

चार गजलें

(1)

किसको अच्छा किसे बुरा कहिए
खुद को कहिए किसी को क्या कहिए।

आप जो कुछ कहें जिसे चाहें
आदमी को तो मत खुदा कहिए।

सारी दुनिया को जो कहें माया
सामने उनके जाके क्या कहिए।

मुझसे कुछ सुनना चाहते हैं क्या
जुर्म साबित है तो सजा कहिए।

आदमी ही गुनाह करता है
क्या इरादा है आपका, कहिए।

जिनसे कोई न मिल सके राहत
उनको किस मर्ज की दवा कहिए।

हमको मालूम है कि वह क्या हैं
आप ही उनको देवता कहिए।

(2)

शब्दों के अर्थ और इशारे बदल गये
संबंध अब हमारे तुम्हारे बदल गये।
कहते हैं किस्मतों को चलाते रहे थे जो
इन्सान के वह चांद-सितारे बदल गये।

सत्ता की राजनीति ने यह क्या किया कि वह
बिलकुल करीब थे जो हमारे बदल गये।
इन्सान क्या है मिट्टी है, मिट्टी कुम्हार की
जब चाक पर चढ़े तो बिचारे बदल गये।

वातावरण को अपने नहीं जो बदल सके
वह खुद ही उसके खौफ के मारे बदल गये।
अब तक बना हुआ है यह पुल जाने क्यों यहां
कब से नदी के कूल-किनारे बदल गये।

(3)

सड़को पै बदहवास चले जा रहें हैं लोग
मंजिल का कुछ पता न कहीं पा रहे हैं लोग।
अपनी व्यथा कथा तो सुनाई नहीं गई
दुख-दर्द दूसरों के खड़े गा रहे हैं लोग।
मौसम के पके आम तो छू भी नहीं सके
पिछले जनम के फल हैं जिन्हें खा रहें हैं लोग।
मन्दिर में पूजने के लिए मूर्ति की तरह
यह आदमी कहां से उठा ला रहे हैं लोग।
आंसू न गिराओ न सही सिर ही झुका लो
इन्सानियत की लाश लिए आ रहे हैं लोग।

(4)

अपनी आंखों पर पड़ा पर्दा हटाकर देखिए
मैं कोई सपना नहीं हूं पास आकर देखिए।
जो युगों से जाति कुल की काबुकों में कैद हैं
वह कबूतर आसमानों में उड़ाकर देखिए।
रस गिरे मुंह में टपककर यह कभी मुमकिन नहीं
आम खाना है तो पेड़ों को हिलाकर देखिए।
अपनी आंखों से ही दुनिया देखना काफी नहीं
सबकी आंखें अपनी आंखों से मिलाकर देखिए।
सैकड़ों सूरज अंधेरा दूर कर सकते नहीं
आप अपने आप को दीपक बनाकर देखिए।
मुझको सुन्दर देखना ही चाहते हैं आप तो
पीछे हटकर और थोड़ा दूर जाकर देखिए।

□□



बाल कविताएं :

ज्योतिषी



एक ज्योतिषी सड़क किनारे
पोथी को फैलाकर,
बता रहे थे भाग्य किसी का
ज्योतिष गणित लगाकर।

'अगले वर्ष तुम्हारे घर में
दो बच्चे खेलेंगे,
इसी माह में केतु उदय है
राहु अस्त हो लेंगे।

'दस दिन में कुनबे का कोई
खो भी जा सकता है
पर शनि के प्रभाव से घर भी
वापिस आ सकता है।'

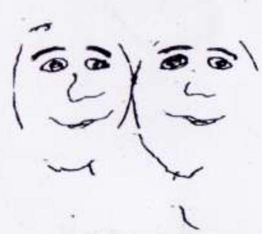
तभी एक लड़के ने आकर
कहा ज्योतिषी जी से
'पुत्र तुम्हारा गिरा कुएं में
उठो, चलो जल्दी से।'

भाग्य पूछने वालों के सिर
यह सुनकर चकराए,
कैसी ज्योतिष विद्या लेकर
ये पंडित जी आए?



अपने बेटे के भविष्य का
जिनको पता नहीं था,
भाग्य भविष्य दूसरों का वे
बतला सकते हैं क्या?

आइंस्टीन



दुनिया में हैं जितने पदार्थ
बिजली, पानी या पत्थर,
एक जरा सा रजकण का-अणु
उन सबसे है ताकतवर।

सिद्ध इसे कर दिखलाया था
कभी एक वैज्ञानिक ने,
आइंस्टीन नाम था जिसका
सबको चकित किया उसने।

उसने कहा कि इतनी ऊर्जा
छिपी हुई है अणु में,
जो निकले तो फैल सकेगी
पृथ्वी के कण-कण में।

उस ऊर्जा से अमरीका ने
अणु बम एक बनाया,
महायुद्ध में हिरोशिमा पर
ले जा उसे गिराया।

सर्वनाश से जिसके दुनिया
थी इतनी घबराई,
उसकी दहशत से बेचारी
अब तक उबर न पाई।

लेकिन आइंस्टीन का कहना
थी यह अणु की ऊर्जा,
अगर नियंत्रित कर ली जाए
तो काम बहुत सकती आ।

उस ऊर्जा से अंतरिक्ष में
स्पुतनिक गए उड़ाए,
राकेट में मनुष्य चांद के
ऊपर तक हो आए।

अब अणु ऊर्जा से उपग्रह हैं
अंतरिक्ष में रहते,
हमें भेजते समाचार जो
हम टी.वी. पर सुनते।

दिया ज्ञान जो आइंस्टीन ने
हम हैं उसके आभारी,
उससे बदली जा सकती है
अब यह दुनिया सारी।

तारों का विद्यालय



आसमान वह नहीं किसी विद्यालय का मैदान बड़ा
बिना पेड़ पौधे झाड़ी के दूर दूर तक खुला पड़ा।
लाखों और करोड़ों जो यह दिखलाई देते तारे
विद्यालय में आकर पढ़ने वाले हैं बच्चे सारे।
उनमें से कुछ नन्हें मुन्ने कुछ बच्चे हैं बड़े-बड़े
कुछ दुबले-पतले बेचारे कुछ बच्चे मोटे-तगड़े।
आंख मिचौनी खेल रहे कुछ, कुछ बन ती ती खेल रहे
कुछ आपस में झगड़ा करते कुछ सबसे कर-मेल रहे।
चंदा मामा अध्यापक हैं वह सब उनसे डरते हैं
लेकिन उनकी आंख बचे तो शैतानी ही करते हैं।
पर सुनते हैं हेडमास्टर उनका बड़ा भयंकर है
कुर्सी छोड़ निकल आता वह जब कमरे से बाहर है।
हो जाता मैदान साफ सब खेल छोड़ भाग जाते हैं
अपनी कक्षाओं में जाकर पढ़ने में लग जाते हैं।
शाम हुए जब हेडमास्टर अपने घर जाने लगते
बच्चे निकल-निकल कक्षाओं से बाहर आने लगते।
जिस विद्यालय में पढ़ते हैं अन गिनती बच्चे इतने
उसमें कितनी कक्षाएँ हैं? अध्यापक होंगे कितने?

□□

तोता और लुहार



एक बार जंगल का तोता
उड़ते उड़ते आया,
बैठ मुंढेरी पर लुहार की
टांव टांव चिल्लाया,
'तू क्यों यह बेचा करता है
पिंजरे बना बना कर,
क्या सुख मिलता तुझको इनमें
पंछी फंसा फंसा कर?'
कहने लगा लुहार, 'अगर मैं
पिंजरे नहीं बनाऊं,
और न बेचूं तो घर भर का
कैसे खर्च चलाऊं?'
तोता उड़ चल दिया वहां से
उससे कहता कहता,
'पिंजरे वही बनाता है जो
खुद बंधन में रहता।'

□□

अगर अमर

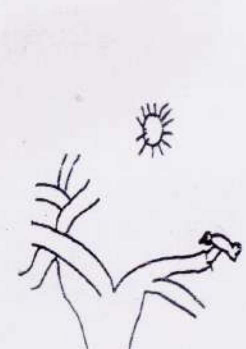


अगर अमर दो भाई थे
लड़ते खूब लड़ाई थे,
अगर मगर से छोटा था
मगर अगर से खोटा था
अगर नहीं चुप रहता था,
बोल बीच में पड़ता था
और मगर से लड़ता था।

मगर एक दिन झल्लाया
गुस्से में भरकर आया,
और मगर में टूट पड़ा
हुई खूब गुत्थम गुत्था।
छिड़ा महाभारत का भारी
गिरीं मेज कुर्सी सारी,
यह सुन मां घबराईं
बेलन ले बाहर आईं।
दोनों के दो दो जड़कर
अलग कर दिये अगर मगर,
खबरदार जो कभी लड़े
बन्द करो यह सब झगड़े।
एक ओर था अगर पड़ा
मगर दूसरी ओर खड़ा।

□□

चिड़िया का गीत

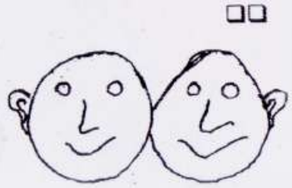


सबसे पहले मेरे घर का
अंडे जैसा था आकार,
तब मैं यही समझती थी बस
इतना सा ही है संसार।
फिर मेरा घर बना घोंसला
सूखे तिनकों से तैयार,
तब मैं यही समझती थी बस
इतना सा ही है संसार।
फिर मैं निकल गई शाखों पर
हरी-भरी थीं जो सुकुमार,
तब मैं यही समझती थी बस

इतना सा ही है संसार।
आखिर जब मैं आसमान में
उड़ी दूर तक पंख पसार,
तभी समझ में मेरी आया
बहुत बड़ा है यह संसार।

□□

तितली और बच्चे



देखो, देखो आई तितली,
चंचल पंख हिलाती,
फूल-फूल पर, कली-कली पर
उड़-उड़कर मंडराती।
कितने सुन्दर पर हैं इसके
चम-चम-चम चमकीले,
हरे, बैंगनी, लाल, बसंती
काले, पीले, नीले।।
बच्चों ने जब देखे इसके
प्यारे खेल निराले,
छोड़-छाड़कर खेल-खिलौने
दौड़ पड़े मतवाले।
दौड़ रहे हैं पीछे-पीछे
ललचाए-ललचाए,
सबकी आंख लगी है उस पर
दौड़े हाथ बढ़ाए।।
'यह पकड़ी' 'यह पकड़ी' कहते
पर वह हाथ न आती,
रह जाते वे हाथ मसलते
दूर बहुत उड़ जाती।
बच्चों के भी पर होते तो
साथ-साथ उड़ जाते,
और हवा में-उड़ते-उड़ते
दूर सैर कर आते।।

□□□

'संदर्श'-10/पत्र

- इस अंक में सब पठनीय है, और विचलित करता है। गोपाल प्रधान की डायरी, विष्णु चन्द्र शर्मा की रिव्यू, पराग और दफैरुन की कविताएं भी। नाटक पढ़ नहीं सका हूं, पर 'रहबर के बहाने' पढ़ गया। विदिशा से भोपाल आ गया हूं। तरसेम गुजराल की आत्मरचना और कृषक की कविता वाला पिछला अंक भिजवाइये। पढ़ना चाहता हूं। चिट्ठियों में काफी जिक्र किया है लोगों ने। **- विजय बहादुर सिंह, विदिशा**

- बाबा नागार्जुन के संक्षिप्त पत्रों व 'अपनी बात' में आपके सम्पादकीय में उठाए मुद्दों ने प्रभावित किया। भगतसिंह के रास्ते को आपने सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है, जिसे दूसरे वामपंथी मित्र अभी समुचित रूप से जनता के बीच ला नहीं पा रहे हैं।

  वेदप्रकाश बटुक का संस्मरण 'बड़ ढिल्लन' भी अच्छा लगा, लेकिन बटुक जी तो अच्छी तरह जानते हैं कि पंजाबी में 'ढिल्लों' शब्द का अंग्रेजीकृत रूप 'ढिल्लन' है वे क्यों 'ढिल्लन' के चक्कर में आ गए? किट्टू इधर 'दैनिक ट्रिब्यून' में भी छपते रहे हैं, लेकिन उनके निधन की खबर 'संदर्श' के माध्यम से ही मिली। चारों ओर जो संवेदनहीनता फैल रही है, उसी का परिणाम है यह कि हमारे लेखक अब अज्ञात होने लगे हैं।

  - डॉ. चमनलाल, पटियाला

- साहित्यिक-वैचारिक पत्रिका निकालना बहुत कठिन कार्य है। आप बहुत सराहना के पात्र हैं। पत्रिका में वैचारिक ऊर्जा है। आप बहुत अच्छा निकाल रहे हैं। बहुत अस्वस्थ हूं। **- शैलेश मटियानी, हल्द्वानी**

- 'संदर्श' का ताजा अंक देखकर सकून मिला। आपकी निरन्तरता मुझे हमेशा प्रेरित करती है। **- पलाश विश्वास, सोदपुर**

- कवि-आलोचक सुरेश सलिल की आत्मरचना 'होता था गांव' मन को छू गई। अगली किस्त का हमें बेसब्री से इन्तजार है। वैसे भी उनके कृतित्व का अब तक मूल्यांकन नहीं हो सका है और इधर खबर है कि बेहद बीमार हैं.... **- कु. मधु गुप्ता, हरदोई (उ० प्र०)**

- 'संदर्श' की पूरी सामग्री विचारोत्तेजक बहसतलब है। सुरेश सलिल की आत्मरचना, बड ढिल्लन के बहाने गदर पार्टी का इतिहास, किट्टू, दरोगा जी, तमाम पठनीय सामग्री है। बाबा के पत्र तो ऐतिहासिक हैं।

विष्णु जी अक्सर रामविलास जी को लेकर अति पर पहुंच जाते हैं। पता नहीं, व्यक्ति और विचार में संगति कैसे बैठे? सत्य कहीं-कहीं बाधित है इस प्रक्रिया में। है या नहीं? या सब गड्ड-मड्ड है।

- मूलचन्द गौतम, चन्दौसी

- आपने प्रारम्भ और अंत में बाबा के पत्रों को प्रकाशित कर अच्छा किया। यह बाबा की स्मृति का नायाब तरीका है। इसके अलावा सुरेश सलिल की आत्मरचना तथा गोपाल प्रधान, विष्णु चन्द्र शर्मा और रामनारायण स्वामी के आलेख अच्छे लगे। इस सबके बाबजूद आपने संपादकीय में साम्प्रदायिकता और गांधीवादी भंवर के प्रसंग में जो स्पष्ट विचार व्यक्त किए हैं, वे सचमुच विचार योग्य हैं। राजेश का नाटक 'गांधी ने कहा' यदि प्रकाशित नहीं हुआ है, तो उसमें परिवर्तन किया जाना आवश्यक है। **- रामनिहाल गुंजन, आरा**
- अंक काफी दमदार लगा। क्रान्तिकारियों की सच्ची भावनाओं को प्रदशित करती यह पत्रिका वास्तव में पाठक को सोचने को उत्प्रेरित करती है। सम्पादकीय में आपने जिस प्रकार साम्प्रदायिकता को स्पष्ट किया है, वह तथा कथित अगुआओं की पोल खोलता है। 'बड ढिल्लन' और 'दरोगा जी' अद्भुत लगे। **- सुभाष बंसल, दुगड्डा**
- अंक की गम्भीर प्रयोजनीयता ने प्रभावित किया। आत्मरचना के रूप में जो स्तम्भ चल रहा है- उसने खास तौर पर आकर्षित किया। इस दिशा में हिन्दी में अधिक काम नहीं हुआ है। भाई तरसेम गुजराल की आत्मरचना पढ़ी थी और अब सुरेश सलिल की। मुझे लग रहा है कि यह 'सारिका' मे कमलेश्वर द्वारा शुरु किए 'गर्दिश के दिन' वाले स्तम्भ का अगला चरण है। उक्त स्तम्भ का महत्व सीमित अर्थ में था, परन्तु आप इसे पूरी तरह विद्या-रूप में स्थापित हो सकने का अवसर दे रहें हैं।

- विनोद शाही, जालंधर शहर

- 'संदर्श' का यह अंक भी महत्वपूर्ण है। सुरेश सलिल की आत्मरचना मार्मिक है। किट्टू के संस्मरण विद्याभूषण जी ने उपलब्ध कराये...

- अरुण कमल, पटना

- पत्रिकाएं बहुत आती हैं। लेकिन प्रतिक्रिया में कुछ लिखने की आदत न के समान है। कभी लगता है, यह महज औपचारिकता है। कभी लगता है, नहीं, यह सम्वाद व विमर्श के लिए जरुरी है। यह भी न हो तो

सूचनाओं का आदान-प्रदान तो होता ही है। संदर्श- 10 मिला। 9 नहीं मिला। डाक में खो गया होगा। यह अंक अपने आप में भरपूर है। क्रांतिकारिता एवं स्वतंत्र विचार के प्रति आपका विशेष आग्रह रहता है। यह 'संदर्श' की विशिष्ट पहचान भी है। पत्रों का स्तम्भ देख कर हैरान हूं। जाने-माने लोगों की प्रतिक्रियाएं हैं। इससे साफ जाहिर है कि 'संदर्श' को कितनी गम्भीरता से लिया जाता है।

मेरा अपना अनुभव सुखकर नहीं है। सन 1994 से निरन्तर कम्पलीमेंटरी प्रतियां भेजे जाने के बाबजूद प्रतिक्रियाएं प्राप्त नहीं होती। रसीद तक नहीं। उनमें वे लोग भी हैं जिनके पत्र अन्य पत्रिकाओं में खूब छपते रहते हैं। इससे मैं यह अनुमान लगाता हूं कि 'शेष' में विशेष कुछ नहीं होता या उसकी भाषा ग्राह्य नहीं है या पाठकों के पास अध्ययन के लिए समय नहीं है। यह भी अनुभव किया कि कुछ लोग शुरु में खूब सम्पर्क रखने की कोशिश करते हैं। 'शेष' में उनकी रचनाएं, समीक्षाएं भी छपती हैं, फिर जाने क्या होता है कि वे खामोश हो जाते हैं जबकि अन्यत्र उनकी उपस्थिति बराबर देखी जाती है। ये स्थिति मेरे लिए बड़ी निराशाजनक है। फिर भी उन पाठकों का धन्यबाद जो भूले-भटके पत्र देते हैं। बिना स्वार्थ के किसी पत्रिका से जुड़े रहना अब शायद लोग निरर्थक मिलते नहीं। फिर भी 'शेष' निकाले जा रहा हूं। कभी-कभी अपने आपसे पूछता हूं कि क्या मुझे नाम की भूख है? क्या मैं इसके बहाने सम्पर्क सूत्र बढ़ाना चाहता हूं या साहित्यिक पत्रकारिता के इतिहास में अपना नाम लिखवाना चाहता हूं या कोई गैबी ताकत है जो मुझे इस काम में धकेल रही है? स्थिति यह है कि न मैं सच बोल सकता हूं, न झूठ।

- हसन जमाल, जोधपुर

आपका संपादकीय बहुत अच्छा है। इसलिए कि आप भारतीय वामपंथ की धर्मनिरपेक्षता सम्बंधी चिन्तन की दुर्बलता को स्पष्टता और निर्भीकता से चिन्हित कर सके। धर्मनिरपेक्षता की सही अवधारणा भारतीय वामपंथ कभी भी कहां विकसित कर पाया? आज भी हंसी आती है भारतीय कन्युनिस्ट पार्टी की धर्मनिरपेक्षता की उस भोली समझदारी पर जो आजादी की लड़ाई के दौरान-नौसैनिक विद्रोह के दौरान कांग्रेस और लीग के झण्डों को मिलाकर धर्मनिरपेक्षता को आकार देती थी। सुभाष बाबू कम्युनिस्ट नहीं थे परन्तु आजाद हिन्द फौज के गठन में उन्होंने किसी भी कम्युनिस्ट से ज्यादा सही धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा की थी। लेकिन सवाल तो यह है कि अगर वैसी 'महान' धर्मनिरपेक्षता की

समझदारी की परम्परा देश में नहीं रही होती तो आज साम्प्रदायिकता का कब्जा क्या संसद पर हो पाता? और वह भी एक ऐसे देश में जहां सारी ऐतिहासिक दुर्बलताओं और सीमाओं के बावजूद धर्मनिरपेक्ष क्रान्तिकारी आन्दोलन की एक सशक्त परम्परा रही हो।

– सुधांशु कुमार मालवीय, इलाहाबाद

- 'संदर्श' हर बार हिन्दी और रुहेलखंड की बयार लेकर आता है। बाबा के पत्रों ने बाबा की याद दिला दी, और इसी बीच शैलेश जी चले गये। इतनी बड़ी प्रतिभा का अत्यन्त दुखद अंत हुआ। अंतिम दस साल तो सतत त्रासदी की तरह सहे। **– शेखर पाठक, नैनीताल**

- पहली बार 'संदर्श' ने यथार्थ मिश्रित भाव गाम्भीर्य से परिचित कराया। पत्रिका का कलेवर बहुत ही अद्वितीय व सहज है। 'हंस' व 'संदर्श' जैसी साहित्यिक पत्रिकाएं साहित्य के वास्तविक दस्तावेज हैं। इस अंक में तरसेम गुजराल के प्रति अनन्य लगाव सम्बंधी पत्र एवं बाबा के पत्र अंतहीन भावात्मिका वृत्ति के सागर में तिरा ले गए.... बहुत दूर..... आगे। **– हेमचन्द्र दुबे, 'उत्तर' बागेश्वर - 263641**

- हमेशा की तरह विचारणीय सामग्री है। पहले तो सम्पादकीय ही काफी चर्चित रहेगा। मेरा विचार है कि गांधी की जरूरत आपको भले ही न हो, इस देश को बार-बार उनके पास जाना पड़ेगा। "हिन्दू महात्मा" कहना तो एक मजाक सा ही है। जितने मुसलमान गांधी जी ने राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन से जोड़े, उतने पूरे वामपंथ (भगतसिंह सहित) ने आज तक राष्ट्रीय सवालों से जोड़ने में सफलता नहीं पायी। गांधी जी के अपने अन्तर्विरोध है, लेकिन उनके सर्वधर्म सद्भाव के सूत्र के अलावा हमारे पास कोई और समाधान नहीं बचा है। खैर, गांधी जी को लेकर ये बातें कोई नयी नहीं हैं, बहुत बार दुहराई गई हैं और दुहराई जाती रहेंगी।

– डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ, अलीगढ़

- 'संदर्श' के इस अंक में सुरेश सलिल जी की आत्मरचना बहुत ही भावभीनी लगी। उनकी शैली में मिट्टी की गंध बोलती है। समूची रचना में एक रागात्मकता व्याप्त है जो हमें अपने साथ ले चलती है। गोपाल प्रधान जी के डायरी के पन्ने चीजों को नए ढंग से देखना सिखाते हैं। "शोले" फिल्म से लेकर रजनीश तक को देखने का उनका नजरिया कितना रचनात्मक है और बहुविध दृष्टि का परिचायक भी।... एक लेखक का सरोकार कहां नहीं होता, प्रधान जी हमें बताते हैं। राजाराम भादू की कविता हमारे समय की त्रासदी और विडम्बना को कलात्मक ढंग से सामने रखती है। हमारी संवेदना और चेतना पर कितना घातक प्रहार हो रहा है- चौतरफा। भादू जी हमें सोचने-विचारने को बाध्य करत हैं। नाटक 'आत्मवध से पहिले' में हरी चरन प्रकाश भी इस समय के बढ़ते प्रपंच और छिजती मनुष्यता की पड़ताल करते हैं। कुलीन वर्ग की कुलीनता पर चोट करने का उपक्रम वे करते हैं। और यह महत्वपूर्ण है। खासकर ऐसे वक्त में जब वर्ग संघर्ष की चेतना बढ़ रही है।

श्री प्रकाश मिश्र की कविता "सदी के अंत की चिन्ता" मुझे विशेष पसन्द आई। बढ़ते कलमब के बीच 'उजले पक्ष' का बिंबाकन निश्चित ही सकारात्मक तरीका है - जीवन को देखने का... इस दुनिया को देखने का ऐसी दृष्टि ही हमें और उठाती है और संघर्ष की जोत को बुझने से बचाती है। **– रजत कृष्ण, बागबारहा (महासमुन्द)**

- "संदर्श" के अंक- 10 का सम्पादकीय अभी-अभी पढ़ा। यह बहुत ही लाजवाब है। खासकर 'ऐसे लोग संस्कृति की शक्ति को नहीं पहचानते। यह देश गोडसे को कभी क्रान्तिकारी का दर्जा नहीं देगा।' मुझे बहुत अच्छा लगा। और साथ ही भगतसिंह के धर्मनिरपेक्ष धारा की जोरदार वकालत और गांधी जी के 'सर्वधर्मसमभाव' की सारहीनता और इन दो-धाराओं के बीच गहरी काली लकीर खींचकर आपने सचमुच बहुत ठीक काम किया है।

  सचमुच इस सम्पादकीय के लिए आज मेरा रोम-रोम पुलकित हो रहा है। इसी तरह की रचना आप सदा करते रहे। काश, आपकी तरह गैरसमझ तिवादी धारा को लेकर लिखने वालों का एक सुंदर दस्ता होता या हो सकता है हो भी। समय उन्हीं की तलाश कर रहा है।

– कमल किशोर, जमालपुर, मुंगेर

- सम्पादकीय में 'धर्मनिरपेक्षता' को 'सर्वधर्म समभाव' को ठीक अलगाया है। क्रान्तिकारी भगतसिंह का रास्ता सर्वधर्मसमभाव का नहीं, धर्मनिरपेक्षता का ही था। वो उन्हें अपने अन्य क्रान्तिकारी साथियों से अलग करता है। आपने ठीक ही लिखा है कि सन् 27 में क्रान्तिकारी खण्ड के क्रान्तिकारी फांसी पर चढ़ते समय अपने-अपने धर्म के अनुसार गीता और कुरान लेकर चढ़े थे। यह क्रान्तिकारी विचारधारा नहीं, बल्कि अपनी धार्मिकता ही थी।

  सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के नाम पर हिन्दु फासीवाद थोपने वाली ताकतों का मुकाबला सामाजिक सांस्कृतिक आन्दोलन के द्वारा किया जा सकता है,

जिसमें 'संदर्श' महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है या निभा रही है।

- डॉ. तेजसिंह, दिल्ली

- "संदर्श" की प्रति मिली...यह अवश्य है कि काफी प्रतीक्षा के उपरान्त.. पर जब मिली तो बड़ी आत्मीय लगी। पत्रिका अनजाने ही सम्पादक के व्यक्तित्व का साक्षात्कार करवा देती है। मेरा तो साहित्यकारों से परिचय पत्रिकाओं के माध्यम से ही होता है। आपको मैं व्यक्तिगत रूप से तो नहीं जानती (मेरी ही अज्ञानता के फलस्वरूप) पर कुछ लेखों में आपके प्रति उद्‌गार पढ़ कर कुछ अनुमान अवश्य लगा है- आपकी संघर्षरत ईमानदार जिंदगी का। पढ़ कर सकून मिला... लगा अभी भी ईमानदारी बाकी है।

'संदर्श' का हर एक लेख अपने में महत्वपूर्ण है पर आपका सम्पादकीय कई मुद्‌दों को उठाता है। आज कल एक सूत्र समाज व जीवन में चल रहा है-जो सही है उसके सामने बिलकुल गलत ही खड़ा है। अर्थात् यदि अ सही है तो ब गलत होगा और यदि ब सही है तो अ गलत होगा। परिणामतः कुछ लोगों के लिए गांधी सही हैं तो नाथूराम गोडसे गलत हैं और यदि गोडसे में कुछ सच्चाई है तो गांधी बिल्कुल गलत हैं। यह विचारधारा मिथकीय विचारधारा के समान धीमा जहर है जो धीमे-धीमे नसों में जा विष घोल देता है। भागवत, पुराणों ने असुरों को दुष्ट साबित करने की कोशिश की तो देवता अपनी अनेक कमियों के बावजूद अपने पद से विचलित नहीं हुए, और असुर अपनी कुछ अच्छाइयों के बावजूद बदनाम रहे। यही मिथकीय स्थिति गांधी और गोडसे के बीच चल रही है। क्या सही और क्या गलत है उसकी जानकारी उस परिस्थिति में डुबकी लगाने पर ही पता पड़ती है। परेशानी तो यह है कि जब कोई भी विचार किसी वाद के पंजे में पड़ जाता है तो अपने सही अर्थ को खो बैठता है। धीमे-धीमे रह जाता है वाद के पंजे में कराहता विचार कंकाल। इसीलिए क्या सही है और क्या गलत है उसकी पहचान बहुत जरुरी है... जो धीरे-धीरे लोगों के मस्तिष्क से उतर रहें हैं। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि जो सही हो, मात्र उसे महत्व दिया जाए उसके पीछे छिपे वाद पर नहीं? यह मैं इसलिए भी कह रही हूं कि मैंने भी कुछ अनुभव लिए हैं जिन्दगी में। छात्र जीवन में अपनी कट्‌टर साम्यवादी दोस्त के कर्म और वचन में एक अभिन्नता देखी थी... उसकी आशाओं में एक उज्जवलता थी... हालांकि उससे जबरदस्त दोस्ती होते हुए भी मैंने कभी उसके वाद में उपनयन संस्कार नहीं करवाया था... सिर्फ यही

सोचकर हर विचार की अच्छाई को अपनाओ... वाद में घेरे में फंस गए तो उड़ान सीमित हो जाएगी। लेकिन आज पच्चीस वर्षों बाद मेरे पास अपनी मित्र की आत्महत्या की खबर के साथ उसके विश्वास की चिन्दियां हैं। आत्महत्या केवल उसी ने नहीं उसके वाद' ने भी कर ली.. (जो मैं देख रही हूं) लेकिन यह नहीं कि जिस बुराई का वह विरोध कर रही थी, वह दब गई.. नहीं वह तो सिर उठाए खड़ी है.... वो भी शान से (यह बात वो वक्त ही बताएगा कि यह सिर कब तक उठा रह सकता है?)

हम हर चीज को घेरे में क्यों बांधना चाहते हैं? सागर क्या बांधा जा सकता है? धर्म का भी वह अर्थ नहीं कि जो इन दिनों माना जा रहा है। धार्मिक कट्‌टरता का विरोध नास्तिकता ही हो.... यह सही नहीं.. मानवीयता में आस्था भी सकारात्मक सोच हो सकती है। फिर नास्तिकता मे भी कोई बुराई नहीं जब तक वह सृष्टि के नियमों का उलंघन नहीं करती हो। गांधी जी ने जब सर्वधर्म समभाव की कल्पना की तो उसमें समानता का उद्‌देश्य निहित था। समानता तो कहीं भी किसी रूप में आ सकती है। अब मैं बहुत घरेलू उदाहरण दूं... बचपन में मैंने देखा था कि मां जब रोटी बनाती थी तो पहली रोटी गाय की, दूसरी जमादारनी की निकालने के बाद ही हम लोगों की थाली में रोटी डालती थीं.... फिर कटोरदान की आखिरी रोटी कौए के लिए होती थी.. जिसे हमें छूने को भी मनाही होती थी। उनकी इस आस्था में न कोई वाद था और न ही कोई कट्‌टरता... लेकिन मानवीय खुशबू जरूर थी। उसके लिए गाय धार्मिक आस्था रही होगी और जमादारनी सामाजिक आवश्यकता... यह कट्‌टरता इतनी थी कि यदि गाय नहीं मिलती और जमादारनी नहीं आती तो भी उनकी रोटियां अलग-अलग छींके में डाल दी जाती... जिससे उनका हिस्सा कोई दूसरा न हड़प ले। इस आस्था का दूसरा पहलू यह भी था कि मां ने जमादारनी और नौकरानी को बैंक में पैसा जमा करने के लिए प्रेरित किया, जिससे वह महाजनी औरतों के चंगुलों से बची रहें। उन्हें अपने जेवर बचाये रखने की सलाह दी। इसी तरह वे दीवाली पर पांच घी के दीए जलाती थीं तो हम लोगों से कहा जाता कि पहला दीया-पाखाने में रखो.. दूसरा पानले में.. तीसरा.. रसोई में.. और चौथा तुलसी के चौरे पर और पांचवा दीया पूजा घर में लौटता। राखी भाई दूज पर तिलक लगवाने से पहले ही वे थाली पर पांच तिलक लगवातीं. देवी देवताओं के लिए... पितरों के लिए... और बिन बहनों वाले भाईयों के लिए..। न जाने कितनी ऐसी बातें हैं जो आस्था और विश्वास को

मानवीयता को जोड़े रखती हैं। धार्मिक कट्टरता का जवाब नास्तिकता नहीं.. अपितु मानवीय भावना है... ऐसी मानवीयता जो मानव के हितकारी होते हुए भी अन्य जीवों के विरुद्ध न हों।

सुधीर जी मानवता बड़ा पेचीदा सवाल है.. इसे बड़े धीरे-धीरे समझना चाहिए.. जेहन में उतारना चाहिए... बहुत कुछ है कहने को पर अभी इतना ही काफी है। यदि आप इस विषय पर संवाद रखेंगे तो अच्छा लगेगा...

शुभकामनाओं सहित....

रति सक्सेना, तिरुवनंतपुरम

□□